संवत-प्रवर्त्तक
सम्राट
विक्रमादित्य
राजशेखर व्यास

संवत् प्रवर्त्तक सम्राट विक्रम ! जिन्होंने न केवल शक और हूणों को परास्त किया, अपितु पराभूत भारतीयों को बल, विक्रम, पराक्रम और शौर्य का मर्म समझाया।

विक्रम उज्जयिनी के साहित्य-संस्कृति प्रेमी शासक—संवत् प्रवर्त्तक।

विक्रम संवत् के दो हजार वर्ष पूर्ण पर आधुनिक उज्जयिनी के भास्कर, संपादक पद्मभूषण स्व० पं० सूर्य[illegible] व्यास, साहित्य-वाचस्पति डी० लि[illegible] 'विक्रम स्मृति ग्रंथ' प्रकाशित किया, [illegible] माध्यम से ही उज्जयिनी में विक्रम [illegible]विद्यालय और विक्रम कीर्ति मन्दिर की स्थापना संभव हो पायी।

संसार साहित्य में 'विक्रम' पर जो भी, जहाँ भी उपलब्ध था, पं० व्यास द्वारा संचयित और महान पिता के सुयोग्य सुपुत्र राजशेखर व्यास के उत्तम और सुपरिचित संपादन में यहाँ उपलब्ध है—विक्रम पर एक अद्वितीय ग्रंथ।

संवत्-प्रवर्तक

सम्राट् विक्रमादित्य

राजशेखर व्यास

पांडुलिपि प्रकाशन

77/1, ईस्ट आज़ाद नगर, दिल्ली-110051

फोन : 2218051, 2051631

मूल्य : 400.00 रुपये

प्रथम संस्करण : 1998

प्रकाशक : हरीराम द्विवेदी
पांडुलिपि प्रकाशन
77/1, ईस्ट आजाद नगर, दिल्ली-110051

मुद्रक : एस. एन. प्रिंटर्स,
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

अतीत के झरोखे से !

(उपोद्‌घात)

विक्रम संवत् के दो हजार वर्ष का समाप्त होना भारतीय इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी । धूमिल अतीत में विक्रम के स्मारक स्वरूप जिस विक्रम संवत् का प्रवर्तन हुआ था, उसके पथ की वर्तमान रेखा यद्यपि तमसाछन्न है परन्तु इस डोर के सहारे हम अपने आपको उस शृंखला के क्रम में पाते हैं, जिसके अनेक अंश अत्यन्त उज्ज्वल एवं गौरवमय रहे हैं । ये दो हजार वर्ष तो भारतीय इतिहास के उत्तरकाल के ही अंश हैं । विक्रम के उद्‌भव तक विशुद्ध वैदिक संस्कृति का काल, रामायण और महाभारत का युग, महावीर और गौतम बुद्ध का समय, पराक्रम सूर्य चन्द्रगुप्त मौर्य एवं प्रियदर्शी अशोक का काल, अंततः पुष्यमित्र शुंग की साहसगाथा सुदूरभूत की बातें बन चुकी थीं । वेद, ब्राह्मण, उपनिषद, सूत्र-ग्रन्थ एवं मुख्य स्मृतियों की रचना हो चुकी थी । वैयाकरण पाणिनि और पतंजलि अपनी कृतियों से पण्डितों को चकित कर चुके थे और कौटिल्य की ख्याति सफल राजनीतिज्ञता के कारण फैल चुकी थी । उन पिछले दो हजार वर्षों की लम्बी यात्रा में भी भारत के शौर्य ने उसकी प्रतिभा एवं विद्वत्ता ने जो मान स्थिर कर दिए हैं, वे विगत शताब्दियों के बहुत कुछ अनुरूप हैं । विक्रम संवत् के प्रथम हजारों वर्षों में हमने मात्र शिवनागों, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त, विक्रमादित्य, स्कन्दगुप्त, यशोधर्मन, विष्णुवर्धन आदि के बल और प्रताप के सम्मुख विदेशी शक्तियों को थर-थर कांपते हुए देखा, भारत के उपनिवेश बसते देखे, भारत की संस्कृति और उसके धर्म का प्रसार बाहर के देशों में देखा । कालिदास, भवभूति, भारवि, माघ आदि की काव्य-प्रतिभा तथा दण्डि और बाणभट्ट की विलक्षण लेखन-शक्ति देखी, कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य का बुद्धि-वैभव देखा और स्वतन्त्रता की अग्नि को सदैव प्रज्वलित रखने वाली राजपूत जाति के उत्थान व संगठन को देखा । हालांकि दूसरी सहस्राब्दी में भाग्य चक्र की गति विपरीत हो गयी, उसने उपनिवेशों का उजड़ना दिखाया और भारतीयों की हार तथा बहुमुखी पतन ।

परन्तु उनकी आन्तरिक जीवन-शक्ति का ह्रास नहीं हुआ, और यह दिखा दिया कि गिरकर भी कैसे उठा जा सकता है।

भारतीय सस्कृति के अभिमानियों के लिए यह कम गौरव की बात नहीं है—आज भारतवर्ष में प्रवर्तित विक्रम संवत्सर, बुद्ध-निर्वाण काल-गणना को छोड़कर संसार के प्राय: सभी प्रचलित ऐतिहासिक संवतों से अधिक प्राचीन है।

शुंगों के शिथिल होने पर विस्मय नहीं कि इतिहास के इस अन्धकार वृत्तकाल में काल के कथा जैसी कोई घटना घटित हो गयी हो और उसने मालव-मही की पावनता में 'शकों' की मलिन छाया का आवरण डाल दिया हो। धार्मिक विरोधों के दुष्परिणाम की परम्परा चिर-परिचित ही है। जैन-बौद्ध अवशेषों और जैन स्थल एवं मूर्तियों की असंख्यता इसी काल का परिणाम हो सकती है और उसके पश्चात शासनान्तर में भी अद्यावधि प्रचुर अस्तित्व पर धर्म सहिष्णुता की भावना की ही आभारी हो सकती है। इसी ऐतिहासिक तिमिरावरण काल को सहसा भेदकर भारतीय क्षितिज पर अपनी रश्मि-राशि को विस्तारित करने वाले पुण्य पराक्रम के प्रकाशपुंजशाली सुवर्ण सूर्य ने उदित होकर समस्त जन में विमल आलोक प्रसारित किया है। वही हमारी सुविकसित संस्कृति का सर्वोच्च शिखर, प्रकाशस्तम्भ विक्रमादित्य हैं। कृत और मालव-संवत् के प्रयोग-काल के देश में अनेक उत्थान-पतन हुए, शासनों में महान् परिवर्तन भी हुए, गुप्त साम्राज्य की नींव भी सुदृढ़ बनी, परन्तु काल-गणना की लोकप्रियता ने 'विक्रम संवत्' को छोड़ किसी अन्य को न केवल उस समय ही किन्तु दो हजार वर्ष बीत जाने पर भी वह सम्मान स्मृति स्थान अर्पित नहीं किया। चन्द्रगुप्त को उसके अस्तित्व काल में भी शताब्दियों तक 'मालव संवत्' काल-गणना को स्वीकृत करते रहना पड़ा, उसका नाम प्रत्यक्ष में भी जब संवत् से नहीं जुड़ा तो आज इतनी लोकप्रियता क्यों होने लगी कि उसी का नाम-संवत् स्वीकार करें? चन्द्रगुप्त ने कहीं भी अपना नाम केवल 'विक्रम' या 'विक्रमादित्य' नहीं अंकित करवाया है, वह चन्द्रगुप्त ही बना रहा है, चाहे इस नाम से 'विक्रम' जुड़ा हो, तब केवल विक्रम संवत् की संज्ञा से चिरकाल बोधित होने वाला संवत् चन्द्रगुप्त का क्यों माना जाये, जैसा कि भारतीय इतिहासकारों को भ्रम है—जिस विक्रम की रश्मि-राशि से समस्त भूमण्डल ज्योतिर्मय बन रहा था और आज भी जिसके स्मरण मात्र से प्रत्येक भारतीय के मस्तक गौरवोन्मत्त बन जाते हैं, वही हमारी वंदनीय विभूति है जिसकी राजधानी उज्जयिनी के वैभव का बाण, भास, कालिदास आदि सरस्वती के वरद अमर पुत्रों ने हृदयग्राही रम्य वर्णन किया है। जिसकी लोकप्रियता की गगनभेदी दुंदुभि की ध्वनि ने आज ढाई हजार वर्ष पूर्ण होने पर भी उस प्रतिध्वनि को अमन्द बनाये रखा है। जिसके बत्तीस पुत्तलियों वाले

सिंहासन की चारु-चर्चा ने समस्त देश की अनुश्रुतियों को सजग बनाये रखा है। जिसके नवरत्न मण्डल ने सम्पूर्ण विश्व के विद्वानों को निर्वचन विवश बना रखा है। जिसकी दिग्विजय कथा, पराभव, संवत् प्रवर्तन और भारतीय संस्कृति उन्नयन की लाखों-लाखों गुण गौरव-गाथा ने विद्वानों से लेकर अज्ञानियों तक, नागरिकों से लेकर ग्रामवासियों तक को अपने अस्तित्व में आश्वस्त बनाए रखा है। वह चाहे इतिहास के पण्डितों की पाश्चात्य प्रेरित मति में सहज प्रवेश न पा सके पर जन-गण के हृदयों में उनकी समस्त सद्भावना और श्रद्धा का आराध्य केन्द्र-बिन्दु बना हुआ सादर समासीन हैं।

'विक्रम', 'यह था' या 'वह' यह विवाद केवल अनुसन्धानप्रिय पण्डितों का समीक्षार्थ विषय है। आज सम्पूर्ण विश्व में जिस प्रकाशपुंज की विमल-धवल कीर्ति फैल रही है वह कहां से और कैसे उद्भव हो गई है, वह तो इतिहासकर्ताओं की अनुसंधानशाला तक मर्यादित है। उनसे उच्चकोटि के मानव समूह तो 'विक्रम' को अपने हृदय में संजोये बैठे हैं। दरअसल 'विक्रम' में हम अपने विशाल देश की परतन्त्र पाश-पीड़ा से मुक्ति दिलाने वाली समर्थ शक्ति की अभ्यर्थना करते हैं। जिसकी पावन स्मृति की धरोहर संवत् वर्षकाल गणना की स्मरण मणि की तरह इतिहास की शृंखलाएँ भी एक-दूसरे से जुड़ी चली जाती हैं।

विक्रम, कालिदास और उज्जयिनी हमारे स्वाभिमान, शौर्य और स्वर्णयुग के अभिमान का विषय हैं।

उसी उज्जयिनी में महर्षि सान्दीपनी वंश में उत्पन्न पद्म-भूषण, साहित्य-वाचस्पति स्व० पं० सूर्यनारायण व्यास ने विक्रम संवत् के दो हजार वर्ष पूर्ण होने पर एक मासिक पत्र 'विक्रम' का प्रकाशन आरम्भ किया। पं० व्यास का अपना निजी प्रेस था जहां से वे अपने पंचांग का प्रकाशन करते थे। 'विक्रम' ('वार्षिक विक्रम') का प्रकाशन एक विशेष उद्देश्य को लेकर किया गया था। विशेषकर उन दिनों जब चांद, हंस, वीणा, माधुरी, सुधा, सरस्वती, जैसी प्रतिष्ठित साहित्यिक पत्रिकाएं हिन्दी में सुस्थापित थीं। पं० व्यास का उज्जैन जैसे छोटे से कस्बे से 'विक्रम' का प्रकाशन दुःस्साहस ही कहा जायेगा, मगर 'विक्रम' तो मानो उनके बल, विक्रम, पुरुषार्थ का परिचायक ही बन गया था।

हजारों वर्षों से हमारे इतिहास को जो विकृत धूमिल किया जा रहा था, उससे पं० व्यास मानो लोहा लेने खड़े हुए थे; अर्से से हमें पढ़ाया जा रहा था, हम मुगलों के, मराठों के, अंग्रेजों के गुलाम रहे हैं। हम शोषित, पीड़ित और गुलामों को पं० व्यास ने एक प्रबल बल, विक्रम और पुरुषार्थ पराक्रमी नायक, चरित्र नायक संवत् प्रवर्तक सम्राट विक्रमादित्य दिया और बताया कि हम

आरम्भ से ही परास्त, पराजित, पराभूत और शोषित नहीं रहे हैं बल्कि शक और हूणों को परास्त करने वाला हमारा नायक शकारि विक्रमादित्य विजय और विक्रम का दूसरा प्रतीक है।

कालिदास समारोह के जन्म से भी पुरानी घटना है यह, जब उज्जयिनी में पं० व्यास ने विक्रम द्विसहस्राब्दि समारोह समिति का गठन कर सम्राट विक्रम की पावन स्मृति में चार महत् उद्देश्यों की स्थापना का संकल्प लिया, वे उद्देश्य थे विक्रम के नाम पर एक ऐसे विश्वविद्यालय की स्थापना जो साहित्य-शिक्षा-कला संस्कृति की त्रिवेणी हो।

विक्रम के नाम पर एक पुरातत्त्व संग्रहालय और शोध संस्थान, जिसे विक्रम कीर्ति मन्दिर नाम दिया जाय। विक्रम के नाम पर एक 'स्मृति-स्तम्भ' और एक ऐसे 'स्मृति-ग्रंथ' का प्रकाशन हो जो अनेक भाषाओं में प्रकाशित हो और अद्वितीय हो। अद्वितीय इन अर्थों में कि संसार भर में विक्रम, कालिदास और उज्जयिनी से सम्बन्धित जो भी साहित्य उपलब्ध हो, वह इनमें मौजूद हो।

स्वप्न देखना बड़ा आसान काम है और उसे साकार करना बड़ा मुश्किल। योजनाएं बना लेना बहुत आसान होता है मगर उसे मूर्त रूप देना बड़ा कठिन होता है। मगर पं० सूर्यनारायण व्यास एक बहुआयामी व्यक्तित्व थे, बहुमुखी प्रतिभा के धनी और बहु मेधा सम्पन्न ज्योतिष के क्षेत्र में वे संसार प्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रामाणिक विद्वान थे। और इन अर्थों में वे सारे देश में पूज्य और प्रणम्य थे। उनका सम्पर्क क्षेत्र बहु-विस्तृत था। भारत के 114 देशी नरेशों के वे राज्य ज्योतिषी थे, तो आजाद भारत में वे सारे प्रमुख नेताओं—विशेषकर राजेन्द्र प्रसाद, डॉ० राधाकृष्णन, पटेल, गांधीजी, सुभाष आदि के अन्तरंग मित्र स्नेही की तरह थे।

इसमें कोई शक नहीं कि विक्रम द्विसहस्राब्दी की उनकी इस योजना में उनके सबसे अंतरंग स्नेह सहयोगी, महाराजा जीवाजीराव सिंधिया का विशेष सहयोग रहा। 'विक्रम-पत्र' के माध्यम से जब यह योजना देश के सम्मुख पं० व्यास ने रखी थी; तब वे भी नहीं जानते थे कि उनकी इस योजना का इतना सम्यक्-स्वागत होगा। विशेषकर वीर सावरकर और के० एम० मुन्शी तथा सोफ़िया वाडिया ने उनके इस प्रस्ताव का स्वागत ही नहीं किया बल्कि अपने-अपने स्तर पर उसका भरपूर प्रचार भी किया, के० एम० मुन्शीजी ने अपने पत्र 'सोशल वेलफेयर' में इस योजना का प्रारूप सम्पूर्ण विवरण के साथ विस्तार से प्रकाशित किया और सारे देश से इस पुण्य कार्य में पूर्ण सहयोग देने की प्रर्थना की।

महाराजा देवास ने इस आयोजन के लिए सारा धन देना स्वीकार किया मगर शर्त यह रखी गयी कि सारे सूत्र उनके हाथों में रखे जाएं। मगर विधि

को कुछ और ही मन्जूर था, पं० व्यास अपने व्यक्तिगत कार्यवश बम्बई गये और वहां मुन्शीजी से मिलकर योजना पर विस्तार से चर्चा की, तभी महाराजा सिंधिया का उन्हें निमन्त्रण मिला। महाराजा जीवाजीराव सिंधिया ने पण्डित व्यास को बताया कि वे इस योजना को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानते हैं और इस कार्य को एक समिति बनाकर आगे बढ़ाना चाहिए, यह चर्चा कुछ ही क्षणों में हो गयी। जब पं० व्यास महाराज से मिलकर कक्ष से बाहर ही निकले थे कि महाराज ने पुनः आवाज दी और विस्तार से चर्चा का पुनः आमन्त्रण दिया। अगली मुलाकात दो-चार मिनट भी नहीं, लगभग ढाई घंटे की हुई और इस चर्चा ने तो सारी रूपरेखा ही बदल दी, जो कल्पना की गयी थी उससे व्यापक रूप से समारोह करने की बात तय हुई और इस तरह पं० व्यास सप्ताह भर ग्वालियर रुके और रोजाना घंटों-घंटों विचार विनिमय हुआ। महाराजा से पं० व्यास का अन्तरंग आत्मीय संबंध यूं तो सन् 1934 से था। मगर उस संबंध में ज्योतिष ही प्रमुख कड़ी था। यह पहला अवसर था जब उन्होंने एक विशिष्ट विषय पर उनसे चर्चा की थी।

पं० व्यास को इस भेंट और सहयोग से पर्याप्त बल मिला। महाराजा द्वारा प्रदत्त एक लाख रुपयों से योजना का उत्साहप्रद आरम्भ हुआ। एक व्यवस्थित समिति बनायी गयी। कुछ ही समय में इस कार्य के लिए पांच लाख रुपये की धन-राशि इकट्ठी हो गयी। इस राशि में ग्वालियर संभाग का उतना योगदान नहीं था जितना मालवा का, सर सेठ हुकुमचन्दौर ने पं० व्यास के व्यक्तिगत अनुरोध पर इक्यावन हजार रुपयों की राशि का अवदान इस पावन कार्य हेतु दिया। सेठ बिड़लाजी ने महाराज सिंधिया के समक्ष अपने हस्ताक्षर कर खाली चेक ही प्रदान कर दिया। महाराज जो उचित समझें, रकम भर लें महाराजा ने उस समय इकतालीस हजार (41,000) रुपये ही उनसे लिये। इस तरह सहज ही धन संग्रह हो गया।

विक्रम उत्सव के लिए पं० व्यास की योजना के चारों सूत्र महाराज ने स्वीकार कर लिये थे, इसीलिए बिड़लाजी से केवल इकतालीस हजार लेकर बड़ी रकम विश्वविद्यालय के निर्माणार्थ लेने के लिए सुरक्षित रखी थी। बाद में बिड़लाजी ने दस लाख की रकम विश्वविद्यालय के निर्माणार्थ दी भी। उसे गुप्त रहने दिया गया तथा उस रकम को महाराजा ने ग्वालियर के मेडिकल कॉलेज में लगा दिया, जिसका उद्‌घाटन सरदार पटेल के हाथों हुआ था।

महाराजा का विचार, विक्रम उत्सव के लिए पचास लाख की धन राशि एकत्रित कर अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य आरम्भ करना था, विश्वविद्यालय के लिए धनराशि शासन की ओर से दी जानी थी। इसके सिवा उज्जैन के प्रमुख धार्मिक स्थान और ऐतिहासिक स्थानों के सुधार के लिए शासन के अनेक

विभागों द्वारा सहयोग देने का निश्चय किया गया। तदनुसार महाकाल मन्दिर, हरसिद्धि मन्दिर और क्षिप्रातट पर सुधार कार्य आरम्भ हो गये थे। जहां-जहां ये सुधार कार्य हुए वहां पं० व्यास ने, जो स्वयं संस्कृत के सुकवि थे, यह श्लोक अंकित करवा दिया था—

'द्वि सहस्रमिते वर्षे चैत्रे विक्रम संवत्सरे, महोत्सव सभा सम्यक: जीर्णोद्धारमकारयत्।'

जैसे-जैसे समारोह का कार्य प्रगति कर रहा था, देश के विभिन्न भागों में एक सांस्कृतिक वातावरण बन गया था। लगभग उसी समय पत्र-पत्रिकाओं में रवीन्द्रबाबू, निराला ने भी 'विक्रम' पर कविताओं का सृजन किया था—रवीन्द्रबाबू की दूर बहुत दूर क्षिप्रातटे·········और निराला की 'द्विसहस्राब्दि' कविता पठनीय ही नहीं—संग्रहणीय भी है। हिन्दू महासभा के तत्कालीन अध्यक्ष के समर्थन और सहयोग से सारे देश में चेतना फैली थी। इसी दरम्यान 'मियाँ जिन्ना' ने अपने एक भाषण में इस उत्सव का विरोध किया। जिन्ना के विरोध से सरकार के भी कान खड़े हो गये, चूंकि वह समय भी ऐसा था, विश्व-युद्ध के आसार सामने थे, ब्रिटिश सरकार चौकन्नी हो गयी। उन्हें पं० व्यास के इस आयोजन में क्रान्ति या विद्रोह की बू दिखी क्योंकि एक साथ 114 देशी महाराजा एक जगह विक्रम उत्सव के नाम पर इकट्ठा हो रहे थे, निस्संदेह इस पर्वरंग में पं० व्यास की यह परिकल्पना भी थी। शौर्य और विक्रम उत्सव के इस उत्सव के अवसर पर हमारे खोये बल, पराक्रम की चर्चा देशी राजाओं के रक्त में उबाल अवश्य ले आयेगी। वैसे इस आयोजन में हिन्दू-मुस्लिम भेद-भाव को कोई जगह नहीं थी किन्तु जिन्ना के विरोध से वातावरण में विकार पैदा हो गया। उस समय पं० व्यास ने नवाब भोपाल को शासकीय स्तर पर समारोह मनाने के लिए लिखा। नवाब साहब ने अपने केबिनेट में योग्य विचार करने का आश्वासन दिया। चेतना फैल रही थी, जागृति फैल रही थी। बम्बई में बड़े पैमाने पर यह समारोह आयोजित किया गया। देश की हजारों सभा-संस्थाओं ने समारोह की तैयारी की।

लगभग उसी समय प्रख्यात फिल्म निर्माता-निर्देशक विजय भट्ट ने पं० व्यास के आग्रह पर 'विक्रमादित्य' सिनेमा का निर्माण आरम्भ किया। जिसके संवाद, पटकथा और गीत-लेखन का कार्य भी उन्होंने व्यासजी के परामर्श से किया। इस फिल्म में 'विक्रमादित्य' की मुख्य भूमिका भारतीय सिनेमा जगत के महानायक पृथ्वीराज कपूर ने निभायी थी। पृथ्वीराजजी उस समय पं० व्यास के आवास 'भारती-भवन' में ही ठहरे थे। तब से जो आत्मीयता उन दोनों के मध्य स्थापित हुई थी, वह अन्त तक बनी रही। बाद के दिनों में पृथ्वीराजजीने 'कालिदास समारोह' में अपनी नाटक-मण्डली को लाकर स्वयं

नाटक भी किये और अपने नाटकों से होने वाली सारी आय कालिदास समारोह के लिए प्रदान कर दी।

उज्जयिनी के विक्रम समारोह के अवसर पर पं० व्यास ने देश के प्रमुख विद्वानों को और सभी भाषाओं के निष्णात विद्वानों को 'नवरत्न' घोषित कर सम्मानित भी करने का विचार रखा। समारोह के लिए उज्जयिनी में उस समय कई सुधार किये गये, महाकालेश्वर से हरसिद्धी तक सीधी सड़क भी बनवायी गयी।

विक्रम कीर्ति मन्दिर का निर्माण कर उसमें पुरातत्त्व, संग्रहालय, चित्रकला-कक्ष, प्राचीन ग्रन्थ संग्रहालय, आदि रखने का निश्चय किया गया। कुछ समय बाद ही रियासतों का विलीनीकरण हुआ, मध्य-भारत का निर्माण हुआ और क्षेत्रीय राजनीति ने प्रवेश लिया, फलतः विक्रम कीर्ति मन्दिर और विक्रम वि० वि० के निर्माण को लेकर अनेक उलझन, प्रपंच और अड़ंगे लगाये गये। चूंकि उस वक्त इन्दौर और भोपाल तक में विश्वविद्यालय नहीं थे, अतः वहां के अखबारों और स्वार्थी राजनेताओं ने पं० व्यास के इस महान कार्य में असंख्य बाधाएं उपस्थित कीं।

विक्रम कीर्ति मन्दिर का तो मुश्किल से 1951 में शिलान्यास हुआ। पहले इसका शिलान्यास महाकाल मन्दिर के निकट किया गया था। भारत के महा-महिम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद द्वारा शिलान्यास के बावजूद कहने को राष्ट्रीय संगठन और देशभक्त तथा हिन्दू संगठन राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ ने ही इस स्थान को लेकर अनेक प्रपंच और विवाद उत्पन्न किए। शिलान्यास की शिला ही तोड़ दी गयी।

इस स्थान को लेकर अनेक आन्दोलन और मुकदमे खड़े किए गए। पं० व्यासजी पर व्यक्तिगत छींटाकशी तक की गई और अर्से तक उसे वहां बनने नहीं दिया गया। म० प्र० के निर्माण के बाद ही कीर्ति मन्दिर बन सका फिर भी बाद में आर्थिक संकटों के कारण वह अपूर्ण ही रहा, उसमें रखा जाने वाला प्राचीन ग्रन्थ संग्रहालय भी बिना किसी सूचना के शिक्षा विभाग ने यूनिवर्सिटी को दे दिया और कीर्ति मन्दिर आज भी अधूरा ही रहा है।

विश्वविद्यालय के लिए पं० व्यास के व्यक्तिगत प्रयास पर महाराज जीवा-जीराव सिन्धिया ने पचास लाख रुपये प्रदान किए थे। बाद में लोक प्रतिनिधि शासन बन जाने पर एक करोड़ की रकम जमा हो गई थी। इसी बीच मध्य-भारत बना और उसमें इन्दौर के मिलते ही वि० वि० स्थापना को लेकर इन्दौर के एक शिक्षा मन्त्री एक अखबार और कुछ निहित स्वार्थी तत्त्वों ने और उज्जयिनी के अवसरवादी चापलूसों ने फिर बाधा उपस्थित कर दी। इन्दौर की सारी लड़ाई आरम्भ से ही उज्जैन के विकास को अवरुद्ध करने की है। सुविधा

के सारे द्वीप पैसों के बल पर और चापलूसी पत्रकारिता के बल पर प्राय: इन्दौर को मिलते रहे हैं। आकाशवाणी भी इन्दौर से पहले उज्जैन के लिए ही तय किया गया था। अत: कागजात गायब करवा दिए। एक करोड़ की रकम खजाने से गायब करवा दी गई, जब कि वह 'इयर मार्क्ड' थी। उसका आज तक पता नहीं चला। जब पुन: सतत् संघर्ष किया गया और पं० व्यास के अनुरोध पर पं० नेहरू ने सार्वजनिक रूप से उज्जैन में विश्वविद्यालय की स्थापना के प्रस्ताव का अनुमोदन किया, तब विवशतापूर्वक म० प्र० शासन चेता और महाराज ग्वालियर ने गंगाजली फंड से 50 लाख रुपये पुन: प्रदान किए। तब विक्रम विश्वविद्यालय जन्म ले पाया।

ऊपर मैंने स्पष्ट किया है कि किस तरह विक्रम उत्सव को लेकर उसके भव्य आयोजन और विशालता को देखकर भी सरकार के कान खड़े हो गए थे। युद्ध के लिए देश भर में धन-संग्रह हो रहा था। ऐसी हालत में विक्रम उत्सव के चन्दे की ओर भी ध्यान जाना स्वाभाविक था। महाराजा ग्वालियर उन दिनों दिल्ली में ही थे। लार्ड वेवल ने उन्हें इसका संकेत दिया, तब महाराजा विवश होकर पं० व्यास और तत्कालीन उज्जैन कलेक्टर बैरिस्टर चतुर्वेदी को सारी स्थिति समझायी, समारोह की प्रगति और प्रयास में सहसा गतिरोध आ गया। अन्तत: यह तय किया गया कि विक्रम कीर्ति मन्दिर का निर्माण किया जाय, स्मृति ग्रन्थ प्रकाशित हो और विश्वविद्यालय निर्माण कार्य शासन के अन्तर्गत रहे। किन्तु कीर्ति-स्तंभ का कार्य रोक दिया जाय। इस तरह उज्जयिनी में विक्रम उत्सव के बहाने जो सुधार कार्य हो रहे थे, अभी प्रगति में भी रुकावट आ गयी। महाकालेश्वर मन्दिर के जीर्णोद्धार का कार्य भी बीच में ही रोक दिया गया। इस तरह विक्रम द्विसहस्राब्दि के कार्य में सहसा अवरोध आ गया।

उज्जयिनी में प्रतिवर्ष 12 वर्षों में सिंहस्थ पर्व मनाया जाता है। 1945 में जब सिंहस्थ पर्व आया तब देश भर के असंख्य आचार्य, संत, साधु, पंत-महन्त उज्जयिनी आए, तब पं० व्यास ने अपने व्यक्तिगत संपर्कों से प्रयास कर उन्हीं के नेतृत्व में विक्रम महोत्सव तीन रोज तक मनाया। साधु, संतों के 121 हाथियों, लाजमों, लवाजमों के साथ लाखों लोगों की उपस्थिति में 3 दिनों तक यह भव्य आयोजन महत् पैमाने पर मनाया गया। देश भर में विक्रमादित्य का बहुत-सा साहित्य विविध भाषाओं में प्रकाशित हुआ। देश भर में सांस्कृतिक लहर आ गई। विक्रम द्विसहस्राब्दि समारोह समिति ने भी 'विक्रम स्मृति ग्रंथ' का प्रकाशन किया जैसा कि प्राय: महाभारत के बारे में कहा जाता है कि जो महाभारत में है, वहीं भारत में है और महाभारत में नहीं है, वह कहीं भी नहीं है।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का यह सर्वोत्तम ग्रन्थ नि:सन्देह दुनिया का सबसे बड़ा ग्रन्थ है। ठीक उसी तरह विक्रम, कालिदास और उज्जयिनी पर संसार भर में उप-

लब्ध श्रेष्ठतम साहित्य इस 'महाकाव्य' ग्रन्थ में संग्रहीत कर दी गई है। निःसन्देह इसके पीछे पं० व्यास की अविराम, सारस्वत साधना, त्याग, तपस्या है; जिन्होंने अपने जीवन की सांस-सांस अपने इस महन् उद्देश्य को समर्पित कर दी थी। संसार के सर्वश्रेष्ठ चित्रकारों ने इस ग्रन्थ की सज्जा के लिए अपने सर्वोत्तम चित्र भेजे थे। फ्रांस के चित्रकार निकोलस डी० शेरिफ से लेकर रविशंकर रावल तक के सभी समकालीन चित्रकार की तूलिका से सुसज्जित यह ग्रन्थ सचमुच आज भी अद्वितीय है।

असाधारण और लगभग 2000 पृष्ठों का यह ग्रन्थ अब इतिहास की धरोहर है। पं० व्यास के कुशल सम्पादन में संयोजित यह ग्रन्थ अब संदर्भकोश और इतिहास का अध्याय हो गया है। गतिरोध आ जाने से विक्रम कीर्ति मन्दिर का काम अवश्य कुछ समय के लिए रुक गया था किन्तु पं० व्यास अपने लक्ष्य के प्रति दृढ़ और कृतसंकल्पित थे।

सरदार पटेल जब मध्यभारत के दौरे पर आए, पं० व्यास ने उनसे व्यक्तिगत रूप से अनुरोध कर इसके लिए आग्रह किया, किन्तु अर्थाभाव के कारण यह आयोजन संभव नहीं हो पाया, तब व्यास जी ने अपने निजी सम्पर्कों से धन संग्रह कर अपने अंतरंग मित्र और तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद से व्यक्तिगत रूप से निवेदन किया और जैसी कि उम्मीद थी, राष्ट्रपति ने सहज भाव से आमन्त्रण स्वीकार कर लिया। अंततः मई 1952 को राष्ट्रपतिजी उज्जयिनी आये और कीर्ति मन्दिर का समारोहपूर्वक शिलान्यास किया गया। किन्तु इस शिलान्यास के बाद भी विघ्न-संतोषी तत्त्व और उज्जयिनी की साहित्यिक, सांस्कृतिक गरिमा, उन्नति से ईर्ष्या रखने वालों ने असंख्य कुचक्र चलाये। उस समय के अखबार इस बात के सशक्त दस्तावेज हैं कि किस तरह इस निर्माण कार्य को रोकने के लिए षड्यन्त्र रचे गए। पं० व्यास के निजी और पारिवारिक जीवन तक पर कीचड़ उछाले गए, उनके खिलाफ सार्वजनिक विष वमन किया गया। खासकर एक ऐसे काम के लिए जिसका उसके बच्चों के भरण-पोषण से कोई नाता नहीं था। एक ऐसे आदमी पर कीचड़ उछाला गया जिसने उज्जयिनी, विक्रम और कालिदास के नाम पर अपने परिवार को बलि चढ़ा दिया था। किन्तु अंततः ये बाधाएं भी अनेक अन्य बाधाओं की तरह नष्ट हो गई और आखिरकार उज्जयिनी में विक्रम वि० वि० कीर्ति मन्दिर और सिंधिया प्राच्य विद्याशोध प्रतिष्ठान का जन्म हुआ। आज भी जीवन्त ये स्मारक पं० व्यास के सपनों का साकार ज्योतिर्बिम्ब हैं।

क्या किसी नगर के इतिहास में यह कम महत्त्वपूर्ण घटना है कि पद और अधिकार से वंचित एक व्यक्ति ने एक पूरे शहर को एक युग से दूसरे युग में रख

दिया। व्यासजी ने विक्रम, कालिदास या उज्जयिनी के नाम पर मन्दिर-मठ नहीं बनवाए, अपितु शिक्षा अनुसंधान और कला संस्कृति के शोध संस्थान और विश्वविद्यालय का निर्माण करवाया।

डॉ० प्रभाकर श्रोत्रिय के शब्दों में—'उनकी कर्मठ उपलब्धि के उदाहरण स्वरूप उज्जयिनी को ही लिया जा सकता है। आज इस नगरी का जो रूप और ठन-गन है, उसके मूल में पं० व्यास ही हैं। अगर व्यासजी नहीं होते तो मुझे शक है कि उज्जैन में विक्रम वि० वि०, कीर्ति मन्दिर, प्राच्य विद्या शोध प्रतिष्ठान होते। यहां अखिल भारतीय स्तर पर कालिदास समारोह भी शायद ही मनता। तब उज्जैन कदाचित् मेले-ठेले की धार्मिक और दकियानूसी नगरी रह जाती। यहां पंडे, पुरोहित और पंचक्रोशी के यात्री तो नजर आते लेकिन भगवतशरण उपाध्यय, सुनीति कुमार चटर्जी, महादेवी वर्मा, प्रो० बाशम, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिगियोकिमुरो, कामिल बुल्के, नन्द दुलारे वाजपेयी, डॉ० सम्पूर्णानन्द, डॉ० राजेन्द्रप्रसाद, पंतजलि शास्त्री, डॉ० राघवन, ओंकारनाथ ठाकुर, जवाहरलाल नेहरू, पृथ्वीराज कपूर, लोहिया और डॉ० सुमन जैसे प्रकृति विद्वान, राजनेता, साहित्यकार शायद ही बौद्धिक रूप में इस नगरी को अपना स्पर्श दे पाते।

धार्मिक दकियानूसी और वायवीय जीवन प्रणाली को उन्होंने अतीत के उज्ज्वल इतिहास के सहारे जो बौद्धिक और सांस्कृतिक मोड़ दिया है, वह उनके पाण्डित्य और शोध की रचनात्मक दृष्टि है। कालिदास और विक्रम के जरिये उन्होंने भारतीय साहित्य और संस्कृति को समुद्र पार उतारा है। उनके इसी रूप ने उन्हें पुस्तकों, कोटों, विश्वविद्यालय के परकोटों से बाहर ला खड़ा किया है!

हालांकि उनकी यह प्रक्रिया समाज को भरने के प्रयास में खुद को खाली करने की रही। आज जब भारत को आजाद हुए 42 वर्ष से भी ऊपर होने जा रहे हैं, आज भी हम अपने सांस्कृतिक-साहित्यिक मूल्यों और अवदानों से कितने अपरिचित हैं। तरस आता है हमारे राष्ट्र के कर्णधारों पर जो राष्ट्र को 21वीं शताब्दी में ले जाने की बात करते हैं। वे ईसा सन्-संवत् से सोचते हैं, संभवतः इन शक और हूण वंशजों को यह ज्ञात भी नहीं होगा कि हम 21वीं शताब्दी में पहले से ही मौजूद हैं। हमारे अपने 'विक्रम संवत्' ने जो आज भी भारतीय जन-मानस में पूज्य और मान्य हैं।

'पंजाब केसरी' एकमात्र ऐसा इस देश में राष्ट्रीय समाचार पत्र है जो अपने मुख पृष्ठ पर विक्रम संवत् को प्रमुखता, प्रधानता देता आया है। मेरे व्यक्तिगत अनुरोध को स्वीकार कर अब श्री राजेन्द्र माथुर सं० न० भा० टा० ने भी अपने अखबार के मुख पृष्ठ पर विक्रम संवत् देना आरम्भ कर दिया है।

मगर अभी भी कानों में कोई पिघला हुआ सीसा डालता है, जब हम प्रातः आकाशवाणी से रेडियो के कान उमेठते ही सुनते हैं, आज़ दिनांक.........है तद्नुसार शक संवत् ....कभी-कभी राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की वह कविता याद आती है, जो उन्होंने द्विसहस्राब्दि के अवसर पर विशेष रूप से लिख भेजी थी—

दो सहस्र संवत् बीते हैं
हम निज विक्रम बिना आज फिर मरे-मरे से जीते हैं।
नित्य नये शक-हूण हमारा जीवन-रस पीते हैं,
होकर भी क्या हुए आज हम उनके मनचीते हैं।
आपस के सम्बन्ध हमारे कड़ुए हैं—तीते हैं,
भरे-भरे हैं हाय हृदय किन्तु हाथ हमारे रीते हैं।

इस आयोजन के पीछे जो भी लक्ष्य रहा हो, हमारे उज्ज्वल सांस्कृतिक अतीत, शौर्य और पराक्रम को, उसके गौरव को पुनर्प्रतिष्ठित करना इसका मुख्य लक्ष्य था। भारतीय स्वाधीनता संग्राम के दिनों में ऐसे आयोजनों के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना जगाने का यह एक सफल और सार्थक प्रयास था। निःसन्देह जो काम लोकमान्य तिलक ने गणेश उत्सव के माध्यम से पुणे में किया वही काम पं० व्यास ने मालवा में 'विक्रमोत्सव' के माध्यम से किया।

संवत् प्रवर्तक सम्राट विक्रम पावन पूज्य स्मृति में ऐतिहासिक गवेषणा पूर्ण और भारतीय सांस्कृतिक कार्य का सिंहावलोकन करने के लिए, आज खेद का विषय है कि हिन्दी में कोई ऐसा प्रामाणिक ग्रन्थ फिर से मौजूद नहीं है।

निवेदित ग्रन्थ में संसार भर के उत्कृष्ट लेखकों, विचारकों और उद्भट विद्वानों के शोधपूर्ण-गवेषणाओं और रोचक रम्य लेखों का एक जगह संग्रह कर इस रिक्ति को पाटने का प्रयास किया गया है। निवेदित ग्रन्थ में लेखकों के लेखों के सन्दर्भ में कोई भी टिप्पणी लिखना धृष्टता ही होगी। यह अवश्य है कि लेखों में व्यक्त किये विचार उनके लेखकों के हैं। वे अपने विषय के मान्य विद्वानों के लेख हैं। ये विद्वान विदेशों के भी हैं और भारत के तो प्रायः सभी प्रान्त और विश्वविद्यालयों के हैं। विक्रम सहस्राब्दि-समारोह समिति को भेजे गए इन लेखों के लिए मैं विद्वान लेखकों और उनके पुनः प्रकाशन की स्वीकृति अनुमति के लिए उनके परिजनों, समिति और शोध संस्थाओं का आभारी हूं। मैं आभारी हूं मेरी बहन स्नेहमयी वीना, अलका, दिव्या और मेरी सहयोगी चि० जयंनी का जिन्होंने लेखों के चयन, संयोजन, संपादन में मुझे निःस्वार्थ स्नेह-सहयोग दिया।

निवेदित ग्रंथ में, उसके संपादन में हुई त्रुटियों के लिए क्षमा मांगते हुए मुझे

संस्कृत साहित्य की एक कहावत स्मरण आती है :—'सूर्पवदोष्यं मृत्यसज्य गुणम् गृह्णन्ति साधव: ।' आशा है उदार हृदय पाठक विद्वान पढ़ते समय इस बात को ध्यान में रखेंगे। मैं यह भी निवेदन करना चाहता हूं कि यदि इस ग्रन्थ से विक्रमादित्य की ऐतिहासिक, भारतीय संस्कृति की महानता, पं० व्यास और उनके परिवार द्वारा किए गए अवदानों पर अंश-भर भी प्रकाश पड़ सका तो मैं अपने परिश्रम को सार्थक मानूंगा।

पांडुलिपि प्रकाशन के श्री हरिरामजी द्विवेदी के प्रति कृतज्ञता नहीं ज्ञापित की गई, मेरे गुरुवर्य आचार्य पं० दिनेशचंद्र के चरणों में अगर नमन नहीं ज्ञापित किया गया तो यह धृष्टता ही होगी।

भारती-भवन उज्जयिनी,
विक्रम संवत् 2045 (गुड़ी पड़वा)

साधुवाद सहित—
—राज शेखर व्यास

अनुक्रमणिका

संवत्-प्रवर्तक सम्राट विक्रमादित्य

☐ डॉक्टर सूर्यनारायण व्यास

पर-प्रेरित-मति पंडितों ने विक्रम-संवत् के प्रतिष्ठाता के व्यक्तित्व को उसी प्रकार उलझन में डाल रखा है जिस प्रकार विश्वकवि कालिदास के काल को समस्या बना रखा है। वास्तव में विक्रम-संवत् भारतवर्ष की एक सजीव-संस्था है, सारे देश में वह जीवित-प्रचलित है। सर्वत्र उसी से गणना की जाती है, 1968 वर्ष पूर्ण कर लेने पर भी ईसवी सन्, विक्रम-संवत् के अस्तित्व और मयूख को विनष्ट न कर सका, सतत दो हजार वर्ष से अधिक समय की यात्रा करता हुआ वह कालजयी बना हुआ है। भगवद्गीता और मेघदूत की तरह भारत में ही नहीं, विश्व में अपना स्थान अक्षुण्ण बनाए हुए है।

इतिहास-काल में हमारे देश में एक से अधिक नरेशों ने उन्हीं कारणों से प्रेरित, प्रभावित होकर विक्रम अथवा विक्रमादित्य-विरुद् को धारण किया—जिन कारणों से संवत्सर-प्रणेता शकारि विक्रमादित्य ने 'विक्रम' नाम के साथ अपने संवत् की प्रतिष्ठा की थी। वे कारण थे—शकों का पराभव, विदेशियों का निवारण, भारतीय संस्कृति का उद्धार एवं संरक्षण आदि। वस्तुतः शकों की वह पराजय भविष्य के लिए भारतीय स्वतंत्रता की प्रतीक ही बन गई। जब हम विक्रम-संवत् अथवा विक्रम-पदधारी किसी व्यक्ति का संस्मरण करते हैं तो हम ऐसे ही इतिवृत्त का स्मरण करते हैं जिसने भारतवर्ष की पद-दलित राष्ट्रीय-स्वतन्त्रता का पुनरुद्धार किया था, आश्चर्य की बात है कि जिस पुनीत कार्य की पूर्ति को दो हजार वर्ष से अधिक समय हो चुका है, उसके व्यक्तित्व के निर्णय करने में इतिहास-वेत्ता विफल हो रहे हैं।

शकारि-विक्रम के पश्चात् शकाब्द के प्रतिष्ठाता—गौतमी-पुत्र शातकर्णि, गुप्त-नरेश चंद्रगुप्त द्वितीय एवं स्कंदगुप्त आदि ने भी शकों-हूणों को परास्त कर अपने-अपने समय में 'विक्रम' विरुद धारण कर अपने को गौरवान्वित अनुभव किया था, यह उनकी मुद्राओं से स्पष्ट है। किन्तु इन विजेता-सम्राटों में से किसी ने भी 'शकारि' पद अपनाया नहीं था। अवश्य ही गौतमी-पुत्र शातकर्णि ने शालिवाहन के संवत् 'शाके शालिवाहन'—संज्ञा शकों के अस्तित्व को उसके

नाम के साथ जुड़ाती है। शालिवाहन ने अपनी उपाधि को विक्रमोपाधि से विभिन्न प्रकट करने के लिए 'विषमशील-विक्रम' के रूप में ग्रहण किया था। शालिवाहन समय को भी 'शक-शालिवाहन' कहा जाता है, केवल संवत् नहीं। जबकि विक्रम-संवत् केवल 'संवत्' शब्द से ही सुपरिचित है। यह भी ध्यान रखने की बात है कि शालिवाहन के समय में 'शक' इसलिए रखा गया कि वह काल 'शक-काल' है। अन्य संवत् से उसकी विभिन्नता प्रतीत हो। 'संवत्' की एकता का संदेह उत्पन्न न हो।

गुप्तकाल के पश्चात् कुछ विद्वानों के अनुसार सम्राट् हर्ष ने भी इस पद को अपनाया था, वैसे मुस्लिम-शासन-काल में भी इस विक्रम-पद के अपनाने की प्रवृत्ति चली आई है। फारसी इतिहास के लेखक—मुहम्मद-कासिम-फरिश्ता के इस कथन से प्रमाणित है कि पठानों के सूर-वंश का सेनापति और हुमायूं को हराने वाला हेमू भी जब इन्द्रप्रस्थ में स्वतंत्र-हिन्दू-राज्य की स्थापना के प्रयास में था—उसने अपने नाम के साथ 'विक्रमादित्य' जोड़ लिया था, (तारीख फरिश्ता—भाग 1, पृ० 349) इस प्रकार 'विक्रम' पद सहस्रों वर्षों की परम्परा लिये अपना आकर्षण बराबर बनाए रहा है। यही कारण है कि मूल-विक्रमादित्य के व्यक्तित्व को अनेक उपाधिधारियों की भूल-भुलैय्या ने इतिहासज्ञों को भी कुछ उलझन में डाल दिया है। और इसी प्रकार विक्रम-संवत् की प्रतिष्ठा का यश भी अनेक विद्वानों ने अपनी शोध और समझ के अनुसार भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को देने का प्रयास किया है, जैसे—

(1) राखालदास बनर्जी का कहना है कि इस संवत् का प्रवर्तक नहपान था।

(2) मि० फ्लीट कहते हैं—कनिष्क ने यह चलाया था।

(3) सर जान मार्शल और रेप्स का मत है कि अयस् या अजेस् (Azes) ने इस संवत् को चलाया था।

(4) भारत का समस्त समाज और सी० वी० वैद्य, डॉ० अल्तेकर, स्टीन् कोनो, ब्यूलर, पिटर्सन तथा अन्य योरोपीय विद्वानों का कहना है—शकारि विक्रमादित्य ने शकों को परास्त कर यह संवत् चलाया है, यह गंधर्वसेन का पुत्र था।

(5) डॉ० जायसवाल एवं एकाध अन्य का कहना है कि गौतमी-पुत्र शातकर्णि ने संवत् का आरम्भ किया था।

(6) डॉ० वेणीप्रसाद शुक्ल का विचार है कि—अग्निमित्र के पिता पुष्यमित्र शुंग ने धार्मिक हेतु से प्रेरित होकर संवत् चलाया, पुष्यमित्र विदिशा का निवासी था। बृहद्रथ मौर्य का सेनापति था, इसने अपने स्वामी की हत्या कर दी थी, विदेशियों-यवनों को जीत कर, बौद्धों को हटाकर अश्वमेध-यज्ञ किया था, और यज्ञ की स्मृति में संवत् चलाया था।

इन छह मतों का संक्षेप में यह निष्कर्ष होगा कि—

(1) विक्रम संवत् का प्रवर्तक कोई शक राजा था, जो विदेशी होना चाहिए। (राखालदास-फ्लीट सरजॉन, और रेप्सन)

(2) गर्दभिल्ल नरेश गंधर्वसेन के पुत्र ने संवत् को चलाया (स्टीन कोनो, एवं जैन साहित्य)

(3) पुष्यमित्र शुंग ने चलाया। शुंग को बौद्धों ने अत्याचारी, धार्मिक उत्पीड़क तथा जैनों ने इसे कल्कि कहकर वर्णित किया है। जैसे--

"यावत् पुष्यमित्रो यावत् संघारामं भिक्षूंश्च प्रघातयन् प्रस्थितः स यावत् शाकलमनुप्राप्तः तेनाभिहितं यो मे श्रमणशिरो दास्यति तस्माहं दीनारशतं दास्यामि। (दिव्यावदान)"

इन चार भिन्न-भिन्न मतों में से प्रथम मत तो इस कारण महत्त्व नहीं रखता कि भारतवासी किसी प्रकार भी विदेशी-शासकों द्वारा प्रचारित, परतंत्रता के प्रतीक को किसी प्रकार भी राष्ट्रीय रूप से स्वीकार नहीं कर सकते थे, न वह इस तरह दीर्घकाल तक जीवित रह सकता था। इसी प्रकार कोई भी संवत्-प्रवर्त्तक शक या हूण सम्राट् अपने को 'शकारि' नहीं कह सकता था।

दूसरे मत के प्रतिष्ठापक गौतमीपुत्र शातकर्णि को इस संवत् का स्थापक मानते हैं, वे शायद यह भूल जाते हैं कि गौतमीपुत्र का विरुद 'विषमशील-विक्रम' था। 'शकारि' नहीं, उसका संवत् 'शकाब्द' के नाम से प्रसिद्ध था, (इस विषय में नागरी प्र० पत्रिका के भाग 16 के पृष्ठ 241 से 272 देखें)।

तृतीय मत की चर्चा हम आगे कर रहे हैं। अंतिम मतों के विषय में कुछ विस्तार से चर्चा करना आवश्यक है—

दिव्यावदान में लिखा है—

"पुष्यः धर्मरतः पुष्यमित्रः सोऽमात्यानां मंत्रयते क उपायः स्यात् यत् अस्माकं नाम चिरं तिष्ठेत् तैरभिहितं देवस्य च वंशादशोको नाम्ना राजा बभूवेति तेन चतुरशीतिधर्मराजिकासहस्र प्रतिष्ठापितं यावद् भगवच्छासनं प्राप्यते तावदस्य यशः स्थास्यति। देवोऽपि चतुरशीतिधर्मराजिका सहस्रं प्रतिष्ठापयतु। राजाह, महेशाख्यो राजाऽशोको बभूव, अन्य कश्चिदुपाय इति? तस्य ब्राह्मण पुरोहितः पृथग्जन्मेऽमात्यः, तेनाभिहितं देव, द्वाभ्यां कारणाभ्यां नाम चिरं स्थास्यति।··· यावद्राजा पुष्यमित्रः चतुरंग बलकाय संनाहयित्वा, भगवच्छासनं विनाशयिस्यामीति कुक्कुटारामं निर्गतः द्वारे च सिंहनादो मुक्तः। तावत्स राजा भीतः पाटलिपुत्रं प्रविष्टः। एवं द्विरपि त्रिरपि यावद्भिक्षुश्व संघमाहूय कथयति 'भगवच्छासनं नाशयिष्यामीति किमच्छथ? स्तूपं संघारामान्वा? भिक्षुभिः परिगृहीतो यावत् पुष्यमित्रो यावत् संघारामं भिक्षूंश्च प्रघातयन् प्रस्थितः स यावत् शाकलमनुप्राप्तः। तेनाभिहितं— 'यो मे श्रमणशिरं दास्यति

तस्याहं दीनार शतं दास्यामि। धर्मराजिका वाहृंद् वृद्धया शिरो दातुमारब्धं श्रुत्वा च राजाऽर्हत् प्रघातयितुमारब्धः', स च निरोधं सम्पन्नः तस्य परोपक्रमो न क्रमते। सयत्नमुत्सृज्य यावत्कोष्ठकं गतः दंष्ट्र विनाशी यक्षश्चिन्तयत 'इदं भगवच्छासनं विनश्यति' अहं च शिक्षां धारयिष्यामि न मया शक्यं कस्यचिद-प्रियं कर्तुं, तस्य दुहिता कृमिसेन यक्षेण याच्यते न चानुपर्यच्छति त्वं पाप कर्म-कारीति, यावत्सा दुहिता कृमिसेनस्य दत्ता भगवच्छासनं परित्राणार्थं परिगृह-भावनार्थं च पुष्यमित्रस्य राज्ञः पृष्ठतः यक्षो महान् प्रमाणं यूपं (?) तस्यानु-भावात्स राजा न प्रतिहन्यते यावद्दंष्ट्राविनाशी यक्षस्तं पुष्यमित्रानुबन्ध यक्ष प्रहाय पर्वतचयेऽचरत् यावद्दक्षिणमहासमुद्रं गतः। कृमिसेनेन च यक्षेण महान्तं पर्वतं आनयित्वा पुष्यमित्रो राजा सबलवाहनोऽवष्टब्धः। तस्य 'मुनिहतं' इति संज्ञा व्यवस्थापिता, यदा पुष्यमित्रो राजा प्रघातितस्तदा मौर्यवंश-समुच्छिन्नः।

(अवदान 29, पृ० 430-34)

दिव्यावदान के उक्त उद्धरण से पुष्यमित्र मौर्यवंश का ही नहीं, किंतु अशोक का पारिवारिक प्रतीत होता है, पर यह ऐतिहासिक तथ्यों के प्रतिकूल है। फिर बौद्ध-सम्राट् अशोक को अहिंसा की ओर प्रवृत्त करने वाली कलिंग-विजय की घटना थी जब उसके वंशज-पुष्यमित्र के सम्मुख रही होगी तो केवल स्थाई नाम छोड़ने के लिए हिंसा का अवलंबन पुष्यमित्र ने स्वीकृत किया हो—यह साधारण बुद्धि में आने जैसी बात नहीं है। प्रसिद्धि क्षमा, दया, उपकार, प्रजापालक, अनुग्रह आदि गुणों से प्राप्त होती है। धार्मिक उत्पीड़न आदि कर्मों से ख्याति प्राप्त नहीं होती, यह जानकर भी पुष्यमित्र इस प्रकार बौद्धों का नाश करने लगा हो तो क्या स्थाई कीर्ति या प्रसिद्धि सुलभ संभव हो सकती थी ? संभव नहीं। पुराणों में तथा वैदिक धर्मानुयायी बाण आदि ने स्पष्ट ही इसे अन्तिम सम्राट् बृहद्रथ का वध करने के कारण 'अनार्य' लिखा है—'प्रतिज्ञा दुर्बलं च बल दर्शन व्यपदेशाद्दर्शिताशेष सैन्यः सेनानीरनार्यो मौर्यं बृहद्रथं पिपेष पुष्यमित्रः स्वामिनम्।'

दिव्यावदान में मौर्य सम्राटों की जो सूची दी गई है, वह सर्वथा अशुद्ध है। इतिहास में उसे कोई मूल्य नहीं दिया गया है। यदि वैदिकधर्म (या ब्राह्मण धर्म) का पुनर्जीवन देने वाला पुष्यमित्र वस्तुतः बौद्धों का उत्पीड़क होता तो उसका वर्णन पुराणों में प्रशंसात्मक लिखा होता और बाण भी उसे अनार्य कभी नहीं लिखता, बौद्धों के साथ उसने अवश्य ही जैनों को त्रस्त किया होगा, किंतु जैनों के तत्कालीन, और उत्तर-कालीन साहित्य में पुष्यमित्र को अत्याचारी राजा के रूप में कहीं अंकित किया नहीं देखा जाता। जिस कर्की या कल्की का वर्णन जैन ग्रंथों में मिलता है वह भी पुष्यमित्र पर लागू नहीं होता। कल्की का जन्म 'सम्भल' बतलाया गया है। जबकि पुष्यमित्र विदिशा में उत्पन्न हुआ था।

पुराणों में कहीं भी पुष्यमित्र को कल्की नहीं सूचित किया है। कल्कि-पुराण के अनुसार कल्कि-उपाधिकारी व्यक्ति का उद्‌भव सम्बलपुर में हुआ था, जो एक देशी राज्य रहा है। वह एक सामान्य वंश में उत्पन्न होकर स्थानीय नरेश या सामान्त की सहायता से एक साम्प्रदायिक मदान्ध के रूप में उठ खड़ा हुआ था, उसने वहां के अनेक बौद्ध-मठों का विध्वंस किया था उसने जिन बौद्ध भिक्षुणियों की हत्या की थी वे मध्यप्रांत के एक मठ की संरक्षिकाएं थीं। कल्कि पुराण में वर्णित विवरण से जैन ग्रंथों में वर्णित कल्कि-वर्णन की संगति लगती है। किंतु पुष्यमित्र को जैन कल्कि ठहराना भी नितांत भ्रामक है। पुष्यमित्र का 'मुनिवृत' उपाधि के साथ कहीं और उल्लेख नहीं मिलता है, इस प्रकार दिव्यावदान की कथा निराधार है, यह केवल धार्मिक द्वेष उत्पन्न करने के लिए गढ़ी गई थी—जब भारत में मध्य एशिया के शक-हूण-साही बौद्ध राजा जहां-तहां शासन कर रहे थे, एवं स्थानीय बौद्धों की सहायता से अपने शासन को स्थायी बनाने के प्रयत्न में थे, मि० स्मिथ जैसे विदेशी विद्वान् भी यह स्वीकार करते हैं कि भारत में से बौद्ध धर्म के नष्ट हो जाने के कारण पुष्यमित्र, या अन्य नरेश नहीं थे, (अर्लि हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० 213)।

दिव्यावदान के अनुसार पुष्यमित्र का पिता पुष्यधर्मन् था, पिता तथा पुत्र दोनों ही बौद्ध थे। वह किसी ब्राह्मण मंत्री के कहने मात्र से ही अशोक का वंशज अपने पूर्वजों की कीर्ति, एवं उसके स्थापित-प्रवर्द्धित तथा सम्मानित धर्म, संघ, स्तूप आदि को केवल अपनी ख्याति प्रस्थापित करने के लिए प्रध्वस्त करने को सन्नद्ध हो गया होगा, यह जरा भी बुद्धिगम्य नहीं हो सकता। क्षण भर के लिए यह दिव्यावदान के अनुसार मान लिया जाए तो इस रक्त-रंजित संवत् प्रतिष्ठा का पुराणों में सर्वत्र उल्लेख किया जाता। विक्रमादित्य को चाहे उसका व्यक्तित्व कुछ या कोई भी रहा हो—वे अंशावतार के रूप में या एक धार्मिक अथवा श्रद्धा-समवेत भक्त-राजा के रूप में चित्रित होते, किंतु पुराण-ग्रंथ इस विषय में मौन हैं। इसके विपरीत जैन-साहित्य में विक्रमादित्य एवं उसके संवत् संस्थापक के सम्बन्ध में यथेष्ट विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। वह सारा ही विक्रम की प्रशंसा से पूर्ण है। अकेले जैन साहित्य में 44 से अधिक पुस्तकें विक्रमादित्य की विशेषता, कथा-किंवदन्तियों से भरी हुई हैं। यदि विक्रम-संवत् किसी धार्मिक उत्पीड़न का स्मारक रहा होता अथवा किसी साम्प्रदायिक अत्याचारी से उसके संस्थापक का संबंध होता तो अवश्य ही जैन-साहित्य में ठीक विपरीत वर्णन प्राप्त होता। किन्तु जैन-साहित्य में जिस उदारता और श्लाघा से विक्रम का उल्लेख हुआ है—उससे यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि विक्रम-संवत्-सर्वथा निर्दोष, एक राष्ट्रीय—सांस्कृतिक एवं सार्वजनिक विषय है। उसकी स्थापना का सम्बन्ध ऐसे ही व्यक्ति से है, जो धार्मिक साम्प्रदायिक-द्वेष-भाव से रहित, पक्षपात

से पृथक्, न्यायपरायण, उदार, प्रजाप्रिय तथा सार्वजनिक सम्मान-भाजन व्यक्ति विशेष है।

बौद्ध साहित्य के सिवा अब थोड़ा जैन-साहित्य पर भी विचार किया जाए, जो जैन विद्वान् पुष्यमित्र को कल्कि सिद्ध करना चाहते हैं—शायद उन्होंने निम्न-लिखित प्रमाणों की ओर ध्यान नहीं दिया है—

पहली बात तो यह है कि कल्कि का जन्म स्थान संभलपुर था (भागवत स्कंध 12, अ० 2, श्लोक 12) तथा पुष्यमित्र का जन्म स्थान विदिशा है, और जैन साहित्य जिसको कल्कि मानता है उसका जन्म कुसुमपुर (पटना) में होना चाहिए—तित्थोगाली में लिखा है—

सग वंसस्सय तेरस समाई तेवीसईं होती वासाइं।
हो ही जम्मं तस्सउ कुसुमपुरे दुष्ट बुद्दिस्स ॥62॥

इसमें कल्कि-जन्म-संवत् भी शकाब्द 1323 (विक्रम 1452) दिया है, जब कि पुष्यमित्र विक्रम-संवत् से पूर्ववर्ती है।

काल सप्तनिका में कल्कि का जन्म-समय ऊपर बतलाए गए संवत् से 16 वर्ष कम दिया है और कल्कि का कुल चाण्डाल बतलाया है—(धर्मघोष सूरि) इसमें कल्कि के रुद्र तथा चतुर्मुख दो नवीन नाम दिए हैं, उनमें भी पुष्यमित्र नहीं आता है।

जिन सुन्दर सूरि ने दीपमालाकल्प में और भी दो वर्ष कम समय लिखा है, तथा म्लेच्छकुल में उत्पन्न होना बतलाया है, पिता का नाम यश एवं माता का यशोदा लिखा है—

मन्निर्वृ त्तेर्गतेष्वब्दशतेष्वेकोनविंशतौ।
चतुर्दशक्षुचाब्देषु चैत्र शुक्लाष्टमीदिने ॥231॥
विष्टौ म्लेच्छकुले कल्की पाटलीपुत्रपत्तने।
रुद्रश्चतुर्मुखश्चेति धृतापराह्वयद्वयः ॥232॥

उपाध्याय क्षमाकल्याण ने विक्रमादित्य का उल्लेख कर विक्रम संवत् से 124 वर्ष के बाद कल्कि के जन्म का उल्लेख किया है—

'मत्तः पञ्च सप्तत्यधिकचतुःशताब्दव्यतीते सति विक्रमादित्यनामको राजा भविष्यति। ततः किंचिदूनचतुर्विंशत्यधिकशतवर्षानन्तरं पाटलीपुरनाम्निनगरे चतुर्मुखस्य जन्म भविष्यति। (दीपमाला कल्प)

दिगम्बर विद्वान् नेमिचन्द्र ने अपने तिलोपसार में कल्कि का जन्म 1000 वीर-निर्वाण-संवत् में लिखा है, जो 395 शक अथवा 430 विक्रम-संवत् के समसामयिक होता है।

सारांश यह कि जैन ग्रंथ जिस किसी भी जैनोत्पीडक नरेश का उल्लेख कल्कि के नाम से करते हैं वह निर्विवाद विक्रम संवत् के बाद का ही है। वह

पुष्यमित्र संभव नहीं होगा। न वह धार्मिक किसी विषय से सम्बन्धित संवत् ही है।

मंदसौर (दशपुर) से प्राप्त संवत् 461 के लेख में इस संवत् (विक्रम-संवत्) को 'कृत' संज्ञा से ज्ञापित किया गया है, इसी तरह नगरी (माध्यमिक नगरी) के शिलालेख में जो अजमेर के संग्रहालय में है—संवत् 401 को भी 'कृत' शब्द से ही सूचित किया गया है। (कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेष्वेकाशीति—उत्तरेष्वस्यां मालवपूर्वायाम् कार्तिक शुक्ल पंचम्याम्)। मंदसौर से ही प्रथम कुमार गुप्त के समय में लिखे गए संवत् 493 के शिलालेख में इसका नाम-विशेष न देकर ऐसे पदों का प्रयोग किया गया है कि जिससे संवत् के आरंभ होने का इतिवृत्त प्रकट होता है, अर्थात्—'मालवानां गणस्थित्या' और वहीं से प्राप्त यशोधर्मन् कालीन उत्कीर्ण-शिला लेख में भी उसी घटना का उल्लेख है—'मालवगण स्थितिवशात्'—इन शब्दों का स्पष्ट अर्थ होता है—मालवों के गण-संघ की स्थिति (या सत्ता का स्थापना काल) से, तथा उस घटना-काल से गिना जाने वाला संवत्। इसी प्रकार कोटा के निकट शिव मन्दिर में लगे हुए एक शिलालेख में संवत् 795 में 'मालवेशों का संवत्सर' कहा गया है। इसमें बहुवचन का प्रयोग किया गया है। (संवत्सर शतैर्यातैः सपंच नवत्यर्गलैः सप्तभिर्मालिवेशानाम्)। डॉ० फ्लीट के गुप्ता—इंस्क्रिप्शिन्स के पृष्ठ 243 पर इस संवत् का एक उल्लेख संवत् 426 का भी है। और पृष्ठ 74 पर संवत् 480 का भी है; दोनों स्थानों पर कृत (बहुवचन में) उत्कीर्ण किया गया है।

शुंग-नरेश पुष्यमित्र के सम्बन्ध में कल्पित बौद्धोत्पीड़क कहानी, और उसके दो अश्वमेध-यज्ञों से 'कृत' की कुटिल कल्पना कर विक्रम-संवत् को धार्मिक बतलाने का प्रपंच व्यर्थ और भ्रामक ही है। विक्रम-संवत् का शुंगवंश से संबंध जुड़ाया नहीं जा सकता।

गर्दभिल्ल की चर्चा करते समय कुछ विवेचन की आवश्यकता है, आइने अकबरी में विक्रमादित्य को गंधर्वसेन का उत्तराधिकारी कहा गया है। कुछ विद्वान् शूद्रक और विक्रमादित्य को एक ही व्यक्ति बतलाते हैं, कई विद्वानों का विचार है कि विक्रमादित्य का निज नाम साहसांक था। जैन-गाथाओं के अनुसार विक्रमादित्य सुवर्ण-पुरुष था, उसे सुवर्ण बनाने की विद्या प्राप्त थी, इस कारण उसने अपनी समस्त-प्रजा को ऋण से मुक्त कर दिया था, विक्रमादित्य के व्यक्तित्व में इन सभी बातों का समाधान प्राप्त होना चाहिए, इनसे भी अधिक यह भी आवश्यक है कि उनके नवरत्नों का भी सहयोग जुड़ना चाहिए।

विक्रम-संवत् के 'कृत' नाम को देखकर कुछ विद्वानों ने शकारि का नाम 'कृत' होने की संभावना भी की है। संक्षेप में उन लोगों का यह विचार भी है कि मालवगण के विजयी व्यक्ति ने शकों को भारत से निकालकर बाहर किया

था, इसलिए उसके नाम से यह संवत् 'कृत' ज्ञापित हुआ था। यह विचार सामान्यतः स्वीकार किए जाने में कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होती। कृत नाम मालव के इतिहास में नवीन नहीं है, कार्तवीर्यार्जुन का पिता भी कृत नामधारी था, (इस विषय पर विस्तृत विवेचन हमने अपने लेख विहार-राष्ट्र-भाषा परिषद् की पत्रिका में कुछ वर्ष पूर्व किया है, उसमें सभी तर्क-पक्षों की समीक्षा की है) इसमें थोड़ी साहित्यिक आपत्ति आती है क्योंकि ऐसे वैयक्तिक नाम तद्धितांत या समासान्त होने चाहिए। कृताब्द, कृतसंवत्सर या कार्त्येषु आदि रूपों का प्रयोग देखने में नहीं आता, तथापि इस संवत् को कृत नाम से अभिहित किए जाने का हेतु है। हमने अपने एक लेख में (जो विक्रम-पत्रिका में लिखा था) यह वतलाया था कि शालिवाहन शक चैत्रादि है, किंतु विक्रम-संवत् कार्तिकादि है, कार्तिकादि से यह भिन्न नहीं है। 'कृत' उसी नक्षत्र का सूचक या बोधक होता है--जिसे हम तारा कहकर कृत्तिका के रूप में (स्त्री-वाची) पढ़ते हैं, और कृत-नक्षत्र के पौर्णिमावाले मास से आरंभ होने वाला संवत् स्वीकार करते हैं।

विक्रमादित्य को जैन-आख्यायिकाओं में गर्दभिल्ल का पुत्र कहा गया है। आइने अकवरी की मालव-राज वंशावलि में भी गंधर्वसेन का पुत्र कहा गया है। गर्दभिल्ल और गंधर्वसेन एक नाम के ही दो भेद बन गए हैं। मालवा पर शकों के अधिकार होने की एक जैन-कथा वहुत प्रसिद्ध है। संक्षेप में वह इस प्रकार है कि उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल-दर्पण ने जैन आचार्य की युवती-रूपवती वहन सरस्वती का अपहरण कर अंतःपुर में बंद कर दिया, इस पर कालकाचार्य ने प्रतिज्ञा की कि गर्दभिल्ल का राज्योन्मूलन करूंगा। इसकी पूर्ति के लिए वह पारस कुल जा पहुंचा, वहां का राजा 'साही' कहलाता था, कालक वहीं रहने लगे। एक समय साही के अधिराज साहानुसाही ने रुष्ट होकर साही के पास एक कटारी भेजकर आज्ञा दी कि इससे अपना सिर काटकर भेज दो, साही ने कालक के समक्ष यह चर्चा की, कालक ने साही को परामर्श दिया कि आत्मघात मत करो। तब साही ने वतलाया कि साहानुसाही के रुष्ट हो जाने पर हमारा जीवित रहना असम्भव है। तब कालक ने कहा, हिन्दुग-देश को चलें, साही ने कालक का कहना स्वीकार किया और अपने अन्य 95 साहियों को साथ चलने के लिए राजी कर लिया, 95 साही चलकर सौराष्ट्र पहुंच गए, उन्होंने वहां अधिकार करके 96 भागों में उस खण्ड का बंटवारा कर लिया, प्रत्येक साही अपने-अपने भाग पर शासन करने लगा। कालक का आश्रयदाता उन साहियों का साहानुसाही बन गया। यह साहीवर्ग वस्तुतः शकों का संघ था। कालक ने साही को उज्जैन पर आक्रमण करने की प्रेरणा दी, साहियों ने लाट (वर्तमान गुजरात) के राजाओं को साथ लेकर प्रयाण किया। लाट के नरेशों

को अवन्ती के पड़ोसी होने के कारण प्रतिस्पर्धा थी, गर्दभिल्ल इस आक्रमण में मारा गया और शकों का उज्जैन पर अधिकार हो गया। जैन-कथा में जो वर्णन है ठीक उसी प्रकार का वर्णन कालिदास के नाम पर प्रचारित ज्योतिष ग्रंथ में भी है---उसमें भी 'नवति पंच-प्रमितान् शकगणान् हत्वा' 95 साहियों के साथ लड़ाई होने का विस्तार से वर्णन है।

ऊपर जिन लाट नरेशों का उल्लेख किया गया है—उनके नाम बलमित्र, भानुमित्र बतलाया है। आरंभ में शकों ने उनको ही उज्जयिनी का गवर्नर या शासक बना दिया था, किंतु इस कथन में ऐतिहासिक क्रम के साथ संगति नहीं लगती। कालक-सम्बन्धी घटना का जैन ग्रंथों में अब से पुरातन समय में जो उल्लेख मिलता है, वहां ये नाम नहीं मिलते हैं, ज्योतिर्विदाभरण में यह कहा गया है कि इन 95 साहियों का शासन विक्रम ने आक्रमण कर समाप्त किया था।

उज्जैन में शकों का अधिकार हो गया था और आंध्र नरेश गौतमीपुत्र ने अपने शासन के 15वें वर्ष में क्षहरात-नरेश नभोवाहन को परास्त कर क्षहरातों को समाप्त कर दिया था। यह घटना ई० पू० 132 या विक्रमपूर्व 76 की है। इसके बाद आंध्र के शातकर्णि नरेश क्रमशः निर्बल होते गए, और मालवा में गर्दभिल्लों का उदय होने लगा। पुराणों में गर्दभिल्लों की 7 पीढ़ियों का शासन 72 वर्ष तक रहने का स्पष्ट उल्लेख है (मत्स्य और ब्रह्माण्ड पुराण)। इन 72 वर्षों में गर्दभिल्लों की स्वतंत्र-सत्ता का समय केवल 13 वर्ष ही था, अर्थात् वि० पूर्व 17 से वि० पू० 4 तक। इससे पहले वे शुंगों के गवर्नरों या माण्डलिकों के रूप में रहे होंगे। नभोवाहन के विदेशी शासन को लूटने, तथा गौतमीपुत्र के युद्ध-प्रयासों ने जो विदेशियों को खदेड़ने के लिए हुए थे, राष्ट्र को घोर आर्थिक-संकट में फंसा दिया होगा, और राष्ट्र के वीर-युवकों को अपने शौर्य प्रकट करने को प्रोत्साहित किया होगा। राष्ट्र में विदेशियों की लूट से उत्पन्न दरिद्रता और विदेशी पंजे से देश को स्वतन्त्र बना राष्ट्र-रक्षा करने के लिए प्रेरणा मिली होगी। मालव जाति पहिले से ही गणबद्ध रहने वाली और शौर्य-शाली थी, सिकंदर जैसे योद्धा को उन्होंने इसका प्रमाण दिया था। गर्दभिल्ल भी लड़ाकू थे, उन पर मालव-संस्कृति का सुन्दर प्रभाव था, ऐसे समय एक वीर युवक आगे आया था. इतिहास ने इस युवक का नाम साहसाङ्क बतलाया है। साहसाङ्क, शकारि और संवत्-प्रवर्तक विक्रमादित्य था, इसको कोशकारों ने भी बतलाया है। जैसे, अमरकोश के टीकाकार क्षीरस्वामी ने अपने से पुराने किसी कोशकार का निम्नलिखित लेख उद्धृत किया है --

विक्रमादित्यः साहसांकः शकांतकः।

सरस्वतीकण्ठाभरण के निम्नश्लोक की टीका में रत्न मिश्र ने भी एक ऐसा ही उद्धरण दिया है—

केऽभूवन्नाढ्यराजस्य राज्ये प्राकृतभाषिणः ।
काले श्रीसाहसांकस्य के न संस्कृतवादिनः ।।

टीका—आढ्यराजः शालिवाहनः साहसांको विक्रमादित्यः ।

हाल-सातवाहन की प्रसिद्ध सप्तशती के टीकाकार हरिनाथ-पीताम्बर ने 466वीं गाथा में 'विक्रमादित्य' की टीका में 'साहसाङ्कस्य' लिखा है ।

विक्रम-संवत् का नाम कभी 'साहसाङ्क संवत्' भी रहा है, यह वास्तव में कम कुतूहलजनक नहीं है, एक से अधिक प्रमाण मिलते हैं, जैसे—

व्योमार्णवार्क संख्याने साहसांकस्य-वत्सरे

अर्थात् संवत् 1240, (महोवा दुर्ग का लेख)

नवभिरथ मुनीन्द्रैर्वासराणामधीशैः
परिकलयति संख्या वत्सरे साहसांकस्य ।

(सं० 1279 का रोहताश गढ़ का शिलालेख)

चतुर्भूताद्दि शीतांशुभिरथ गणिते साहसांकस्य वर्षे ।

(अकबर के जलाली वर्ष का 40वां वर्ष, साहसांक का संवत् 1652)

कनिंघम ने भी यह स्वीकार किया है कि साहसांक संवत् विक्रम-संवत् का ही नामान्तर है ।

इस प्रकार मालव, माल, मल्व, माड, प्रमाड़, प्रमद-युवक-साहसाङ्क ने विदेशियों का पराभाव करके राष्ट्र को स्वाधीन बनाने के पश्चात् विक्रम-पद धारण किया होगा । इसके पिता का नाम गंधर्वसेन माना जाता है, जनता को शासन ग्रहण करने के पश्चात् ऋण-मुक्त कर दिया था इसलिए जैन साहित्य में इनको सुवर्ण-पुरुष कहा गया—

शकानां वेशमुच्छेद्य कालेन कियतापि हि ।
राजा श्री विक्रमादित्यः सार्वभौमोपमोऽभवत् ।।

—चन्द्रप्रभ सूरि

सचोन्नतमहासिद्धिः सौवर्ण पुरुषोवयात् ।
मेदिनीमनृणां कृत्वा व्यरचद्वत्सरं निजम् ।।

यह अलबेरुनी ने अपने भारत-यात्रा वर्णन में भी विस्तार से लिखा है ।

आरंभ में मालवा में गणशासन था, प्रद्योतों के समय यह पद्धति उच्छिन्न हो गई थी, बाद में प्रयास हुआ था जिसका वर्णन शूद्रक के मृच्छकटिक में है । मालवगण का एक युवक गोपालक ने एकतंत्र को समाप्त कर गणसत्ता स्थापित की थी और वह गणपति बन गया था । किंतु यह अधिक समय नहीं रहा,

मौर्यों, खारवेल, गौतमीपुत्र तथा शायद शुंगों ने भी गण-संस्था को प्रोत्साहित नहीं किया। ये सभी एकतंत्र-सत्तावादी थे। किंतु गणतंत्र मालव-संस्कृत का अंग वन गया था, जब शुंगसत्ता निर्बल वन रही थी, तब गणतंत्रवादी मालव अवश्य जाग्रत सन्नद्ध हो गए होंगे। नागवंशीय कर्कट गोत्रीय नाग की गाथा विदित है और इस गणपति नाग-राज की एक रचना 'भावशतक' उपलब्ध है। एक सत्तावादियों की निर्बलता ने गण-संघों को उठने का अवसर दिया होगा, गर्दभिल्लों का शकों ने अंत किया, और शक-शक्ति का अन्त तत्कालीन मालवों ने किया। यह सफलता प्रमद गंधर्वसेन के पुत्र विक्रम को प्राप्त हुई, यह अपनी संस्कृति के समुद्धार का महत्त्वपूर्ण कार्य था, संवत् इसी महत्त्वपूर्ण घटना से सम्बन्धित होना चाहिए। जो आज परिवर्तनशील कालचक्र के दो हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी सारे देश के जन-जीवन में दीर्घजीवी बना चला आ रहा है। इसके पूर्व और पश्चात्काल में भी अनेक संवत् बने, चले, किंतु वे कुछ काल में ही काल-कवलित हो गए, विक्रम-संवत् का अस्तित्व अब तक अचल बना चला आ रहा है।

हमने ऊपर विक्रम-संवत् के पूर्व मालव में प्रचलित एवं शिलालेखों में प्राप्त जिस 'कृत' संवत् के विषय में चर्चा की है, यह 'कृत' भी मालवगण से संलग्न रहा है, और उसी में आगे चलकर घटना विशेष के साथ विक्रम-शब्द जुड़ा है, यह घटना भी दो हजार वर्ष से ऊपर की सिद्ध होती है, उसी समय जब 'कृत' संवत् प्रचलित था, और वर्षान्त होने में कुछ समय शेष था। तब ज्योतिः-शास्त्र के सूर्यसिद्धांत ग्रंथ का निर्माण हुआ था, यह उस ग्रंथ के प्रथम श्लोक से ही प्रमाणित है—

"अल्पावशिष्टेतु कृते मयनामा महाऽसुरः ॥"

इस ग्रंथ के गणित और खगोल स्थिति से स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि जब 'कृत' संवत् का अल्प-काल अवशिष्ट था, उस समय की जो ग्रहस्थिति आकाश में रही है—वह समय आज से 2000 वर्ष से ऊपर का रहा है। यह गणना क्रम से प्रमाणित है, इसलिए कृत गणना से विक्रमाब्द के आरंभ का काल आज के संवत् से सुसंगत है, और यही विक्रमकाल है। इसे किसी अन्य उपाधिधारी व्यक्ति से नहीं जोड़ा जा सकता।

अस्तित्व विषयक भ्रान्तियां और निराकरण

दो हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी विक्रम संवत् की प्रतिष्ठा 'विक्रम' विद्वजनों की विचार विश्लेषण परिधि में ही परिभ्रमण कर रही है। विद्वज्जन वास्तविक विक्रमादित्य के विषय में भीषण रूप से भ्रांत हैं। इसका मुख्य कारण विसेंटस्मिथ, कीलहार्न हार्नेल-प्रभृति पाश्चात्य विद्वान हैं और वे भारतीय भी, जो इन विद्वानों को आराध्य-आधार मानकर अपनी विमल-मति को पर-प्रेरित-पथ पर सहसा मोड़ देते हैं, और विक्रम जैसी महान विभूति को ही भ्रम का विषय बना लेते हैं, आरम्भ से ही हमारी संस्कृति की परम्परा ही इस प्रकार परिपोषित होती चली आ रही है कि उसके लिए आधारों के नाम पर वर्तमान-विज्ञान की कसौटी अपेक्षित नहीं है। भगवान् राम, कृष्ण, शिव पाण्डवों की मुद्राएं ही उनके अस्तित्व को प्रमाणित करने का माध्यम नहीं बनती आई हैं। चिरकाल से अनेक स्मृतियों की पुण्य-परम्परा ने उनके अस्तित्व की सत्य-सनातनता को प्रत्येक हृदय में, स्थल में, सजग-सजीव बनाये रखा है। अध्यात्म-प्रधान देश के हम अधिवासी, जो मन-आत्मा की अमरता का प्रबोध विश्व को चिरकाल से देते आए हैं, 'मरण' की कल्पना को प्रत्यक्ष रखकर वर्तमान-युग की अनुकरणशीलता के प्रमाण के शिला मुद्रा को सृष्टि करने की आवश्यकता नहीं समझते हैं। आत्म-विस्मृति और प्रसिद्धि पराङ्मुखता के समाराधक होने के कारण ही वेद की 'अपौरुषेय' भावना, पुराण की व्यास-प्रणयन-प्रसिद्धि और कालिदास जैसों का आत्मोल्लेख में विस्मरण हुआ, और 'मंदः कवियशः प्रार्थी' लोगों की लघुता में प्रच्छन्न 'महानता' चिर-जीवित बनी हुई है।

ऐसी स्थिति में वर्तमान-युग का संशोधक विक्रम की प्राथमिकता चाहे विस्मारित करे, पर उसके दो हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी प्रत्येक संस्कृत हृदय में प्रतिष्ठित उसकी पावन-स्मृति को धुंधली करने का साहस नहीं कर सकता। यही कारण है कि आधुनिक माध्यमों के प्रमाण-पथ पर पूरी तरह न उतरते हुए भी अन्तःकरण की विश्वस्त-भावना के कारण विक्रम के अस्तित्व से मुकरने को जी नहीं करता।

अवश्य ही स्मिथ का भ्रांत-धारणा ने विक्रम को 'द्वैत' में डाल दिया है। ऐसी अनेकता में 'विक्रम' प्रहेलिका की तरह, विद्वानों के उचित उत्तर की कक्षा में परिभ्रमित है। किन्तु ईसवी पूर्व 57 वर्ष से लेकर चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल तक की 400 वर्ष की यात्रा में ही वह अधिक परिचित रहा है।

विक्रमादित्य के विषयों में विद्वानों के दो मत हैं--एक मत प्रथम विक्रम को विक्रमादित्य के रूप में स्वीकार करता है और दूसरा चन्द्रगुप्त में अपने को केन्द्रित कर लेता है। चन्द्रगुप्त की मुद्राएं, उपाधियां, उसके मत की प्रतिष्ठा में सहायक बनती जाती हैं।

सत्य है कि चन्द्रगुप्त अपने समय का महान्-शासक और समुद्र-गुप्त के पश्चात् गुप्त साम्राज्य का वास्तविक महान् अधिकारी भी है, जिसकी कीर्ति भारतीय शासन में अजर-अमर बनी रहेगी। वह सुवर्णकाल का, अपने समय का सर्वश्रेष्ठ स्रष्टा है। परन्तु वही विक्रमादित्य है, और उसके पूर्व विक्रम नहीं है, इस सीमारेखा का जब तक बुद्धि उल्लंघन नहीं करती तब तक वह प्रत्यक्ष वस्तु के नामोल्लेख के सिवा अभीष्ट सिद्धि में यशस्वी नहीं हो सकती।

विद्वानों के एक पक्ष को ही नहीं, समस्त विवेचकों को 'मालव' और 'कृत' संवत् के शिलालेखों ने उलझाये रखा है क्योंकि आरम्भिक शिलालेख इन्हीं गणनाओं से अंकित आद्यावधि उपलब्ध हो रहे हैं। भारत में कहीं भी ऐसा एक शिलालेख या अन्य साधन उपलब्ध नहीं है जिस पर प्रथम शती में 'विक्रम' का उल्लेख हो। आठवीं और नवीं शती के प्राप्त 17 शिलांकितों में से 15 ऐसे हैं, जिनमें मालव, कृत के अतिरिक्त केवल संवत् की संख्या ही प्रयुक्त है। उनमें दो ही शिलालिखित ऐसे हैं, जिनमें विक्रम का स्पष्ट रूपेण उल्लेख हुआ है।

आरम्भिक 'कृत' और मालव संवत् या गणोल्लिखित शिलाओं के विषय में डॉ० अल्तेकर प्रभृति संशोधक पण्डितों ने यह तो स्वीकार कर लिया है कि कृत और मालव नाम से ज्ञापित होने वाले संवत् दो नहीं एक ही हैं। कृत' के साथ भी 'मालव' का उल्लेख हुआ है, और मालव के साथ भी 'कृत' का संयोग स्वीकृत हुआ है। दोनों की अभिन्नता से इनके 'द्वैत' की प्रहेलिका समाप्त हो जाती है। वस्तुतः मन्दसौर से प्राप्त 461 संवत् के एवं नगरी (मेवाड़) से प्राप्त 481 संवत् के अभिलेखों में मालव एवं कृत की अभिन्नता स्पष्ट अंकित हुई है। यथा—

(1) "श्रीर्मालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसंज्ञिते"

और

(2) "कृतेषु वर्ष शतेष्वेकाशीत्युत्तरेष्वस्यां-मालव-पूर्वायाम्"

कृत-मालव की एकता प्रकट करने के लिए ये दोनों अभिलेख पर्याप्त हैं

और इस अद्वैत से यह विवाद नहीं रह पाता की मालव-जाति पर्यायवाची (मालवीय) अथवा मालव गणतंत्रवाची संवत् के साथ 'कृत्' व्यक्तिवाचक शब्द (कृत—नामक राजपुरुष व पंडित अथवा अन्य कोई) जुड़ा होगा क्योंकि मालव-गण या जाति के इस प्रदेश में आने से पूर्व की जो कल्पना इतिहासविदों ने प्रस्थापित की है, 'कृत' उसके पूर्व की कालगणना से जुड़ा हुआ संवत् का नामकरण है। हमारा तो आरम्भ से ही यह अभिमत रहा है कि 'कृत' कार्तिकादि वर्षारम्भ का सूचक पर्याय है और उसके साथ मालव-प्रादेशिक नाम को जोड़कर मालव-कृत संवत् के रूप में प्रकट किया गया है। इसमें वैयक्तिक नाम और अन्य कल्पना आरोपित करने कि आवश्यकता नहीं। जो लोग 'मालव' को पश्चात् आगत् मानकर गणतंत्रीयता की धारणा स्थापित करते हैं, वे इस काल से अधिक पुरातन वाल्मीकि रामायण द्वारा कथित 'मालवान्' और 'आवंतकान्' को पश्चात्-कालीन नहीं बतला सकेंगे।

मालव-संवत् की गणतन्त्रीयता 'गण' शब्द के उल्लेख मात्र से मान लेने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि मन्दसौर में पांचवीं, छठी सदी के जो शिलालेख मिले हैं, वे नरवंमन, कुमारगुप्त, बंधुवर्मन, प्रभाकर आदि एकतंत्रीय राजाओं के हैं, और उन्होंने भी इसी 'मालवानां गणस्थित्या' वाचक संवत् का ही प्रयोग किया है। यही क्यों, जिस प्रतापी वीर सम्राट यशोधर्मन ने शकाक्रांत-मालव-मही को ही नहीं, समस्त-भारत को विदेशियों के पाश से मुक्त किया था उस 'राजाधिराज परमेश्वरयशोधर्मन' में भी "पंचसु शतेषु शरदां यातेष्वेका-न्नवतिसहितेषु, मालव-गण-स्थिति-वशातु कालज्ञानाय लिखितेषु" में मालव-गण-स्थिति को ही कालज्ञान के लिए प्रयुक्त किया था। स्वतः विक्रमादित्य और 'राजाधिराज' कहे जाने पर भी उसने संवत् में से 'मालव-गण-स्थिति' को हटाया नहीं था। डॉ० अल्तेकर स्वीकार करते हैं कि—मन्दसौर के लेख में मालवगण 493 वर्ष, विक्रम-संवत् का ही लिखा है। क्योंकि उस समय गुप्त-वंशीय सम्राट कुमारगुप्त राज्य करते थे। उनका काल ई० सन् 414 से 454 है। डॉ० साहब इसे विक्रम का भी मानते हैं, और 'सम्राट कुमारगुप्त' का भी। परन्तु इस पर भी उसका नामकरण 'मालवगण' ही अंकित रहता है। साम्राज्य काल में भी गण-संवत् का प्रचलन स्वतः डॉ० अल्तेकर की धारणा (Theory) को ही भ्रान्त सिद्ध कर देता है। फिर क्यों न कुमारगुप्त की तरह वे विक्रमारम्भित संवत् प्रारम्भ से मानते हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जो इतिहासज्ञ मालवगण-स्थिति से गणतंत्र का अर्थ लेना चाहते हैं, वे स्वतः 'भ्रम' में हैं, और दूसरों को भी दिग्भ्रमित कर रहे हैं। यदि 'गण-स्थिति' से उस काल में गणतंत्रीयता मान्य होती तो एक 'राजाधिराज-परमेश्वरोपाधि' से

समलंकृत नृपति कदापि उसका प्रयोग न करता। अवश्य ही इस 'गण-स्थिति' का अर्थ तब 'मालव-संवत्' का 'गणना क्रम' ही रहा है क्योंकि यशोधर्मन के शिलालेख में यही स्पष्ट प्रकट भी कर दिया गया है—"कालज्ञानाय-लिखितेषु" (अर्थात् कालज्ञान के लिए लिखा गया है।)

इसके अतिरिक्त डॉ० अल्तेकर आदि इतिहासज्ञ जब यह मान लेते हैं कि दोनों (कृत-मालव) नामों से अभिहित होने वाला संवत् ई० सन् पूर्व 57 वर्ष में ही आरम्भ हुआ है, जिसे दो हजार वर्ष हो गये हैं, तो इस सीमा तक पहुंच जाने के पश्चात् उसे विक्रम द्वारा आरम्भ करने की परम्परा से बद्धमूल चली आने वाली कोटिकण्ठों में सजीव मान्यता को स्वीकार करने में क्यों व्यर्थ आपत्ति होनी चाहिए ? "विक्रीतेकरिणिकिमकुशे विवादः ?" मालव और कृत की एकता तथा उसके उद्‌गम (आरम्भ) के द्विसहस्राब्दी काल को स्वीकृत कर लेने के पश्चात् 'कृत' के साथ मालव-शब्द का योग कब, किन कारणों से हुआ, इसका अनुसंधान प्रादेशिक परिवर्तन काल के इतिहासानुसंधान के श्रम-साध्य प्रयत्न पर अवलंबित रह जायगा, जिसका निर्णय इस प्रदेश का रत्न-गर्भ भू-गर्भ ही कालांतर में कर सकेगा।

आरम्भिक 'कृत' कालगणना में, गणतन्त्रीय मालवों के विजय-सूचक संवत् ने अपना सम्बन्ध जुड़ा लिया होगा, इस मान्यता की निरर्थकता दो प्रकार से हो जाती है। पहले तो 'कृत' शब्द चैत्रादि काल-गणना में जुड़कर कार्तिकादि वर्षारम्भ का सूचक बना ही, जिसे 'कृत' मानववाची मानना तो सर्वथा डॉ० अल्तेकर जी का भ्रम है। जबकि सूर्य-सिद्धान्तकार स्वतः 'कृत-काल के थोड़े बाकी' रह जाने का उल्लेख करता है।(यथा—अल्पावशिष्टे तु कृते) इससे स्पष्ट होता है कि यह कृत कोई व्यक्तिवाची नहीं किन्तु एक मर्यादा का द्योतक है। जिसकी वर्ष समाप्ति का थोड़ा काल शेष रह गया था, अतएव यह कार्तिकादि काल का ही द्योतक है, और इसके साथ जो 'मालवगणाम्नाते' शब्द भ्रम उत्पन्न करता है कि वह 'मालव-गणों के काल का सूचक' शब्द है, यह केवल अर्थ-भ्रम के ही कारण है। उसमें हम प्रो० शाम्बवणेकरजी से सहमत हैं कि वह 'गणाम्नात' मालवी-गणना-काल का ही पर्यायवाची है—'गणतंत्र' का नहीं। "गणस्तु गणानां नामं स्यात्" की कोश परिभाषा ही उचित है। काल्पनिक 'गणतन्त्रीय'—अर्थ से भ्रम के प्रसार की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार कार्तिकादि (कृत) मालव-गणना के (मालवगणाम्नात) संवत् ई० पू० के 2,000 से अधिक वर्ष पूर्ण हो जाते हैं।

अब यदि मालव और कृत के प्रयोग से अंकित शिलालेखों में विक्रम का नाम-निर्देश नहीं हुआ हो तो आशंकित होने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। आरम्भिक 'कृत' काल-गणना से लेकर 8वीं, 9वीं शताब्दी जो अनेक परिवर्तन

मालव-भूमि पर हुए हैं, विक्रम के सिवा उनका भी तो कहीं संवत् के साथ संबंध नहीं है और आश्चर्य तो तब होता जब स्वतः चतुर्थ-पंचम शताब्दी के प्रबल गुप्त साम्राज्य के प्रोज्ज्वल प्रताप-काल का भी कृत मालव के साथ कोई संसर्ग नहीं हो पाता है। जब द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ही आदि विक्रम हैं तो उनका कृतादि-मालवादि काल-गणना पर 8-9 शताब्दी तक प्रभाव क्यों नहीं पड़ता ? तब भी वह 2-3 सौ वर्ष पर्यन्त आगे भी मालव संवत् कीं संज्ञा से ही संबोधित होता रहता है। इतना ही नहीं किन्तु कोटा के 795 वाले शिलालेख में गुप्तों का प्रभुत्व रहते हुए भी 'मालवेशानाम्' के नाम से ही 'मालवेश' का संवत् सूचित किया गया है। इससे स्पष्ट है कि द्वितीय चन्द्रगुप्त मालवाधिपति रहते हुए भी जिस प्रकार संवत् अपने प्रादेशिक व्यापक नाम से अभिहित होता रहता है, ठीक उसी प्रकार चन्द्रगुप्त के पूर्वकाल और आदि विक्रम के समय भी वह उसी प्रादेशिक प्रतिष्ठा से प्रबोधित होता रहा है। प्रथम शती की 'हाल' कृत गाथासप्तशती में 'विक्रम' की दानशूरता का उल्लेख हुआ है, वह सर्वथा सुसंगत है। साथ ही वह कृत मालवादि काल-गणना के समय में ही विक्रम के अस्तित्व को प्रमाणित करता है और वह समकालीनता के कारण निर्विवाद है। उक्त उदाहरण से इसी बात की अधिक पुष्टि होती है कि चन्द्रगुप्त को ही आदि विक्रम माना जाये तब भी संवत् को बहुत-काल तक 'विक्रम' का पद प्राप्त नहीं हो पाता है। तो पूर्ववर्ती विक्रम के नाम का संवत् में समावेश न हो तो वही आशंका का विषय बनाया जाना तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता। जो स्थिति चतुर्थ-पंचम शताब्दी की हो सकती है वह पूर्ववर्ती काल की भी होना स्वाभाविक है। कृत और मालव संवत् के प्रचलन काल में अवश्य ही यह आवश्यकता प्रतीत नहीं होगी कि उसके साथ विश्व-विदित विक्रम का नाम जोड़ा जाए। शकोन्मूलन के पुण्य-पराक्रम से मालव-मही कोई नहीं, देश को मुक्त-स्वतन्त्र बना देने के कारण सारे देश में कृत (कर्म या कार्तिकादि) या मालवादि संज्ञापित संवत् ही विक्रम-बोधक रहा होगा। किन्तु जिस प्रकार दो हजार वर्ष के सुदीर्घ-काल के बाद भी विक्रम की चली आने वाली अत्यन्त लोकप्रियता के कारण देशभर में यत्र-तत्र उसके नाम के साथ अनेक स्थानों पर अंकित कर जनता के सम्मान-समादर व्यक्त करने की चेष्टा की है, कोई आश्चर्य नहीं कि आठवीं-नवीं शती में जिन दो शिलाओं पर विक्रमांकित संवत् का उल्लेख मिला है, वह भी उसी प्रकार विक्रम प्रियता से प्रेरित होकर किया गया हो। इसके पूर्व इसकी आवश्यकता भी विदित न हुई हो, पर अभी यह भी कौन कह सकता है कि विक्रम के पश्चात् पृथ्वी के गर्भ से सभी शिलालेख मिल गए हैं। यह भी सम्भव है कि विक्रम के पश्चात् दशपुर के यशोधर्मन के पहले जिन शक हूणों ने मालव मही को पुनः आक्रमित कर लिया था, उन्होंने अपने प्रथम वंशोच्छेदक

विक्रम के समस्त चिह्नों और स्मृतियों को यहां से चुन-चुनकर नष्ट किया हो। फिर चाहे यशोधर्मन ने उन्हें पुनः भारत से ही क्यों न भगा दिया हो, अनेक इतिहासज्ञ तो यह भी स्वीकार करते हैं कि महाकाल मन्दिर में विक्रम की सुवर्ण प्रतिमा थी, वह मुगल काल में नष्ट हुई है।

रही 'मुद्रा' की प्राप्ति, सो चन्द्रगुप्त की विक्रमांकित मुद्रा यदि कुछ काल पूर्व ही मिली है और उस पर विक्रमोल्लेख मिल गया है तो अभी भारत का समस्त भू-गर्भ संशोधन नहीं हो गया कि अन्य प्रमाण प्राप्त न होंगे। '50 (अब 52) वर्ष चन्द्रगुप्त की मुद्रा हो मिले हुए हैं। तभी से स्मिथ ने हमें भ्रमित किया है और उस भ्रम की बालुका पर हमारा विक्रम चन्द्रगुप्त की उपाधि में प्रतिष्ठित होकर बौद्धिक गति की सीमा स्वरूप बन बैठा है किन्तु कुछ ही वर्ष के पहले भारत में यह भी ज्ञात था कि चन्द्रगुप्त का जनक समुद्रगुप्त भी 'विक्रम' था। चतुर्थ शताब्दी के इस ऐतिहासिक अन्धकार पर भी कितनी शताब्दियों के पश्चात् आज प्रकाश किरण पड़ी है, किसे ज्ञात है कि आगे चलकर प्रथम विक्रमादित्य का भी कोई चिह्न हस्तगत (प्रकट) हो जाए। मालव मही के अनंतोज्ज्वल इतिहास पर न जाने कितने रजकण सम्पुट पड़े हुए हैं। उन स्तरों को खोलकर किस 'प्रज्ञा' ने अन्तर की सुविस्तृत प्रकाश-राशि को निहारने का प्रयत्न किया है?

'कृत' संवत् के विषय में तो ज्ञान विमलोपाध्याय ने बहुत पूर्व कृति का विक्रम संवत् होना स्वीकार किया है। यथा—

"श्री मद्विक्रमनृपतौ निःक्रान्तेतीवकृतवर्षे"

(पी॰ पी॰ 2.128)

अर्थात् 'विक्रम नृपति से लेकर कृत वर्षों के अतिव्यतीत हो जाने पर' इसमें विक्रम और कृत की अभिन्नता उस काल में परिगणित थी, यह स्पष्ट प्रकट हो जाता है, इस विषय पर पर्याप्त चर्चा हो चुकी है।

आज सभी इतिहासज्ञों का मतैक्य है कि महाकवि एवं नाटककार भास प्रथम शती से भी कला का यहां प्रबल भाव था स्वतः महाकवि कालिदास ने भास को अपना पूर्ववर्ती मानकर (मालविकाग्नि मित्र) में उसका उल्लेख किया है। चाहे वह शुंगकालीन हो, या पश्चात् कालीन, परन्तु इतना स्पष्ट है कि वह ईसवी सन् के पूर्व प्रथम शतक का है। कालिदास को भास से पूर्ववर्ती तो किसी प्रकार माना ही नहीं जा सकता किन्तु कुछ लोगों के मतानुसार पांचवीं-छठी शती का मानने में यह बाधा आती है कि मन्दसौर के इससे पूर्व कालीन (ई॰ स॰ 473 के) शिलालेख में कालिदास की प्रचुर कल्पनाओं के प्रयोग मिलते हैं अस्तु, भास की कला और प्रयोगों से भी कालिदास की कला में विशेष विकास हुआ है। भास के उपलब्ध नाटकों में स्पष्ट रूप से शुंग या विक्रमकालीन किसी भी

घटना की छाया नहीं मिलती है। वह प्रद्योत, उदयन, वासवदत्ता की चर्चा तक ही अपने को सीमित रखता है। इतना तो विशद है कि भास को मालव भूमि का अधिक से अधिक परिचय है इसलिए यह तो सम्भव नहीं कि वह मालव की वासवदत्ता जैसी तत्काल घटी हुई महत्त्वपूर्ण घटना से अज्ञात रहता।

भास के एक नाटक में—जो शायद उसका पश्चात् कालीन (वार्द्धक्य-विनिर्मित) हो, मालव के एक ऐसे राजा का वर्णन है; जो समस्त पृथ्वी का एकच्छत्र शासक था। निश्चय ही यह पुष्यमित्र अग्निमित्र तो हो नहीं सकता। भास ने परचक्राक्रमण की भी चर्चा की है और अपने वर्णित राजा को 'दिग्विजयी' भी सूचित किया है। उस राजा का नाम उसने राजसिंह बतलाया है। यथा—

'इमां सागरपर्यन्तां हिमवद्विन्ध्य कुण्डलां,
महीमेकातपत्रांकां राजसिंहः प्रशास्तु नः।'

इस श्लोक के अनुसार समस्त सागर पर्यन्त और हिमालय से लेकर विन्ध्य पर्वत से आवृत्त एकातपत्र मही का शासक राजसिंह था। इसी प्रकार एक जगह अन्यत्र भी 'इमामपि मही कृत्स्नां राजसिंहः प्रशास्तु नः' कहकर जिस राजसिंह की साम्राज्य सत्ता प्रकट की है, वह यदि भास की दृष्टि में अपने वार्द्धक्य में विक्रम ही हो तो आश्चर्य नहीं, क्योंकि शुंगों का इतना बड़ा प्रभाव तो नहीं रहा है और मालव-भूमि पर इस समय ऐसा कौन-सा राजा पराक्रमशील हो सकता है? और यह राजसिंह किसका नाम होना चाहिए। भास की कालिदासीय स्पर्धा तो पूर्ववर्ती और सम सामयिकता की ही द्योतक हो सकती है।

जब यह राजसिंह शब्द भी 3-4 शतियों के पश्चात् द्वितीय चन्द्रगुप्त को अपने नाम के साथ लगाते हुए पाते हैं तो हमारा सन्देह और भी पुष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार चन्द्रगुप्त अपने नाम को विक्रमादित्य की उपाधि से अलंकृत कर लेता है, ठीक उसी प्रकार वह राजसिंह भी धारण कर लेता है। सम्भवतः यह दोनों नाम चन्द्रगुप्त ने प्रबल प्रतापशाली एकच्छत्र मालवीय सम्राट विक्रमादित्य के ही लगाए हों। जो लोग चन्द्रगुप्त को प्रथम विक्रमादित्य ही मानने का दुराग्रह करते हैं वे देख सकते हैं कि चन्द्रगुप्त ने न केवल विक्रमोपाधि धारण की है किन्तु भास-कथित हिमालय से विन्ध्य पर्यन्त और समुद्र पर्यन्त पृथ्वी के शासक राजसिंह का नाम भी अपने नाम से जुड़ाकर उपाधि लगाने का मोह प्रकट कर दिया है। चन्द्रगुप्त द्वितीयं की मुद्रा पर स्पष्ट अंकित है 'जयत्यजेयो भुवि सिंह विक्रमः' और स्कंदगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त ने भी अपनी मुद्रा पर—'कुमारगुप्तो युधि सिंह विक्रमः' अंकित करवाया है। यह सिंह विक्रम और राजसिंह कोई अन्य नहीं, यही विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त रहे हैं, इसका पीछे भी अन्य ग्रन्थों में उल्लेख हुआ है। यथा 'श्रीमद्विक्रमनगरे राजपक्षी-राजसिंह नृप राज्ये'

(पी० पी० 2.128) इसी प्रकार दमयन्ती चम्पूवृत्ति (15वीं शती) में भी आया है—(श्री विक्रम वंशोदभव सद्विक्रम राजसिंह नृप राज्ये)।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह प्रकट हो जाता है कि सिंहविक्रम और राजसिंह नाम अथवा उपाधि सभी एक ही हैं और इनका प्रयोग चन्द्रगुप्त ने सानुराग कर लिया है। ज्ञानविमलोपाध्याय और दमयन्तीचम्पूवृत्तिकार ने 'विक्रम नगरेराजन श्री राजसिंह नृपराज्ये' और 'विक्रमवंशोद्भव विक्रम राजसिंह नृप राज्ये' में जिस विक्रम का उल्लेख किया है वह चन्द्रगुप्त द्वितीय ही होना चाहिए और यह विक्रम 'वंशोद्भव' होना चाहिए। दमयन्ती वृत्तिकार विक्रमोपाधियुक्त था अतएव वही विक्रमवंशोद्भव हो सकता है और 'भास' के एकातपत्र राजसिंह को भी अपने नाम के साथ अपना लेने के कारण उसकी उपाधिप्रिय प्रवृत्ति को भी पोषण मिलता है। जिस प्रकार चन्द्रगुप्त 'भास' के राजसिंह को अपने में आत्मवत् कर लेता है, उसी प्रकार तत्पूर्व कालीन विक्रमादित्य का भी सम्मान वह अपने नाम में जुड़ाकर आत्म-परितोष कर लेता है किन्तु यही स्मिथ प्रभृति आधुनिक विद्वानों के लिए भीषण भ्रम का कारण बन बैठता है।

किंतु विद्वानों का एक बड़ा दल विशेष प्रथम विक्रमादित्य के परिचय चिह्नादिक के अभाव में भी आज जगत् में उसका स्वतन्त्र अस्तित्व मान्य करता है, और द्वितीय चन्द्रगुप्त के स्वयं विक्रम पद धारण कर लेने पर भी अविश्वास और आशंकाएं प्रादुर्भूत होती रहती हैं इतिहासविदों को चन्द्रगुप्त की प्राप्त मुद्रणाएं उपाधियों ने भी विश्वस्त नहीं बनाया है वे चन्द्रगुप्त को ही 'विक्रमादित्य' नहीं मान लेना चाहते। इस नाम को अतिश्रमशील संशोधन भी ऐतिहासिकता का उचित अंश प्रदान नहीं कर सकता है। विवश होकर सहजोपलब्ध बुद्धि से अपनी रथ-गति का पथ स्मिथ की भ्रांत धारणा को, जो धारणा के तट पर ही इति कर बैठता है परन्तु उपाधिधारी चन्द्रगुप्त द्वितीय चन्द्रगुप्त को जो धारणा विक्रम बनाती चली आ रही थी, वह आज इतिहास जग के समक्ष लगभग महत्त्वहीन सिद्ध हो चुकी है। कोई भी आज केवल चन्द्रगुप्त को ही विक्रमादित्य स्वीकार करने को तैयार नहीं है और द्विसहस्राब्दी के देश-व्यापी ओजस्वी स्वर ने यह और भी संयुक्तवाणी में घोषित कर दिया है। ई० सन् 57 वर्ष पूर्व जिस विक्रमादित्य ने अमर-संवत की स्थापना की है, वही जगत् की वन्दनीय विभूति विक्रमादित्य है।

कृत और मालव संवत् के प्रयोग काल में देश में अनेक उत्थान-पतन हुए। शासनों में महान परिवर्तन भी हुए, गुप्त साम्राज्य की नींव भी सुदृढ़ बनी, परन्तु काल-गणना की लोकप्रियता ने 'विक्रम-संवत्' को छोड़, किसी अन्य को न केवल उसी समय, किन्तु दो हजार वर्ष बीत जाने पर भी यह सम्मान-स्मृति स्थान अर्पित नहीं किया। चन्द्रगुप्त को उसके अस्तित्व काल में भी और शता-

ब्दियों तक 'मालव-संवत्' काल-गणना को स्वीकृत करते रहना पड़ा, उसका नाम प्रत्यक्ष में भी संवत् से नहीं जुड़ा है। चन्द्रगुप्त ने कहीं अपना नाम केवल 'विक्रम' या 'विक्रमादित्य' अंकित नहीं करवाया है। वह 'चन्द्रगुप्त' ही बना रहा है, चाहे इस नाम के साथ विक्रम जुड़ा हो। तब केवल 'विक्रम-संवत्' की संज्ञा से चिरकाल से बोधित होने वाला संवत् 'चन्द्रगुप्त' का क्यों माना या बनाया जाए?

हमारी लोककथा और जन-श्रुतियों को भी उपेक्षित नहीं किया जाना चाहिए। उसका आदि स्रोत खोजने का यत्न किया जाएगा तो हमें ठेठ सृष्टि-काल पर्यन्त जाना पड़ेगा। मानवीय इतिहास के अलिखित प्रथमाध्याय में भी जन-श्रुतियों का अस्तित्व उपलब्ध होगा। लोक-कथाएं केवल गुण-गाथा ही नहीं, जन-जीवन की श्रुत-स्मृतियां हैं हमारे पूर्वजों की परम्परा इतिहास और हमारी मानव जाति की आद्य गाथा है। विश्व के काव्य, साहित्य की जननी है। लोक-जीवन के विकास के साथ-साथ ही इनकी व्यापकता है। भूत और वर्तमान को वहन कर इन्हीं ने अमरता प्रदान की है। इन्द्र और वृत्र की ऋग्वेद कथा, उर्वशी और पुरूरवा की गाथा, शुनःशेप और हरिश्चन्द्र की महत्ता की तरह कोटि-कोटि जनवाणी ने विक्रम को भी प्रत्येक मानव-हृदय में अमर सिंहासन पर समासीन कर दिया है। अनुश्रुतियों की उपेक्षा आत्म-प्रवंचना ही है। अतएव जनता जिस विक्रमादित्य को अनेक अनुश्रुतियों के रूप में सादर हृदय में समासीन किए हुए सहस्राब्दियों से चली आ रही है, वही प्रथम विक्रमादित्य है और संवत् उसी का पवित्र नाम धारण कर अद्यावधि-स्मृति चक्र-वहन किए जा रहा है।

निःसंदेह अनेक उत्थान-पतनों के बीच से गुजरकर अचल-हिमालय की तरह स्थिर रहने वाला यह संवत् हमारे राष्ट्र की चिर-संचित निधि और महान धारणा की स्मृति ही है, राष्ट्र का गौरव है। कीलहार्न प्रभृति विदेशी विद्वानों के विषय में तो लेखनी को श्रम देना ही व्यर्थ है, क्योंकि वे विक्रम के अस्तित्व से ही मुंह मोड़ते हैं, और 'संवत्' को 'शरदाक्रमण' का प्रतीक मानते हैं।

स्व० डॉ० जायसवाल जी की मान्यता जैन-ग्रन्थों के वैयर्थक-विश्वास पर निर्भर रही है। उनका शातकर्णि कदापि विक्रम नहीं रहा है और न कहीं उसके इस उपाधि धारण करने का कोई प्रमाण ही उपलब्ध है। परन्तु स्मिथ की तरह इस धारणा का भी अनुकरणप्रिय सम्प्रदाय ने प्रचार किया है। यह संवत् के आरम्भ काल में न तो उत्पन्न हुआ है, न इस देश में इतनी लोकप्रियता का अधिकारी ही है।

विक्रम के विषय में विद्वानों में भले ही भ्रान्त धारणाओं ने स्थान ग्रहण किया हो, किन्तु विश्व के इतिहास और साहित्य में विक्रम के पवित्र नाम, न्याय-

परायणता, उदारता, लोकप्रियता, परदुःभंजनता आदि के विपुल विवरण भरे पड़े हैं। यही उसके अस्तित्व और अपूर्व लोकप्रियता के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

पुरातन संस्कृत साहित्य से लेकर प्राकृत, पैशाची, अपभ्रंश, साहित्य में तथा विदेशी यात्रियों के विभिन्न विवरणों में—यथा अलबेरूनी आदि के—कहीं भी 'विक्रम' को शताब्दियों पूर्व भी अन्य नामांतर से संयुक्त-उपाधि रूपेण, अन्य प्रकार से प्रतिपादित नहीं किया गया है। यूनानी, अरबी साहित्येतिहास में भी विक्रम को केवल 'विक्रमादित्य' ही मान्य किया गया है। ये ऐसे प्रबल प्रमाण हैं कि इनमें संदेह आरोपित करके चन्द्रगुप्त को या किसी और की यह संज्ञा 'उधार' देने की आवश्यकता नहीं है।

'हाल' ने अपनी गाथा में जिस विक्रमादित्य की दानशीलता (चरणेन विक्रमादित्य चरितमनुशिक्षितं तस्याः) वर्णित की है, गुणाढ्य ने जिसे 'आक्रमिष्यति सद्वीपां पृथ्वी विक्रमेण यः 'विक्रमादित्य संज्ञकः' तथा परिमल ने जिसे 'ददर्श यस्यांपदमिन्द्रकल्पः श्री विक्रमादित्य इति क्षितीशः' कहकर ससम्मान अपने साहित्य में प्रतिष्ठित किया है तथा 'बाण' के पूर्ववर्ती कविराज सुबन्धु ने जिस विक्रमादित्य के संसार से उठ जाने पर महान शोक प्रदर्शित किया है (सरसीव-कीर्तिशेष गतवतिभुवि विक्रमादित्ये) वही महान्-विक्रमादित्य हमारा अभीप्सित है और उसी विश्व प्रसिद्ध उज्जयिनीनाथ, जन-हृदयासीन विक्रमादित्य ने यह स्मरणीय संवत् ई० सन् के 57 वर्ष पूर्व आरंभ किया है। जो लोग विक्रम को केवल चन्द्रगुप्त तक ही ले जाकर विश्रान्ति ले लेते हैं वे कविवर 'हाल' की गाथा की जान-बूझकर उपेक्षापूर्ण अवहेलना करते हैं और गुणाढ्य के दो विक्रम होने की जानकारी को भुलाकर अपनी आत्म-प्रवंचना कर बैठते हैं। हजार वर्ष के पूर्व का गुणाढ्य भी चन्द्रगुप्त के अतिरिक्त उज्जैन के एक स्वतन्त्र शकारि, सम्राट विक्रम के अस्तित्व को मुक्त कंठ से स्वीकार कर रहा है। जैन ग्रन्थों की तो परम्परा-सी है जो प्रथम शती में विक्रम को स्मरण करती है। यहां तक कि एक पुस्तक में तो विक्रम-संवत् का भी उल्लेख किया गया है। कालिदास ने शाकुन्तल में 'विक्रमादित्य अभिरूप भूयिष्ठा परिषद' जिसके लिए कहा है; यह चन्द्रगुप्त नहीं आदि विक्रमादित्य है।

स्व० सी० व्ही० वैद्य महोदय ने कालिदास को विक्रम का सम-सामयिक माना है। रघुवंश के पाण्ड्यों के वर्णन से उन्होंने यही मत स्थिर किया है कि ईसा पूर्व 53 वर्ष (पाण्ड्यकाल में) कालिदास का अस्तित्व था। अभिनन्दन कवि ने अपने श्लोक में यह उल्लेख किया है कि—'कीर्तिकामपि कालिदास कवयो नीता शकारातिना' इसमें कालिदास की कृति की ख्याति शकाराति (शक विजयी विक्रम) की की गई है, इसकी संगति वास्तविक ही है।

स्व० वैद्यजी ने अनेक प्राच्य और पौर्वात्य संशोधकों के मतों का प्रबल

प्रमाणों द्वारा खण्डन करके यही सिद्धांत प्रतिपादित किया है कि चन्द्रगुप्त या यशोधर्मन को सच्चा विक्रमादित्य बना देने के प्रयत्न की कोई आवश्यकता नहीं है। वास्तविक विक्रम ई० सन् पूर्व 57 वर्ष में ही हुआ है। उसी ने शकों को पराजित करके भारत में सार्वभौम सत्ता की स्थापना की थी। डॉ० कीलहार्न के इस तर्क का कि संवत् आरम्भ होने से पूर्व किसी घटना, वृत्त या व्यक्ति के कारण भूत बनने की आवश्यकता होती है। उत्तर देते हुए वैद्यजी ने उन्हीं से यह प्रश्न किया था कि—'फिर यह मालव-संवत् किसने उत्पन्न किया?' आज भी इतिहास-वेत्ताओं से यही प्रश्न उत्तर की आकांक्षा लिये है कि किस महान्-घटना, कारण या व्यक्ति ने ई० सन् के 57 वर्ष पूर्व इस मालव काल-गणना को प्रचलित किया है?

अवश्य ही मालवों के अतुल पराक्रम के कारण यह प्रकट हुआ होगा और यह 'संवत्' आरम्भ करने जैसी महत्त्वपूर्ण घटना शक-विजय ही हो सकती है। 'स्मिथ' की मान्यता के अनुसार भी प्रथम शती के पूर्व-काल में भारत में शकों की टोली आ गई थी। इससे यह धारणा पुष्ट होती है कि ई० सन् 60 के निकटवर्ती अवतरित हाल राजा ने जिस विक्रमादित्य का वर्णन किया है वही ई० सन् 57 वर्ष में संवत्-प्रवर्तक होना चाहिए। यदि तत्कालीन लेखों में विक्रम का नाम अंकित नहीं है, तो यशोधर्मन, चन्द्रगुप्त, स्कंदगुप्त आदि के काल में अंकित शिलाओं में भी तो उसी मालव-संवत् का प्रयोग है। यही छठी सती तक अन्यान्य विक्रमोपाधिधारियों के लिए भी प्रयुक्त है।

पहले कहा जा चुका है कि स्मिथ ने शकों की पहली टोली का भारत में ई० सन् के पूर्व में आना स्वीकार किया है, तो प्रश्न यह उठता है कि फिर इस टोली को भगाया किसने और कब? अलबेरूनी ने लिखा है कि 'शकारि विक्रमादित्य ने कोरू (मुल्तान) में शकों का पराभव किया।' तो क्या इस पहली सदी की शक-टोली का विजेता विक्रम वही नहीं है, जो संवत् प्रवर्त्तक है? स्व० डॉ० जायसवाल इस विजय का श्रेय गौतमीपुत्र शातकर्णि को देना चाहते हैं और इसे ही प्रथम विक्रमादित्य मान लेना चाहते हैं। डॉ० जायसवाल इतने अंश तक तो सहमत हैं कि शक-टोली इस समय भारत में आयी थी और उसका उच्छेद किसी विक्रम ने किया था। पर हमारा नम्र मतभेद उनसे यही है कि शक-विजेता शातकर्णि न होकर प्रथम विक्रमादित्य वास्तविक ही था। राजशेखर की मान्यता में सातवाहन, सालवाहन, शातकर्णि एक ही नाम के विभिन्न पर्याय हैं। इसी को लक्ष्य करके जो पद्य लिखा गया है—'अतीते विक्रमादित्ये गतेस्तः सातवाहने' वह विक्रमादित्य के सातवाहन की भिन्नता स्पष्ट प्रमाणित करता है। हमें तो इतना ही समाधान है कि ई० सन् 57 वर्ष पूर्व का विक्रमादित्य ऐतिहासिक पुरुष है।

विचित्र घटना-क्रम है कि इस देश के विद्वान ही विक्रम के विषय में भ्रम का प्रचार कर रहे हैं और स्वतः भ्रमित हो रहे हैं। परन्तु अतीतोज्ज्वल काल में उज्जयिनी के विक्रम की साहित्यिक-सांस्कृतिक श्री सुरभि ने समस्त जग को मुग्ध-मधुलुब्ध मधुप की तरह समाकर्षित कर रखा था। हजरत मुहम्मद (सन् 622 वर्ष पूर्व) से लगभग 23-24 सौ वर्ष पूर्व (अर्थात इस्लाम के बहुत पूर्व) अरब के कवियों ने मक्का मन्दिर में अपनी कविता का पाठ किया था और सर्वश्रेष्ठ स्थानीय कविताएं सुवर्णपात्रों पर अंकित कर उसी पवित्र स्थान में सुरक्षित रख दी जाती थीं। 13-14 सौ वर्ष पूर्व मक्का पर इस्लामी आक्रमण के अवसर पर ये नष्ट कर दी गई थीं। परन्तु हजरत मुहम्मद का समकालीन सहयोगी कवि हसन बिनसाबिक उनमें से कुछ बचाकर उठा लाया था। सुप्रसिद्ध खलीफा हारू रशीद के काल में हसन बिन साबिक का एक वंशज मदीने से बगदाद जाकर हजारों मुद्राओं में उन्हें बेच आया था। उनमें हजरत मुहम्मद से 165 वर्ष पूर्व के जरहम बिनतोई की कविता भी थी जो उक्त सम्मेलन में तीन बार सर्वप्रथम पुरस्कृत थी एवं सुवर्ण-पत्र अंकित कविता में सम्राट विक्रमादित्य को ही अपनी काव्य-सुमनांजलि समर्पित की थी। उसने विक्रम के शासन-काल में समुत्पन्न मानवों को परम सौभाग्यशाली मानते हुए अरब की तत्कालीन सामाजिक अधःपतितावस्था का उल्लेख भी किया है।[1]

---

1. इत्र शप्फाई सनतुल 'विकरमतु' न
   फहलमीन करीमुन यर्तफीहा वयोवस्सम्
   विहिल्ला हाय यर्मीमीन एला मोत कब्बे नरन
   विहिल्लाहा मूही कैदमिन होया य फखरू
   फज्जल असारी नहनोओ सारिमवे जे हलीन
   युरिदुन बिआ बिन कजनबिनयखतरू
   यह सब दुन्या कनातेफ नातेफी विजेहलीन
   अतदरी बिलला ममीरतुन फक्फे तसबहु
   कउन्नी एजा माजकर लहदा बलहदा
   अशमीमान बुरकन कद तोलु हो बतस्तरू
   बिहिल्लाहा यकजी बेनेनावले कुल्ले अमरेना
   फहेया जाउन्ना बिल अमरे बिकरमतुन,

(सैअरुल ओकुल, पेज 315)

अर्थात् वे लोग धन्य हैं, जो राजा विक्रम के समय उत्पन्न हुए, जो बड़ा ज्ञानी, धर्मात्मा और प्रजापालक था। ऐसे समय हमारा अरब ईश्वर को भूल अवश्य ही यह प्रबल-पुण्य-प्रताप-पुञ्ज सम्राट-विक्रमादित्य प्रथम ही है।

अरब शासक भोग-विलास में लिप्त था, छल-कपट को ही लोगों ने वड़ा गुण मान लिया था। हमारे तमाम देश (अरब) में अविद्या का अंधकार फैला हुआ था, जैसे बकरी का बच्चा भेडिए के पंजे में फंसकर छटपटाता है, छूट नहीं सकता, हमारी जाति मूर्खता के पंजे में फंसी हुई थी। संसार के व्यवहार को अविद्या के कारण हम भूल चुके थे। सारे देश में अमावस्या की रात्रि का अंधकार फैला हुआ था। परन्तु अब जो विद्या का प्रातःकालीन सुखदायी प्रकाश दिखलाई देता है, वह उसी धर्मात्मा राजा विक्रमादित्य की कथा है जिसमें हम विदेशियों को भी अपनी दया-दृष्टि से शिथिल कर अपनी जाति के विद्वानों को यहां भेजा, जो हमारे देश में सूर्य की तरह चमकते थे। जिन महापुरुषों की कृपा से हमने भुलाएं हुए ईश्वर, और उसके पवित्र ज्ञान को जाना और हम सत्यपथ पर आये, वे लोग राजा विक्रम की आज्ञा से हमारे देश में विद्या और धर्म के प्रचार के लिए आए थे।

ब्रह्माण्ड-पुराण में—

"सप्तषष्टिच्च वर्षाणि, दशाभीरास्ततो नृपाः।
सप्त गर्दभिनश्चैव मोक्ष्यन्तीमां द्विसप्ततीम्॥
(म० भा० उपा० पा० 3, अ० 37)

इसी प्रकार वायु-पुराण में—

सप्तं वतु भविष्यंति दशाभीरास्ततो नृपाः।
सप्त ग़र्दभिनश्चापि ततोथ दश वैशकाः॥ (उं० अ० 37)

जैन काल-गणना-क्रम के अनुसार विक्रम-संवत् का आरम्भ महावीर निर्वाण से 470 वर्ष पश्चात्, अर्थात वही ई० सन् के 57 वर्ष पूर्व से ही होता है जैन श्वेताम्बरीय साहित्य में विक्रमादित्य पर जितना अधिक लिखा गया है, उतनाअन्य किसी साहित्य में उपलब्ध नहीं है। दिगम्बरीय-ग्रन्थों में भी उल्लेख है, किन्तु उतना नहीं, अत्यल्प है। शक एवं विक्रम-संवत् का जैसा अंतर है, उसी प्रकार दोनों समुदायों की उक्त काल-गणना में है। श्वेताम्बरीयों के मत में महावीर निर्वाण से विक्रमाब्द का आरम्भ 470 वर्ष बाद होता है तो दिगम्बरीय मतानुरूप 605 में है। इस अन्तर की संगति विक्रम और शक संवत्-गणना से क्रमशः लग जाती है। हां, जैन ग्रंथ सभी विक्रम संवतारंभ की घटना में गर्दभिल्ल-वंश का प्रमुख सम्बन्ध जुड़ाते हैं! इस विषय में वे एकमत हैं। पुराणों में जिस 'गर्दभिल्ल-वंश' का वर्णन आया है, उसी से जैनों की परम्परा सम्बद्ध हो जाती है! मत्स्य-पुराण में सन्तैवांध्रा भविष्यन्ति दशाभीरास्तथा नृपाः। सप्तव गर्दभिल्लाश्च शकाश्चाष्टादशैवतु" (अ० 273, पृ० 296) के अनुसार 7 आन्ध्र, 10 आभीर, 7 गर्दभिल्ल और 18 शक राजा के होने का उल्लेख है।

जैन ग्रंथ 'तिवृयोगाली' में गर्दभिल्ल वंशियों का शासनकाल 100 वर्ष लिखा है। तब 'मेरुतुंग' ने गर्दभिल्ल 17, विक्रमादित्य 50, धर्मादित्य 40, भाईल्ल 11, नाईल्ल नाहड 10 इस प्रकार गर्दभिल्ल आदि 6 पुरुषों में 152 वर्ष का समावेश कर दिया है। किन्तु यह अधिक हो जाता है, ऐसी स्थिति में प्रसिद्ध वीर निर्वाण और जैन कालगणना के समीक्षक पण्डित मुनि कल्याण विजयश्री का यह अभिमत है कि 'विक्रमादित्य' और धर्मादित्य, बलमित्र एवं नभःसेन से भिन्न नहीं है। विक्रमादित्य और धर्मादित्य का राजत्व-काल मेरुतुंग क्रमशः 60 और 40 वर्ष मानते हैं, तब अनुक्रम से बलमित्र और नभःसेन ने भी 60 और 40 वर्ष राज्य किया है। मेरुतुंग विक्रमादित्य को गर्दभिल्ल का पुत्र लिखते हैं। (तदनु गर्दभिल्लस्यैव सुतेन विक्रमादित्येन राज्ञो-ज्जयिन्यां राज्यं प्राप्य सुवर्णपुरुष सिद्धिवलात् पृथ्वीमनृणां कुर्वता विक्रमसंवत्सरः प्रवर्तितः) इसके अनुसार तो बलमित्र को भी गर्दभिल्ल का पुत्र, या वंशज होना चाहिए, क्योंकि गर्दभिल्ल के बाद वह उज्जैन में राज्याधिकार प्राप्त करता है। बलमित्र-भानुमित्र, 12 वर्ष तक उज्जैन का शासन करते हैं और इसके बाद संभवतः इन्हीं का पुत्र या वंशज नभःसेन 40 वर्ष तक उज्जयिनी का राज्य करता है। ये 52 वर्ष गर्दभिल्लों के 100 वर्ष में जोड़ देने से 152 वर्ष का गर्दभिल्लों का लेखा भी मिल जाता है। और दर्पण 1, बलमित्र 2, भानुमित्र 3, नभसेन 4, भाईल्ल 5, नाईल्ल 6, और नाहड 7। इस प्रकार गर्दभिल्लों की पुराणोक्त (सप्त-गर्दभिल्लाश्चैव) संख्या भी मिल जाती है।

स्पष्ट है कि—"जब संवत्सर की प्रवृत्ति हुई वहां तक जैनों में महावीर निर्वाण के संबंध में कोई मतभेद नहीं था। परन्तु पूर्ववर्णित 52 वर्ष के इधर-उधर हो जाने के बाद जब "विक्रम राज्याणंतर तेरस वश्सेहि वच्छर पविती" के अनुसार वीर निर्वाण के 470 वर्ष के बाद विक्रम राजा हुआ, और पृथ्वी को उऋण करके राज्य के 13वें वर्ष में उसने अपना संवत्सर चलाया। इस प्रकार की मान्यता रूढ़ हो जाने के बाद 13 वर्ष के आधिक्य वाली मान्यता का समर्थन भी किया जाने लगा।

प्रभावक-चरित्र के जीवदेव सूरिप्रबन्ध में प्रभाचन्द्रसूरि ने लिखा है कि जिस समय जीवदेव सूरि वायट नगर में थे, उस समय विक्रमादित्य अवन्ती में राज्य करता था। संवत्सर-प्रवृत्ति के निमित्त पृथ्वी का ऋण चुकाने के लिए राजा ने अपने मन्त्री 'लावा' को वायट भेजा, जहां उसने महावीर मन्दिर का जीर्णोद्धार करवा कर विक्रम-संवत 7 में जीवदेवसूरि के हाथ ध्वज दण्ड प्रतिष्ठा करवाई (मूल श्लोक इस प्रकार है—"इतः श्रीविक्रमादित्य शास्स्यवंती नराधिपः आनृणांपृथिवीं कुर्वन् प्रावर्तयत वत्सरम्" वायटे प्रषितामात्यो लिबाक्यस्तेन भूभुजा···संवत्सरे प्रवते स षट्षु पूर्वतः। गतेषु सप्त मस्यांत प्रतिष्टां।)

इसी प्रकार 'पावापूरी' कल्प में भी जिन प्रभसूरि ने इसी आशय का उल्लेख किया है कि—महावीर निर्वाण के अनन्तर पालक, राजा अवन्ती में अभिषिक्त हुआ। (युग-प्रधान स्तोत्र के पत्र में भी। ऐसी गाथा है कि—"मह निव्वाण-निसाए गोयमं पालय निवोअवन्तीए" अर्थात् जिस रात को महावीर निर्वाण हुआ उसी दिन अवन्ती में पालक राजा अभिषिक्त हुआ। इसको समर्थन देने वाली एक गाथा "तित्तथ्योगाली" में है—जरयर्णी सिद्धगओं अरहा तीत्यंकरोमहावीरों त रयणीमवतीए, अभिसत्तों पालओं राया।" नन्द, चन्द्रगुप्त आदि राजाओं के बाद 470 वर्ष पूर्ण होने पर विक्रमादित्य राजा होगा। वह सुवर्ण-पुरुष को सिद्ध करके पृथ्वी को उऋण कर अपना संवत्सर चलायेगा···
"ततौ विक्रमइचों सो साहिय सुवण्ण परिसों पुहवि अरिपां काउं निय संवच्छर पवतेही।"

इन उल्लेखों से यह तो स्पष्ट झलकता है कि वीर निर्वाण से 470 वर्ष बाद विक्रमादित्य राजा हुआ, और उसके बाद कालान्तर में उसने अपना संवत्सर प्रचलित किया।

माधुरी वाचनावली का मतोल्लेख करते हुए जैन—संशोधकों ने बतलाया है कि इनके मतानुरूप वीर-निर्वाण और विक्रम-संवत्सर का अंतर 470 वर्ष का था। इस मान्यता को व्यक्त करते हुए कहते हैं—

विक्रम रज्जारम्भ पूरऔ मिरीवीर निव्वुई भणिया सुन्नमुणि वेयजुतो विक्रम कालाड जिणकालो (यह गाथा मेरुतुंग की स्थविरावलि धर्म घोषा की काल सप्ततिका एवं प्रकीर्ण गाथापत्रों में भी अनेक जगह है।)

तात्पर्य यह है कि विक्रम के राज्यारंभ के 470 वर्ष पूर्व वीरनिर्वाण हुआ, इसलिए विक्रम-काल में 470 वर्ष मिला देने से जिनकाल होगा। इस मान्यता के उत्तर में वालभी वाचानुयायी कहते हैं कि—नहीं, विक्रम-काल 470 वर्ष नहीं 483 वर्ष बढ़ाने से जिनकाल आएगा। क्योंकि 470 वर्ष का अन्तर भी तो विक्रमादित्य और वीर निर्वाण का है। राज्यारंभ के बाद 13 वर्ष में विक्रम संवत् प्रवृत्त हुआ। इसलिए 470 में 13 जोड़ने से ही विक्रम संवत् का अन्तर निकलेगा। इसके समर्थन में एक गाथा भी है—

"विक्रम राज्जाणंतरं दे तेरस्त वासेसु वच्छर पवित्ती"

अर्थात् विक्रम के राज्यानंतर 13 वर्ष के बाद संवत्सर प्रवृत्ति हुई। इस गाथा का उल्लेख किसी भी मौलिक ग्रंथ में नहीं है। बड़ौदा के एक भण्डार के प्रकीर्ण पुराण-पृष्टों में देखी है तथा विचार श्रेणी (मेरुतुंग) के परिशिष्ट में भी है और वहां यह ग्रंथ में स्पष्ट नहीं लिखा है कि विक्रम राज्य के किस वर्ष में संवत् की प्रवृत्ति हुई थी। परन्तु अनेक लेख यह तो अवश्य कहते हैं कि

निर्वाण से 470 वर्ष में विक्रम का राज्य प्रारम्भ हुआ और उसके बाद में संवत्सर प्रचलित हुआ।

चन्द्रगुप्त द्वितीय पर ही अपनी विक्रम धारणा को केन्द्रित कर अनेक इतिहासविदों में सन्देह को सजग कर देने वाला विसेन्ट स्मिथ अपनी अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया के पृष्ठ 1399 पर लिखता है—"भूमकक्षहरात नामक राजा ने शक वंश की स्थापना की थी। सत्रप उनका उपनाम था, यह प्रथम शती के अन्तिम काल में हुआ था। हिन्दू शकों को म्लेच्छ समझते थे, इनमें एक नहपान नामक शक राजा हुआ था। हिन्दू उसके बाद चष्टन नामक राजा या सूबा हुआ था इसकी राजधानी उज्जैन थी। इसके बाद क्रमशः रुद्रामा और रुद्रसिंह इसी वंश में हुए। इसी रुद्रसिंह पर द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रम ने आक्रमण किया था। यह आक्रमण ई० सन् 400 वर्ष के लगभग हुआ था। इसका अर्थ यह होता है कि उज्जैन पर शकों ने दीर्घकाल पर्यन्त शासन किया होगा परन्तु वॉन ग्लासफ अपनी देअर जैनीज यूज पुस्तक में लिखता है थोड़े समय के बाद ही उन शकों का राज्य विक्रमादित्य ने नष्ट कर डाला। यह विक्रमादित्य गर्दभिल्ल राजा का एक पुत्र था। यदि विक्रम गर्दभिल्ल पुत्र ही है तो उज्जैन पर दीर्घ काल तक शकों का शासन बना रहना सम्भव नहीं है क्योंकि शकों ने ही गर्दभिल्ल का शासन छीना था। उसी का पुत्र यदि शक संहर्ता होता है तो किस प्रकार लम्बे समय तक शक शासन स्थिर रह सकता है मालूम होता है कि विक्रम का इतिहास चन्द्रगुप्त विक्रम में मिल गया है। शक युद्ध के चन्द्रगुप्त के साथ जुड़ जाने से भ्रम की सम्भावना हो गई है परन्तु कारूर के शक युद्ध का प्रथम विक्रम से सम्बन्ध होने के कारण भ्रम व्यर्थ है। स्मिथ के अनुसार चन्द्रगुप्त ने सौराष्ट्र के शकों को ई० सन् 390 में परास्त किया।

भविष्य पुराण के प्रतिसर्ग पर्व (ख. 1, अ. 7) में विक्रमादित्य और उसके माता-पिता के विषय में निम्नलिखित वर्णन है : —

"सप्तत्रिंशशते वर्षे दशाब्दे चाधिके कलौ ॥7॥
प्रमरो नाम भूपालः कृतं राज्यं च षटसमाः ।
महामदस्ततो जातः पितुरर्धंकृतंपदम ॥8॥
देवापिस्तनयस्तरूप पितुस्तुल्यं पदं स्मृतम् ।
तस्माद् बन्धसेनश्च पंचाशब्द भूपदम् ॥9॥
कृत्वाच स्वसुतं राज अभिषिच्य वनंगतः ।
शकडेन ततः प्राप्तं राज्यं त्रिंशतसमाः कृतम् ॥10॥
देवांगना वीरमति शक्रेण प्रेषिता तदा ।
गन्धर्वसेन सम्प्राप्य पुत्ररत्नमजीजनत् ॥11॥
पूर्णंत्रिंश शते वर्षे कलौ प्राप्ते भंयकरे ।

शकानांच विनाशार्थमार्यधर्मं विवृद्धयं ।
विक्रमादित्यनामानं पिता कृत्वा मुमोदह ।"

भविषपुराण के उक्त श्लोकों के अनुसार विक्रम का वंश वर्ष और नाम वर्णन इस प्रकार होता है :—

विक्रमादित्य : अस्तित्व विषयक भ्रान्तियां और निराकरण : 27

प्रमर	6	वर्ष
महामद	3	"
देवापि	3	"
देवादूत	3	"
गन्धर्वसेन	50	"
शंख	30	"

विक्रम शासनारंभ

श्लोकोक्त "सप्तत्रिशशते वर्षे दशाब्दे" के अनुसार प्रमर (विक्रमवंश के आदिम) राजा का जन्म कलि के गत वर्ष 1710 में हुआ। उसके पश्चात क्रमशः महामद, देवापि, देवदूत और गन्धर्व सेन का शासन हुआ। गन्धर्वसेन ने शंख को शासक बनाकर वानप्रस्थ ग्रहण किया। किन्तु वहीं इन्द्रप्रेपित देवांगना 'वीरमति' के गर्भ से विक्रमादित्य का जन्म हुआ। शंख के पश्चात् इसी विक्रमादित्य ने शकों के नाश और आर्यधर्म के समुद्धार के लिए शासन-सूत्र ग्रहण किया।

परन्तु श्लोक के आरम्भ में सप्तत्रिंश शतेवर्षे दशाब्दे चाधिके कलौ में 3710 गत कलि में विक्रम के पूर्वज प्रमर का होना सूचित किया है और श्लोकांत के "पूर्ण त्रिंशशते वर्षे कलौ" में पूरे 3000 वर्ष कलि-व्यतीत हो जाने पर विक्रम की उत्पति सूचित की है। अर्थात् विक्रम के पूर्वज प्रमर (3710) से भी विक्रम (3000) प्रथम उत्पन्न हो जाता है। उसमें स्पष्ट असंगति, पाठभ्रम या मुद्रण दोष हो जाना सम्भव है। सम्भवतः 'पूर्ण त्रिंशशते' पाठ होगा। इस पाठ से प्रमरोत्पति से लेकर अन्यकाल गणना की भी संगति लग जाती है।

पुराण-कथित परम्परा की पुष्टि में विवेचक विद्वान करंदीकर जी ने भी अपने विचार प्रकट किए हैं। उनकी विचारसरणि यह है कि ई० सन् पूर्व 100 के लगभग शकों ने अवन्ती और मथुरा पर आक्रमण कर वहां अपना आधिपत्य जमाना प्रारम्भ कर दिया था, इतिहासज्ञ इसे स्वीकार भी करते हैं। शकों के पूर्व शुंगो का शासन होना भी वहां स्वीकार किया जाता है। शुंगों की सत्ता

उक्त प्रांतों में 90 वर्ष तक चलती रही, उनका मुख्य स्थान उज्जैन था। (जायसवाल, पृ० 259) बाद में शुंगों की सत्ता पर प्रमरों का प्रभुत्व हो गया था। उसी वंश के देवदूत का सूत गंधर्वसेन ही गर्दभिल्ल है। उसी के शासनकाल में शकों का आक्रमण हुआ था।-सम्भव है कालकाचार्य ने ही शकों को उकसाया हो ? तत्कालीन शकों का नेता नहपान-भोग, या मार्वस था यह ठीक नहीं ज्ञात होता। यद्यपि इतिहासकारों ने शक-सेनापतियों के विभिन्न नाम दिए हैं। तथापि इस विषय में इतिहासविदों में मतैक्य है कि ई० सन् पूर्व 58 के लगभग कुछ वर्ष तक उज्जयिनी गर्दभिल्ल के हाथ में रही। इसके बाद शीघ्र ही मथुरा पर आक्रमण कर शक राजा मालवे के शासक बन बैठे थे। शक नेता नहपान या भोगा ने मालव पर सत्ता चलाई। किन्तु दूसरी ओर गर्दभिल्लसुत विक्रम (विषय शीला नामक पर) आक्रमण का उद्योग कर रहा था। उसने मालवगणों से संबंध स्थापित कर लिया। इस प्रकार ई० सन् 57 वर्ष पूर्व शकों पर आक्रमण करके उस पर महान् विजय प्राप्त की और उज्जयिनी को पुनः हस्तगत कर लिया। इस दिव्य-यात्रा का वर्णन 'कथासरित्सागर' ने बहुत रोचक-रूप से किया है। इसी विजय के स्मरणार्थ विक्रम संवत का आरम्भ किया गया है। श्रीकरंदीकरजी ने यह भी लिखा है कि भविष्यपुराण कथा की गाथा वहुत अर्वाचीन होने के कारण अविश्वसनीय समझकर छोड़ देने पर भी वायु, मत्स्य, विष्णु आदि पुराणों में भी गर्दभिल्ल के राजों के साथ विक्रमादित्य का वर्णन पाया जाता है।

जहां विद्वान करंदीकरजी ने अल्तेकर प्रभृति पण्डितों के तर्कों को अकाट्य उत्तर देकर उनकी सिद्धांत-साधना को श्लथ-बंधन बना दिया है। वहां 'सूर्य सिद्धांत' की संगति पर नवीन प्रकाश डालकर विक्रम के काल-ज्ञान में 'कृत' संवत् की सुविधा भी सिद्ध कर दी है। जिस सूर्य-सिद्धांत का प्रणेता अपने को कृत काल के अल्पावशिष्ट रहने पर 'मय' नाम से प्रज्ञापित करता है। वह मय कोई अभारतीय या 'असुर' से 'पुण्य-जन' नहीं है। उसके विषय में तो हमारा यही मत है कि मालव-गणों की जो पुरातन मुद्राएं प्राप्त हुई हैं उसमें ब्राह्मी में अंकित एक मुद्रा 'मय' 'मालव' की भी है। उस पर उज्जैन का चिह्न अंकित है। इसी —'मयमालव' के काल में जो 'कृत' वर्ष (कार्ति-कादि) परिगणित किया जाता होगा। वही अल्पावशिष्ट रहा होगा, जिस समय सूर्यसिद्धांत की रचना हुई होगी। श्री करंदीकरजी का तो स्पष्ट अभिमत है कि "कालिदास ने विक्रम की आनुवंशिक-परम्परा की उज्ज्वलता में अपने काव्यों द्वारा पर्याप्त सूचित कर उसका नाम चिरन्तन बना दिया है किन्तु उसके आश्रित सूर्यसिद्धांतकार ज्योतिषी ने तो विक्रम संवत् की स्थापना, और स्वतः उसे ही चिरस्थाई बना देने का प्रत्यक्ष साधन निर्माण कर दिया है। विक्रमा-

दित्य के समय से पूर्व ज्योतिष विषयक सिद्धांत ग्रंथ विशेष रूप से उल्लेखनीय नहीं थे। पचसिद्धांत के नाम से प्रसिद्ध पांच सिद्धान्तों में से रोमक-सिद्धांत उस समय था ही नहीं और पितामह, पुलिस एवं वशिष्ठ सिद्धांत भी अपूर्ण रूपेण दृक-प्रत्यक्ष न करा सकने वाले ही थे। इसलिए विक्रमादित्य ने अपने आश्रित ज्योतिषी को नवीन सिद्धांत ग्रंथ निर्मित करने को कहा।... वह मूल-सूर्य सिद्धांत इस समय उपलब्ध न होने के कारण उसके रचयिता का पता लगा सकना असम्भव हो गया है और वराहमिहिर ने यथाशक्ति सम्बद्ध और संकलित कर लिया, इस कारण अनेकों ने उसे ही निर्माता मान लिया। यही कारण है कि विक्रम के नवरत्नों में कालिदास के साथ उसका नाम भी जोड़ दिया गया है। इसमें यदि कालविपर्यय दोष हुआ है तो वह वराहमिहिर का ही हुआ है। हमारी नम्र-धारणा से प्रथम वराहमिहिर ही वह विक्रम-कालीन है, जिसका होना प्रथम शती में सिद्ध होता है।

शंकर बा० दीक्षित ने अकाट्य सूर्य सिद्धांत की रचना सूक्ष्मानुसंधान से वही निश्चित की है। वह ईसवी सन् से प्रथम शती पूर्व रचा गया है, ऐसी दशा में उक्त सिद्धांत का रचयिता कोई क्यों न हो वह विक्रम-काल में ही हुआ था और उसी के ग्रंथ के आधार पर संवत् की गणना तथा साठ संवत्सरों के चक्रारम्भ होने की प्रथा प्रचलित हुई है। विक्रम संवत् के पूर्व प्राचीन वेदांगकाल की पांच वर्ष की युग-पद्धति प्रचलित थी। 'अल्पावशिष्ट तु कृते' में इस युग पद्धति के अनुसार 'कृत-युग' के अल्पावशेष की सूचना है।

उसके बाद 12 वर्ष से बार्हस्पत्य-चक्र का आरंभ हुआ। उन बार्हस्पत्य वर्षों के गुरु के उन-उन छः महीनों के उदयानुसार चैत्रवर्ष, वैशाख वर्ष आदि के रूप में बारह नाम होते थे। किन्तु सूर्यसिद्धांतकार ने द्वादश-वर्षों में एक-एक तथा युगचक्र दोनों पद्धतियों का मिश्रण कर 12×5=60 संवत्सरों का वर्षगणना चक्र निर्माण कर दिया। इन संवत्सरों के 60 नाम, ग्रंथों में विद्यमान हैं। इस परम्परा और कार्तिक मासादि वर्षारंभ की नवीन पद्धति सूर्यसिद्धांत समय से ही (विक्रम शासनकाल से ही) आरंभ हुई और थोड़े ही समय में दूर-दूर तक प्रचलित हो गई।

विक्रम संवत् 289 के एक लेख में 'मानव-गण-स्थिति-वशात् कालज्ञानाय लिखितेषु' के रूप में स्पष्ट प्राप्त होता है कि यह ग्रंथ सूर्य-सिद्धांत ही होना चाहिए। वि० सं० 461 के लेख में "श्रीर्मालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसंज्ञिते" के रूप में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। "आम्नान" शब्द का अर्थ है—पूज्य ग्रंथोक्त (लेड डाउन इन सेक्रेट टेक्ट्स) अतएव विक्रम-संवत् स्थापित होने के चार-पांच सौ वर्षों में "सूर्य सिद्धांत को पूज्यता प्राप्त हो गई होगी। इस

मालवगणाम्नात कृत संज्ञित संवत्सर का अर्थ सूर्य-सिद्धांतानुरूप प्रचलित संवत्सर ही हो सकता है।

जिस विक्रम की रश्मि-राशि के समस्त भू-मण्डल-ज्योतिर्मय बन रहा था और आज भी जिसके स्मरण मात्र से प्रत्येक भारतीय का मस्तक गौरवोन्नत हो जाता है, वही हमारी वन्दनीय-विभूति है। जिसकी राजधानी उज्जयिनी के वैभव का हृदयग्राही रम्य वर्णन वाण-भास-कालिदास आदि सरस्वती के वरद अमर पुत्रों ने किया है, जिसकी लोकप्रियता की गगन-भेदी दुंदुभि की ध्वनि ने आज हजारों वर्षों से अधिक बीत जाने पर भी प्रतिध्वनि को संदिग्ध बनाए रखा है जिसके द्वात्रिंशत्पुत्तलिकाविनिर्मितसिंहासन की चारु चर्चा ने समस्त देश की अनुश्रुतियों को सजग बनाए रखा है, और जिसकी नवरत्न निर्मित सर-वरेण्यमालिका ने विश्व के विबुधवरों को विवेचनावस्था में अवलम्बित बनाए रखा है, जिसकी दिग्विजय कथा, शकपराभव, संवत् प्रवर्तन और भारतीय संस्कृति समुन्नयन की लक्ष-लक्ष गुण गौरव गाथाओं ने विद्वानों से लेकर अज्ञों-नागरिकों से लेकर ग्रामवासियों तक को अपने अस्तित्व से आश्वस्त बनाए रखा है। वह चाहे इतिवृत्तों के परिगणित पण्डितों की पर-प्रेरित प्रज्ञा में सहज प्रविष्ट न हो सके। परन्तु वह जन-गण के हृदयों में उसकी समस्त सद्भावना और श्रद्धा का आराध्य केन्द्र-बिन्दु बनकर सादर समासीन है। "शक-पह्लव-पवन-निषूदन वर-वरांग "विक्रमादित्य" के नाम में हमारे देश की वह महनीय संस्कृति सन्निहित है जिसकी धुंधली आभामात्र प्राप्त करके हमारा इतिहास दो हजार वर्ष के पश्चात भी अपना मस्तक गर्वोन्नत अनुभव करता है। विक्रम से हम अपने विशाल देश की परतंत्र पीड़ा से मुक्ति दिलाने वाली समर्थ शक्ति की अभ्यर्थना करते हैं, जिसकी पावन स्मृति की धरोहर 'संवत्' वर्ष काल-गणना की स्मरण मणि की तरह इतिहास की शृंखलाएं एक-दूसरे से जुड़ती ही चली जाती हैं।

नवीन प्रकाश

अब विंसेंट स्मिथ की वह धारणा मिथ्या सिद्ध हो गई है जिसमें उसने कहा था कि चन्द्रगुप्त के पूर्व किसी ने 'विक्रम' शब्द अपने साथ नहीं जोड़ा था क्योंकि वर्नाला से प्राप्त समुद्रगुप्त की सुवर्णमुद्रा में उसके साथ 'विक्रम' शब्द जुड़ा हुआ है।

आज से बहुत समय पूर्व 11वीं शताब्दी में कथा सरित्सागरकार सोमदेव को अवश्य ही दो विक्रमादित्य होने का विश्वास था। कथा-सरित्सागर का आधार गुणाढ्य की बृहत्कथा है, जो पैशाची भाषा में रचित है और उसके पुरातनतम होने में कोई संदेह नहीं है। क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथामंजरी' भी पूर्वकाल की कृति

रही है । अस्तु : कथा-सरित्सागरकार को यह ज्ञात है कि एक विक्रम उज्जैन का रहा है और दूसरा पाटलिपुत्र का । कथा के 18वें लम्बक की प्रथम तरंग में स्पष्ट ही बतलाया गया है—

(1) उज्जयिनी सुतः शूरो महेन्द्रादित्यभूपतेः ।
(2) आक्रमिष्यति स द्वीपो-पृथिवी विक्रमेण यः ।
(3) मलेच्छसंधानं हनिष्यति ।
(4) भविष्यंतितु एवैष विक्रमादित्यसंज्ञक ।

इसी 18वें लंबक के तीसरे वाचक में विक्रम की विजय-यात्रा से उज्जैन वापस आ जाने पर उसके सेनानी विक्रम-शक्ति ने अनेक राजाओं का, जो अभिनन्दन करने आए थे, विक्रम से परिचय करवाया है । उस समय देश के विविध भागों के अनेक नरेश थे । यथा—

"गौडशक्तिकुमारोयं कर्णारोप जयध्वजः ।
लाटो विजयवर्मायं काश्मीरोयं सुनन्दनः ।।
गोपालः सिन्धुराजोयं, भिल्लो विंध्यबलोऽयम् ।
निर्मुकः पारसीकोयं नृप प्रणमति प्रभो ।।
सम्राट् सम्मानयामास सामंतान्सेनिकानपि ।

इस प्रकार सम्पूर्ण 18वीं तरंग उज्जयिनीपति विक्रमादित्य की यशोगाथा से अंकित है, इसमें विक्रम को 'सद्वीपा' पृथ्वी का विजेता, असाधारण शौर्य, वर्चस्व वाला वीराग्रणी बतलाया है ।

चौथे तरंग के 7वें लंबक की घटना में विक्रम को दूसरी तरह वर्णित किया गया है । जैसे—

(1) विक्रमादित्य इत्यासीद्राजा पाटलिपुत्रके ।
(2) "अस्ति पाटलिपुत्राख्यो भुवालंकरणं परम् ।
तत्र विक्रमतुश्च गारको राजा"

स्पष्ट ही पटना के विक्रम को राजा कहा गया है । जबकि उज्जैन के विक्रमादित्य को सम्राट, द्वीपान्तर विजेता, म्लेच्छोच्छेता तथा अनेक नरेशों से वंदित बतलाया है । पाटलिपुत्र के नरेश विक्रम को सोमदेव जानता है लेकिन उसकी नरेश से अधिक महत्ता नहीं मानता । यह सैकड़ों वर्ष पूर्व उसके विद्वान की सम्मति है, जिसे दो विक्रम होने की जानकारी रही है ।

कथा-सरित्सागर के उज्जयिनीनाथ विक्रम के कथा-संदर्भ में एक और महत्त्व का संकेत मिलता है—

"उज्जयिनीन्यां सुतः शूरो महेन्द्रादित्य भूपतेः" अर्थात् महेन्द्रादित्य नरेश का वीरपुत्र उज्जैन का विक्रमादित्य । इसमें विक्रम के पिता का नाम, 'महेन्द्रादित्य' बतलाया है । संभवतः 11वीं शताब्दी तक यह नाम परिचित हो तभी सोमदेव

ने निसंकोच प्रकट किया है और उसे प्रमर (पंवार) वंश का बतलाया है। वह माल्यावान नाम का एक शिवगण था। संभवतः इसी माल्यावान के कारण मालव गण का नेता रहा हो। उसने वेदविरोधीजन म्लेच्छों का संहार कर ब्राह्मण-धर्म को पुनः प्रतिष्ठित किया था, बौद्ध धर्म एवं जैनों के दृढ़ दुर्ग मालव में उसने वैदिक धर्म की स्थापना की थी। उसका शैव होना तो प्रसिद्ध है ही। कालिदास ने पुरूरवा और उर्वशी के कथानक से ग्रथित नाटक का नाम 'विक्रमोर्वशीयम्' रखा है। इसमें अवश्य ही रहस्य विदित होता है। संभवतः यह अपने आश्रयदाता का स्मृति संकेत हो। यह तब और अधिक स्पष्ट हो जाता है कि नाटक से सम्बंधित इन्द्र के विविध पर्याय हो सकने पर भी कालिदास अनेक बार विशेष रूप से 'महेन्द्र' शब्द का प्रयोग करता है। यदि कथासरित्सागर के "सुतः श्रीमान् महेन्द्रादित्य भूपतेः" को लक्ष्य में रखकर हम विक्रमोर्वशीय के बार-बार प्रयुक्त 'महेन्द्र' को सावधानी से देखें तो विदित होता है कि कालिदास का भी वही स्पष्ट संकेत है। 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के नीचे उद्धृत वाक्य में महेन्द्र के साथ 'विक्रम' शब्द का प्रयोग पिता-पुत्र के नाम की संगति के लिए ही होना चाहिए—

"दिष्ट्या महेन्द्रोपकारपर्याप्तेनं।
विक्रममहिम्ना वर्धते भवान्॥

इस वाक्य से कथा-सरित्सागर-कर्ता सोमदेव के कथन की संगति बैठती है। इसमें भी अधिक पुत्र-दर्शन के समय 'महेन्द्र' का उल्लेख इसका स्पष्ट संकेत है कि यहां पिता का परिचय पुत्र के साथ जोड़ा गया है—

"प्रथम पुत्र दर्शनेन विस्मृतोस्मि,
इदानीं महेन्द्रसंकीर्तनेन स्मारितः॥ (अंक-5)

(पुत्र को देखकर तो मैं प्रथम बार एकदम विस्मृत हो गया था, किन्तु इन्द्र (महेन्द्र) के नाम का उल्लेख होने पर मुझे दशा का ज्ञान हुआ।)

इसमें विक्रम-पुत्र का महेन्द्र के साथ पितृ-सम्बंध सूचित कर कवि ने सोमदेव के कथन का ही स्पस्ट समर्थन किया ज्ञात होता है। इसी प्रकार एक जगह नाटक में आता है कि रम्भा, अब राजकुमार आयुष का राज्याभिषेक होने दो जिसकी तैयारी महाराज ने स्वयं की है—

"रम्भे! उपनीयता स्वयं महेन्द्रेण संभृतः कुमारस्यायुषो यौवराज्या-भिषेकः।

इन संदर्भों में पिता-पुत्र के नाम एक साथ ऐसे प्रसंग में आए हैं, जिनके महत्व से उज्जैन या मालव-भूमि का प्रेक्षक पूर्ण परिचित रहा है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि संभवतः विक्रमोर्वशीय का अभिनय वयोवृद्ध सम्राट्

महेन्द्रादित्य के उत्तरवय काल में सिंहासन त्यागने (कालिदास के मतानुसार इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं का आदर्श था—"वार्धक्ये मुनि वृत्तीनां योगेनान्ते तनुस्त्यजाम" वन-गमन करने तथा युवराज विक्रम के राज्याभिषेक के समय हुआ होगा। रघुवंश के दिलीप और उसके पुत्र रघु के कथानक तथा कथासरित्सागर में सूचित-महेन्द्रादित्य और विक्रमादित्य के कथानक में बहुत अंश तक समानता प्रतीत होती है।

इससे यही विदित होता है कि कथा-सरित्सागर में कथित विक्रमादित्य का पता महेन्द्रादित्य और कालिदास के विक्रमोर्वशीय का विक्रम एवं महेन्द्र पिता पुत्र होने चाहिए, कवि का यही स्पष्ट संकेत है। अब तक लोक-कथाओं में विक्रम को प्रमरवंशीय मानने की परम्परा की भी कथा-सरित्सागर से 11वीं शती में ही पुष्टि हुई है, जो लोक-कथा के तथ्य को प्रतिपादित करती है।

'विक्रमादित्य' इतिहास की एक उलझी हुई पहेली है। विदेशी-विद्वानों ने इसे बहुत उलझा दिया है। उन्हीं विद्वानों की खोज पर आधार रखने वाले भारतीयों ने भी संदेह को बढ़ाया है जबकि विक्रम-संवत् जैसी सबल-साक्षी के रहते हुए भी हम यह नहीं सोच पाते कि इसका सही निर्माता, या प्रवर्त्तक कौन है? चन्द्रगुप्त द्वितीय ने विक्रम की उपाधि धारण की थी, यह सही है और बम्नाला (नामाड़) से जो 21 सुवर्ण-मुद्राएं प्राप्त हुई थीं, उनमें चन्द्रगुप्त के पिता समुद्रगुप्त के नाम के साथ भी विक्रम जुड़ा हुआ मिला है। ऐसी स्थिति में स्पष्ट है कि एक विक्रम अवश्य ही स्वतन्त्र है, जिसकी महत्ता को अपने नाम के साथ जुड़ाकर अनेक ने अपना गौरव बढ़ाया है। संस्कृत साहित्य के ग्रन्थों में विक्रम का स्वतन्त्र व्यक्तित्व और महत्त्व स्वीकार किया गया है, उसे शकों का पराभवकर्त्ता, और संवत् प्रवर्त्तक माना है। उसका प्रभाव सारे भारत पर ही नहीं, अनेक द्वीपों पर रहा है। रोम, यूनान, अरब राष्ट्रों पर भी प्रभाव रहा है। 2000 वर्ष बीत जाने पर भी उसकी यशोगाथा सर्वत्र जीवित-जागृत बनी हुई है। जो लोग केवल चन्द्रगुप्त द्वितीय को ही एक मात्र 'विक्रम' मानते हैं, वह चन्द्रगुप्त पटना का शासक रहा है। उसका उज्जैन से सीधा सम्बन्ध नहीं आता, वह न तो कभी उज्जैन आया, न उसकी राजधानी कभी उज्जैन रही, विक्रम-संवत् का स्रष्टा उज्जैन का विक्रमादित्य रहा है। जिस बात को लेकर वर्तमान शती के इतिहासज्ञ भ्रांत बने हैं उनकी भ्रांति का निवारण तो सतिदा पूर्व उत्कृष्ट विद्वानों की कृतियों से सहज हो जाना चाहिए था, 11वीं शती में कथा सरित्सागर ग्रन्थ की रचना हुई है। इस ग्रन्थ का निर्माता निर्भ्रम होकर यह जानता है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य पटना में हुआ है और वहां का शासक था, तथा दूसरा विक्रमादित्य उज्जैन का था, जो अत्यन्त वीर और महान्-राष्ट्रोद्धारक था। 11वीं शताब्दी का विद्वान यह जानता है कि प्रथम विक्रम

उज्जैन का है और द्वितीय पटना का, तब हमें आशंकित होने का कोई कारण नहीं होना चाहिए, किन्तु आज का पण्डित प्रथम का अस्तित्व ही समाप्त कर देने पर तुला है। कैसी विडम्बना है। वैसे विक्रम, और कालिदास को लेकर वस्तुतः भारत में खोजने का कोई कार्य होना चाहिए, वैसा नहीं हुआ है। फिर बाहर की खोज का प्रश्न ही कैसे उत्पन्न हो ?

यदि अरब राष्ट्र, रोम, यूनान एवं वृहत्तर भारत के अन्य द्वीपों में खोज की जाय तो आश्चर्य नहीं, बहुत साहित्य के स्रोत उपलब्ध हो जाएं। बौद्ध-काल से लेकर ईसवी-सन् के बाद तक भारत के सैकड़ों विद्वानों का द्वीपान्तरों में सतत आवागमन बना रहा है, और साहित्य-संस्कृति का आदान-प्रदान होता रहा है। उज्जैन से लगभग 18 विद्वान चीन, जापान, कोरिया, जावा, सुमात्रा आदि में प्रचार करने गये हैं और अनेक ग्रन्थों की रचना की हैं, विदेशों में अनुवाद किया है, यदि उन देशों के साहित्य का अनुसंधान किया जाय तो बहुत-सी इतिहास की टूटी हुई कड़ियां जुड़ जाएं। मेरे संपादित विक्रम-मासिक के विक्रम-विशेषांक (संवत् 2000) में अरब राष्ट्र से उज्जैन के सम्बन्ध को जुड़ाने वाली घटना प्रकाशित हुई है।

विक्रम-संवत् इतिहास

☐ श्री भगवतशरण उपाध्याय

प्रस्तुत इतिहास एक बहुत उलझे हुए समय का होने के साथ-साथ संक्षिप्त है। प्रथम शती ई० पू० अथवा प्रथम विक्रमीय शती का प्रायः डेढ़ सौ वर्ष का भारतीय इतिहास प्रचुर प्रश्नात्मक है।[1] इसमें अनेक समस्याएं हैं, अनेक पहेलियां, काफी जटिल। उन पर विस्तारपूर्वक केवल बड़ी पुस्तक में ही विचार किया जा सकता है। इस कारण इस लेख में उस विषय का उद्घाटन परिमित रूप से ही सम्भव है। इसका अपूर्ण होना अनिवार्य और निश्चित है। फिर भी यह लेख इस विषय के एक विस्तृत विवेचन का मार्ग खोल सकता है। यह स्वयं इस प्रकार के अध्ययन की अनुक्रमणिका मात्र है। अस्तु !

प्रथम शताब्दी ई० पू० का भारतीय इतिहास अत्यन्त उलझा हुआ है। अनेक जातियां, देशी और विदेशी, तत्कालीन भारतीय मंच पर अपना अभिनय करती रहीं। इस शताब्दी से शीघ्र पूर्व भारत वर्ष लगभग तीन सौ वर्षों तक साम्राज्य की छाया में रह चुका था। चन्द्रगुप्त मौर्य के नीतिकुशल अमात्य चाणक्य ने अपनी सूझ और अपने अध्यवसाय से प्रायः सारे देश को एक शासन में खींच लिया था और तब से—लगभग 325 ई० पू० से अथवा उससे भी पूर्व नन्द-काल से—प्रथम शती ई० पू० तक मगध साम्राज्य की तूती बोलती रही। इसमें कोई संदेह नहीं कि साम्राज्य सर्वथा एक तो नहीं रह सका और अशोक के देहावसान के बाद ही दक्षिण के आन्ध्र-सातवाहन मौर्य साम्राज्य से दक्षिणापथ के प्रदेश खींच ले गए। शुंगों के समय, उनके शासन के पहिले ही, पूर्व में कलिंग का एक छोटा-मोटा साम्राज्य खड़ा हो गया था और यहां के राजा महामेघवाहन खारवेल ने मगध सम्राट को अपने गजों से डरा दिया

---

1. प्रस्तुत लेख प्रथम शती ई० पू० के कुछ पहले से आरम्भ होकर प्रथम शताब्दी ईसा के बाद तक के प्रायः तीन सौ वर्षों के भारतीय इतिहास से सम्बन्ध रखता है।

था। फिर चाहे हाथीगुम्फा शिलालेख की उसकी प्रशस्ति खोखली क्यों न हो और ग्रीकराज दिमित (Demetrios) ने चाहे युक्रेदित के गृह-विद्रोह के कारण ही अपनी सेना को पाटलिपुत्र और मगध के पश्चिमी इलाकों से खींच लिया हो, खारवेल कम से कम अपनी प्रशस्ति में 'योनराज' को भारत से बाहर भगाने का गर्व तो कर ही सका था। फिर भी मगध किसी न किसी रूप में भारत का साम्राज्य-प्रतिनिधि बना रहा। मौर्यों, शुंगों और कण्वों के साम्राज्य-काल में ग्रीकों और शकों की मगध पर ही चोटें पड़ती रहीं और मगध निरन्तर छोटा होता हुआ भी अपने वैध प्रतिनिधित्व की रक्षा में पिसता रहा।

प्रथम शताब्दी ई० पू० का भारतीय रंगमंच प्रायः पांच स्थलों में विभक्त है। (1) पश्चिमोत्तर का सीमाप्रान्त और पंजाब; (2) मथुरा; (3) मगध का मध्यदेश; (4) सौराष्ट्र, गुजरात और अवन्ती (उज्जयिनी); और (5) आंध्र-सातवाहनों का दक्षिणापथ। इन सब केन्द्रों से कई प्रकार के जातीय-विजातीय कुलों ने देश पर शासन किया और यद्यपि भौगोलिक विस्तार के अनुसार इस इतिहास का वर्णन पश्चिमोत्तर के सीमाप्रान्त अथवा दक्षिणापथ के आंध्रसात-वाहनों से आरम्भ होना चाहिए था, राजनीतिक केन्द्र के कारण हम उसका आरम्भ इस लेख में मध्यदेश अर्थात् मगध से करते हैं।

मगध—पुष्यमित्र शुंग ने 36 वर्षों तक राज्य किया। ई० पू० 148 के लगभग उसके देहावसान के बाद उसका पुत्र अग्निमित्र, जो कभी विदिशा में अपने पिता के साम्राज्य का शासक रह चुका था, सम्राट् बना। अग्निमित्र विलासी था। उसके विलास की कथा गुप्तकालीन कवि कालिदास ने अपने नाटक 'मालविकाग्निमित्र' में लिखी है। इस समय उसकी आयु चालीस के ऊपर थी। उसका शासनकाल केवल आठ वर्षों तक रहा। फिर उसका भाई सुज्येष्ठ अथवा मुद्राओं का 'जेठमित्र' (ज्येष्ठमित्र) मगध की गद्दी पर बैठा और उसने सात वर्ष शासन किया। संभवतः इस समय पुष्यमित्र के कई बेटों ने मिलकर राज किया था। वायु-पुराण के अनुसार पुष्यमित्र के आठ बेटे थे, जिन्होंने सम्मिलित रूप से राज किया।[1] अग्निमित्र ने अपनी विलासिता में भी तलवार काफी मजबूती से पकड़ रखी थी, जैसा उसके विदर्भ-विजय से जान पड़ता है। कालिदास ने उसके रस-प्रिय जीवन का वर्णन और विदर्भ-विजय का उल्लेख साथ ही किया है।[2] सुज्येष्ठ अथवा जेठमित्र के पश्चात् अग्निमित्र का वीरपुत्र वसुमित्र राजा बना। वसुमित्र ने अपनी युवावस्था में ही अपनी वीरता

1: पुष्यमित्रसुताश्चाष्टौ भविष्यन्ति समा नृपाः—वायुपुराण।

2. मालविकाग्निमित्र, अंक 1, पृ० 10-11; निर्णयसागर संस्करण।

का प्रमाण दिया था, क्योंकि पितामह पुष्यमित्र के दूसरे अश्वमेध में घोड़े का संरक्षक वही था। सिन्धुनदी के तट पर यवनों (ग्रीकों) की एक सेना ने उस घोड़े को बांध लिया। इस पर दोनों दलों में बड़ा युद्ध हुआ और अन्त में वसुमित्र ने ग्रीकों को हराकर पितामह के अश्वमेध की रक्षा की।[1] उसका राज-काल दस वर्ष रहा। पुराणों के अनुसार शुंगवंश में दस राजा हुए, परन्तु वसुमित्र के बाद राजाओं के सम्बन्ध में इतिहास प्रायः कुछ नहीं जानता। शुंगों के पांचवें राजा आद्रक (ओद्रक) ने दो वर्ष राज किया। छठे और सातवें राजा क्रमशः पुलिन्दक और घोष हुए जिनमें से प्रत्येक ने तीन वर्ष राज किया और आठवें वज्रमित्र ने नौ वर्ष। भागवत शुंगों में नवां शासक था। सम्भवतः उसी का दूसरा नाम काशीपुत्र-भागभद्र था। काशीपुत्र-भागभद्र का नाम बेसनगर के वैष्णव स्तम्भ-लेख में खुदा मिलता है। उसी राजा के दरबार में तक्षशिला के ग्रीक राजा अन्तलिकित (Antialkidas) ने अपना दूत भेजा था। इस दूत का नाम था 'दिय' (Dion) का पुत्र हेलियोदोर (Heliodores)। हेलियोदोर वैष्णव था और अपने को 'भागवत' कहता था। बेसनगर में उसने विष्णु का स्तम्भ खड़ा किया। भागवत अथवा भागभद्र का शासनकाल पुराणों में बत्तीस वर्ष लिखा मिलता है। शुंगों का अन्तिम राजा देवभूति या देवभूमि था जिसने दस वर्ष राज किया। पुराणों के अनुसार वह व्यवसनी था और उसे उसके मन्त्री वासुदेव ने मार डाला।[2] यह वसुदेव कण्ववंश का ब्राह्मण था। देवभूति की इस दुःखद मृत्यु की चर्चा बाण ने भी अपने हर्षचरित में की है। उसमें लिखा है कि 'वसुदेव ने अपनी दासी से जनी दुहिता द्वारा अतिस्त्रीगामी अनंग-परवश उस शुंग का उसकी रानी के वेश में वध करा दिया।"[3]

---

1. ...सिन्धोर्दक्षिणरोधसि चरन्नश्वानीकेन यवनेन प्रार्थितः। तत उभयोः सेनयोर्महानासीत्संमर्दः।

   ततः परान्पराजित्य वसुमित्रेण धन्विना।

   प्रसह्य ह्रियमाणो मे वाजिराजो निर्वर्तितः ॥15॥ (वही, पृ० 102)

2. देवभूतिं तु शुंगराजानं व्यसनिनं तस्यैवामात्यः कण्वो वसुदेवनामा तं निहत्य स्वयमवनीं भोक्ष्यति।—विष्णुपुराण, 4, 24, 39, पृ० 352, गीताप्रेस संस्करण।

3. अति स्त्रीसंगरतमनंगपरवशं शुंगममात्यो वसुदेवो देवभूतिदासीदुहित्रा देवी-व्यञ्जनया वीतजीवितमकारयत्। हर्षचरित, 6, पृ० 199, बम्बई, 1925। और देखिए पार्जिटर की पुस्तक Dynasties of the Kali Age, पृ० 71।

इस प्रकार क.ण्वायन नृपों का आरंभ शुंगों के अवसान पर लगभग 72 ई० पू० में हुआ। काण्वायनों का कुल अल्पकालिक हुआ। इसमें केवल चार राजा हुए, जिन्होंने कुल 45 वर्ष राज्य किया।[1] इनमें से वसुदेव का शासनकाल नौ वर्ष, भूमिमित्र का चौदह वर्ष, नारायण का बारह वर्ष, और सुशर्मन् का दस वर्ष रहा।

शुंग और कण्व राजाओं के समय में ग्रीक और शक-आक्रमण हुए थे। अन्त में कण्वों के अन्तिम राजा के हाथ से कमजोर तलवार सातवाहन नृपति संभवतः सिमुक ने छीन ली। इन ग्रीक, शक, और सात आक्रमणों का उल्लेख विधिवत् गार्गी-संहिता के युग-पुराण में मिलता है। गार्गी-संहिता ज्योतिष का ग्रंथ है। युग-पुराण उसी का प्रायः प्राचीनतम भाग है, जो उपलब्ध पुराणों में सबसे प्राचीन है। यह श्लोकबद्ध है, परन्तु सम्भवतः इसका प्राकृत-गद्यात्मक रूप ई० पू० प्रथम शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही प्रस्तुत हो चुका था क्योंकि उस काल के पश्चात् के इतिहास का इसमें हवाला नहीं मिलता। इसका सम्पूर्ण मूल परिशिष्ट 'ख' में दिया गया है। यहां उस मूल के प्रासंगिक भाग का अनुवाद मात्र दिया जाता है। युग-पुराण के पाठ जटिल हैं और उसके अनेक स्थल दुरूह हैं, पर उसके वर्णन से शुंग, शक और कण्व कुलों पर समुचित प्रकाश पड़ता है। युग-पुराण का वह अवतरण हम नीचे देते हैं—

"तब शकों का दुष्टस्वभाव वाला, अर्थलुब्ध, महाबली और पापी राजा विनाशकाल के उपस्थित होने पर कलिंगराज शत (शात—) की भूमि की तृष्णा करने के कारण मृत्यु को प्राप्त होगा। वह सबल द्वारा निधन को प्राप्त होगा (?)। उसके निम्न सरदार तो निश्चय मारे जाएंगे।"

"शकराज के विनष्ट होने पर पृथ्वी सूनी हो जाएगी। पुष्प नाम की नगरी सूनी हो जाएगी, अत्यन्त वीभत्स। वहां कभी कोई राजा होगा, कभी न होगा।"

"तब लोहिताक्ष अम्लाट (अम्नाट) नाम का महाबली धनुमूल (धनु के बल) से अत्यन्त शक्तिमान् हो उठेगा और पुष्य नाम धारण करेगा। रिक्त नगर को वे सर्वथा आक्रांत कर लेंगे। वे सभी अर्थलोलुप और बलवान होंगे। तब वह विदेशी (म्लेच्छ) लोहिताक्ष अम्लाट रक्तवर्ण के वस्त्र धारण कर निरीह प्रजा को क्लेश देगा। पूर्वस्थिति को अधोगामी कर वह चतुर्वर्णों को नष्ट कर देगा।"

"रक्ताक्ष अम्लाट भी अपने बान्धवों के साथ नाश को प्राप्त होगा। तब

---

1. चत्वारः शुंगभृत्यास्ते नृपाः काण्वायना द्विजाः—वायुपुराण।

गोपालोभाम नामक एक नृपति होगा। वह गोपाल नृपति भी पुष्यक के साथ राज्य का साल भर भोग कर निधन को प्राप्त होगा तब पुष्यक नाम का धर्म पर राजा होगा। वह भी वर्ष भर राज करके अन्त लाभ करेगा। उसके बाद सविल नामक महाबली और अजित राजा होगा जो तीन वर्ष के शासन के बाद नष्ट होगा।"

"फिर विकुयशस् नामक अब्राह्मण लोक में प्रसिद्ध होगा। उसका शासन भी अनुचित और दुष्ट होगा, जो तीन वर्षों तक चलेगा।"

"तब पुष्पपुर उसी प्रकार (पूर्ववत्) जनसंकुल (बहुसंख्यक) हो जाएगा। सिद्धार्थ-जन्मोत्सव वहां अत्यन्त उत्साह से मनाया जाएगा। नगर के दक्षिण भाग में उस (सिद्धार्थ वीर) का वाहन दिखाई देता है, जहां उसके दो सहस्र अश्व और गजशकट खड़े हैं। उस समय उस स्तंभयुक्त भद्रपाक देश में अग्निमित्र होगा। उस देश में महारूपशालिनी एक कन्या जन्म लेगी। उसके लिए उस राजा का ब्राह्मणों के साथ दारुण युद्ध होगा। वहां विष्णु की इच्छा से निश्चय वह अपना शरीर छोड़ देगा। उस घोर युद्ध के बाद अग्निमित्र (अग्निवेश्य) का पुत्र राजा होगा। उसका शासन सफल होगा जो बीस वर्षों तक कायम रहेगा। तब महेन्द्र की भांति वह अग्नि (मैत्र्य अथवा वंश्य) राज्य को प्राप्त कर शकों (जायसवाल—शबरों ?) की एक संघवाहिनी से युद्ध करेगा। उस युद्ध में प्रवृत्त उस राजा की वृषकोट (?) (नामक अस्त्र) से मृत्यु हो जाएगी।"

"उस सुदारुण युद्धकाल के अन्त में वसुधा शून्य हो जायेगी और उसमें नारियों की संख्या अत्यन्त बढ़ जाएगी। करों में हल धारण कर स्त्रियां कृषि-कार्य करेंगी और पुरुषों के अभाव में नारियां ही रणक्षेत्रों में धनुर्धारण करेंगी। उस समय दस-दस बीस-बीस नारियां एक-एक नर को वरेंगी। सभी पर्वों और उत्सवों में चारों ओर पुरुषों की संख्या अत्यन्त क्षीण होगी, सर्वत्र स्त्रियों के ही झुंड के झुंड दीखेंगे, यह निश्चित है। पुरुष को जहां-तहां देखकर 'आश्चर्य'! 'आश्चर्य'! कहेंगी। ग्रामों और नगरों में सारे व्यवहार नारियां ही करेंगी। पुरुष (जो बचे-खुचे होंगे लाचारी से) सन्तोष धारण करेंगे और गृहस्थ प्रव्रजित होंगे।"

"तब सातुश्रेष्ठ (शात) अपनी सेनाओं से पृथ्वी जीत लेगा और दस वर्ष पर्यन्त राज करके निधन को प्राप्त होगा।"

"फिर असंख्य विक्रान्त शक-प्रजा को आचारभ्रष्ट होकर अकर्म करने पर बाध्य करेंगे। ऐसा सुना जाता है। जनसंख्या का चतुर्थ भाग शक तलवार के घाट उतार देंगे और उनका चतुर्थ (अंशधन) संख्या अपनी राजधानी को ले जाएंगे।"

"उस राज्य के नष्ट होने पर (शक अथवा शात ?) शिप्रा की प्रजा में देव

(इन्द्र) बारह वर्षों तक अनावृष्टि करेगा। दुर्भिक्ष और भयपीड़ित प्रजा नष्ट हो जाएगी। तब उस रोमहर्षण दुर्भिक्ष और पापपीड़ित लोक में युगान्त होगा और साथ ही प्राणियों का विनाश। इसमें सन्देह नहीं कि तब जनमार का नृत्य होगा।"

ऊपर के स्थलों में कुछ महत्त्वपूर्ण और ऐतिहासिक हैं। जान पड़ता है, अग्निमित्र के उत्तराधिकारियों में एक बार अन्तर्द्वन्द्व चला। तब किसी शक राजा ने साम्राज्य स्थापित करना चाहा। यह संभवतः 100 ई० पू० का प्रथम शक आक्रमण था, जो शायद मथुरा के क्षत्रपों का था। ये अत्यन्त शुंगों के समसामयिक थे। कलिंग सात संभवतः कोई सातवाहन राजा है, जिसने शकों को उनके सरदारों के साथ मार भगाया।

इन्हीं दिनों भारत के किसी भाग पर (जिसका उल्लेख युगपुराण में नहीं है) म्लेच्छ राजाओं का एक परिवार राज कर रहा था। डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने उनको हिन्दू-ग्रीक माना है[1] और प्रत्येक का एक संभावित ग्रीक नाम दिया है, परन्तु यह युक्तपूर्ण नहीं जंचता।

अग्निमित्रों के उत्तराधिकारियों के बाद सातु राजा का उत्थान होता है। यह कोई सातवाहन राजा-सा है।

इस काल में शकों के अत्याचार से पाटलिपुत्र की पुरुष संख्या अत्यन्त न्यून हो जाती है और स्त्रियां ही सर्वत्र कार्यों में नियुक्त हैं। बचे-खुचे पुरुष भी अधिकतर संन्यस्त हो गए हैं।

सातु राजा के बाद दूसरा शक-काल प्रारंभ होता है। क्षिप्रा के तट के निवासियों में शकों ने अनाचार फैला दिया है। शक मालवा की प्रजा का चतुर्थांश नष्ट कर चुके हैं और दूसरा चतुर्थांश या तो दास बनाकर अपनी राजधानी को ले गए हैं या उनके धन का चतुर्थांश उन्होंने अपहरण कर लिया है। इसके बाद ही दुर्भिक्ष और जनमार (प्लेग) संसार को आक्रांत कर लेता है।

पश्चिमोत्तर का सीमाप्रान्त और पंजाब - सिल्यूकिद-साम्राज्य से करीब एक ही समय (तीसरी शती ई० पू० के मध्य) उसके दो विशाल सूबे पार्थव (खुरासान और कास्पियन सागर की दक्षिण-पूर्वी तटवर्ती भूमि) और बाख्त्री (वल्हीक) विद्रोही होकर निकल गए। इनमें हिन्दू-पार्थव राजाओं का भी कुछ काल तक भारत के पश्चिमी सीमाप्रान्त से जब-तब सम्बन्ध बनता-बिगड़ता रहा, परन्तु हिन्दू-बाख्त्री राजा तो एक लम्बे काल तक भारत के पश्चिमी सीमाप्रान्त और पंजाब के स्वामी बने रहे। इनमें से दिमित (दिमित्रिय, युगपुराण का धर्ममीत (Demetrios) और उसके जामाता मिनान्दर (मिलिन्दपन्हों के मिलिन्द,

1. J. B. O. R. S., खण्ड 14, भाग 3, पृ०. 412.

Menander) ने पाटलिपुत्र पर भी एक बार कब्जा कर लिया था। युक्रेतिद के राज्य में एक अर्से तक बाख्त्री, काबुल, गंधार और पश्चिमी पंजाब रहे। पूर्वी पंजाब, शाकल, सिन्ध और समीपवर्ती प्रान्त युथिदेमो के शासन में रहे जो मिनान्दर के अधिकार में आये। मिनान्दर पुष्यमित्र से हारने के पहले दिमित के सारे पूर्वी प्रान्तों का राजा था, काबुल से मथुरा तक। पुष्यमित्र के साथ युद्ध में वह मारा गया और तब वसुमित्र ने उसके राज्य को अपने पितामह पुष्यमित्र के राजसूय-अश्व द्वारा रौंद डाला। सीमाप्रान्त के बाख्त्री राजा हेलिआक्ल के अनेक उत्तराधिकारियों में से कुछ ही ऐसे हैं जिनके नाम के सिवा हम और कुछ भी उनके विषय में जानते हैं। इनमें से एक 'अन्तलिखित' तक्षशिला का राजा कहा गया है। बेसनगर के विष्णुस्तंभ के लेख से विदित होता है कि उसने अपने दूत दिय के पुत्र हेलियोदोर को उस शुंगराज काशीपुत्र भागभद्र के पास भेजा था, जो संभवतः पांचवां शुंग ओद्रक या नवां भागवत है। वह ग्रीक दूत अपने को भागवत कहता है। अन्तलिखित के अधिकतर सिक्के अन्य ग्रीक राजाओं की भांति ही 'दुभाषिया' हैं। भारतीय सीमाप्रान्त और काबुल का अन्तिम ग्रीक शासक हरमियस् था, जो प्रथम शती ई० पूर्वार्ध में था। कुषाणों की चोट से वह धीरे-धीरे टूट गया।

शक और पह्लव—तक्षशिला, मथुरा, सौराष्ट्र, गुजरात, महाराष्ट्र और अवन्ती—मध्य एशिया सदा से दुर्द्धर्ष जातियों की क्रीड़ाभूमि रही है। लगभग 165-160 ई० पू० में उस भूमि पर घुमक्कड़ जातियों का निष्क्रमण जोर पकड़ने लगा। चीन के पश्चिमोत्तर भाग में युह्ची जाति का निवास था। जातियों की उथल-पुथल के कारण मजबूर होकर उन्हें पश्चिम की ओर हटना पड़ा। पश्चिम की ओर बढ़ते हुए वे सीर दरिया के उत्तर में बसने वाले शकों से जा टकराए। इसका फल यह हुआ कि शक अपना देश छोड़ दक्षिण की ओर बढ़े और 140 और 120 ई० पू० के बीच वे वंक्षुसिंचित बाख्त्री और पार्थव राज्यों पर टूट पड़े। बाख्त्री में दिमित और युक्रेतिद के गृह-युद्ध के बाद हेलियाक्ल का नृशंस शासन शुरू हुआ था। हेलियाक्ल वह सुयशी था जिसने अपने पिता को मारकर उसके शरीर और खून पर अपना रथ दौड़ाया था! पश्चात् उसमें और उसके भाई में भी गृह-युद्ध होने लगा था। इसी समय शक-शक्ति की जो बाढ़ आई, उसमें बाख्त्री का राज-परिवार डूब गया। तब शक लोग दक्षिण-पश्चिम पार्थव की ओर मुड़े, और पार्थवों के राजा फ्रात द्वितीय को 128 ई० पू० में उन्होंने मार डाला। इस समय पार्थवराज आर्तबान (Artabanus, ऋतुपर्ण) तुखारियों से लड़ रहा था। अब उसे उनके साथ शकों से भी लड़ना पड़ा। 123 ई० पू० में वह लड़ाई में मारा गया। उसके उत्तराधिकारी मज्ददात द्वितीय (Mithridates II) (ई० पू० 123-ई० पू० 88) ने

अपनी विचलित कुललक्ष्मी फिर से स्तंभित कर ली और उसने शकों को पूर्णतया परास्त कर पूर्व की ओर खदेड़ा। उनके सामने काबुल की घाटी में हिन्दू-ग्रीकों का राज्य था, इसलिए वे सीस्तान या शकस्थान में फैल गए। फिर कन्दहार और वलूचिस्तान होते हुए वे सिन्धुदेश में उतरे, जिसे हिन्दू शकद्वीप और ग्रीक भौगोलिक इण्डो-सीथिया (Indo-Scythia) कहते हैं। भारत में शकों का आगमन लगभग ई० पू० 100 के हुआ।

शकों के भारत आने का वर्णन जैन-ग्रंथ 'कालकाचार्य-कथानक' में बड़े मनोरंजक रूप से मिलता है। उसके अनुसार आचार्य कालक 'सगकुल' जाकर उन्हें 'हिन्दुगदेश' (उज्जैन) लाये। शक उनके पीछे चलते हुए सिन्धु के तट पर पहुंचे। फिर सिन्धुनद को पारकर बढ़ते हुए सुरट्ठ (सौराष्ट्र) देश में प्रविष्ट हुए। 'सगकुल' का एक समान अधिपति था, 'साहानुसाहि'। स्वयं 'सगकुल' अनेक साहियों में विभक्त था। जब मज्ददात शक्तिमान हो गया तब उसने अपने पूर्वज आर्तबान की मृत्यु का शकों से बदला लेना चाहा। उसने साहियों या 'सगकुल' के पास अपने दूत द्वारा आज्ञा भेजी कि शकों के सारे सरदार यदि अपने कुल और बन्धु-बान्धवों का विनाश न चाहते हों तो आत्महत्या कर लें वरन् मज्ददात से उन्हें युद्ध करना पड़ेगा और हारने पर उनका वह सर्वनाश कर देगा। 'सग-कुल' इस पर बहुत व्याकुल हुआ। इसी समय आचार्य कालक उनमें ठहरे हुए थे। उन्होंने उनको सीस्तान् छोड़ 'हिन्दुगदेश' चलने की सलाह दी। इस पर 96 साहियों ने अपनी सेनाओं के साथ भारत में प्रवेश किया। उनमें से एक 'साहि' उनका अधिपति बना और उज्जैनी को राजधानी बना शासन करने लगा। इस प्राकृत अनुश्रुति के संस्कृत पाठ में कहा गया है कि आचार्य कालक सिन्धुनद के तीर पश्र्वकुलों में गए। वहां के सभी राजा या शासक 'शाखि' या 'साहि' कहलाते थे। पश्र्वकुल पार्श्वों की याद दिलाते हैं। इस स्थल का तात्पर्य उससे था जो पूर्वी फारस से लगा हुआ है या जिसे शक ईरानी समझते थे। संस्कृत अनुश्रुति के अनुसार 95 साही मालवा की भूमि में आ बसे और इनमें से एक शेष साहियों का अधिपति अथवा प्रमुख शासक बना (या चुन लिया गया)। उसकी राजधानी, शक-नवोपनिवेश का केन्द्र, उज्जयिनी हुई।

'कालकाचार्य-कथानक' के अनुसार शक लोग सिन्धुनदी पार करते ही सुराष्ट्र के स्वामी बन गए। इससे तात्पर्य यह है कि गुजरात की ओर से चलकर सिन्धु पार जाते ही 'सगकुल' मिलता था। अर्थात्, उनके काठियावाड़ में सीधा पहुंचने से सिद्ध होता है कि जिस स्थान से वे यहां आए वह सीस्तान के अतिरिक्त अन्य देश न था।

इस कथानक के अनुसार शकों का भारत-प्रवेश और सुराष्ट्र-मालवा का समय विक्रम-संवत् के आरंभ के पूर्व था। पर उसमें इस बात का स्पष्ट उल्लेख

नहीं है कि उज्जयिनी और मालवा के शक-विजय के कितने समय बाद प्रथम शक-कुल (शासक-कुल) का अन्त हुआ। वास्तव में कथानक जानबूझकर इस घटना की तिथि को अस्पष्ट अथवा अकथित रखता है। उसमें 'कालन्तरेन केणाई'[1] का पाठ है। श्री काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार जिनसेन के आंकड़े बनिस्बत 'पट्टावलि' के अधिक सही हैं और वे भी अवन्ती के शक-शासन का यह प्रथम युग लगभग 100 ई० पू० और 58 ई० पू० के मध्य मानते हैं।[2]

प्रायः सभी प्रमाणों से उज्जयिनी की शकों द्वारा विजय लगभग 100 ई० पू० के हुई। और ये प्रथमयुगीय शक ही प्रमाणतः मालवा[3] से मथुरा की ओर बढ़ गए। इस प्रकार शक संभवतः मालवा से बढ़कर मथुरा के शुंगों के उत्तराधिकारी हुए। गार्गी संहिता का 'युग-पुराण' शकों की उज्जयिनी-विजय से कुछ ही बाद प्रायः प्रथम शती ई० पू० के उत्तरार्ध में लिखा गया था और इस रूप में वह शकों की इस विजय-घटना का एक समसामयिक प्रमाण-सा है। युगपुराण में यह शक-आक्रमण 100 ई० पू० के लगभग शुंग-शासन में ही हुआ। श्री० रैप्सन का कहना है कि शक-रज्जुकुल के माथुरी सिक्के अपनी शक्ल और धातु दोनों में पञ्चाल (शुंग) और मथुरा के हिन्दू राजाओं के सिक्कों से मिलते हैं।[4] उज्जयिनी और मथुरा विजय के कुछ ही वर्षों बाद पाटलिपुत्र का शुंग-कुल राजच्युत कर दिया गया। काण्वायन मंत्री वसुदेव ने अन्तिम शुंगराज विषयी देवभूति को दासी से उत्पन्न अपनी दुहिता द्वारा मरवा डाला। इधर शक अपने उज्जयिनी-केन्द्र से भारत के अनेक प्रान्तों में फैल गए, जहां उनकी शक्ति का साका कुछ काल तक चलता रहा।

तक्षशिला और पश्चिमोत्तर के शक — शकों के प्रारंभिक भारतीय शासन के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान सहज ही अपूर्ण और सन्देहात्मक है। भारत का प्राचीनतम शासक कौन था यह निश्चित रूप से कहना कठिन है, परन्तु अधिकतर प्रमाण उसके मय (Maues) होने के पक्ष में हैं। मय शायद पंजाब की नमक की पहाड़ियों

---

1. ZDMG., 1880, पृ० 267; कोनो, पृ० XXVII.
2. जायसवाल Problems of Saka-Satavahana History, JBORS खंड 16, भाग 3 और 4, पृ० 228 से आगे।
3. मालवा को यह नाम मालवों ने शकों को हराकर और स्वयं उस प्रान्त में बसकर दिया, जो इस काल से कुछ बाद हुआ। अतः वास्तव में उसे इस काल में अवन्ति कहना चाहिए। सुविधावश ही अवन्ति को मालव कहा गया है।—लेखक।
4. Indian Coins, पृ० 9, 13.

वाले मैरा-कूप-लेख का मोअ और क्षत्रप पतिक के तक्षशिला-पत्र-लेख का मोग (मग) ही है। परन्तु इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का दूसरा विचार है। उदाहरणतः विंसेण्ट स्मिथ के अनुसार वह हिन्दू-पार्थव राजा है।[1] इसमें तो सन्देह नहीं कि मय शासक था। तक्षशिला का इलाका उसी के शासन में था। तक्षशिला में जो ताम्रपत्र पाया गया है उसके लेख में मय को 'महाराय' (महाराज) कहा गया है।[2] इस मय ने बाद में अपने को सिक्कों पर 'शाहिशाहणशाहि' घोषित किया है। इन सिक्कों के पाए जाने वाले इलाकों का मय के शासन में होना प्रायः सिद्ध है। इस इलाके में यवनों (ग्रीकों) द्वारा शासित गन्धार और अन्य समीपवर्ती देश प्रायः सभी शामिल थे। परन्तु सत्य ही उसका शासन ऊपर से काबुल और पूर्वी पंजाब के बीच की भूमि पर ही सीमित रहा। तक्षशिला के जिस ताम्रपत्र में उसका नाम उल्लिखित है उसमें 78वें साल का भी उल्लेख है परन्तु यह पता नहीं चलता कि यह तिथि किस संवत् में दी हुई है। इसी कारण मय का राज्यकाल बताना भी कठिन ही है। डॉक्टर राय चौधरी उसका शासन-काल 33 ई० पू० के पश्चात्, परन्तु प्रथम शती ई० के उत्तरार्ध के पूर्व[3] मानते हैं। इस सम्बन्ध में शायद स्तेन कोनो की राय सही है। उनके अनुसार मय 90 ई० पू० के लगभग राज करने लगा था।[4]

एक बात जो इतिहासकार के सामने पेचीदगी पैदा कर देती है वह शक और पह्लवों (पार्थवों) का पारस्परिक घना सम्बन्ध है। भारतीय साहित्य और शिला अथवा अन्य लेखों में प्रायः दोनों का साथ-साथ या एक के लिए दूसरे का उल्लेख हुआ है। कभी-कभी उन्हें एक-दूसरे से पृथक् करना असंभव हो जाता है। उनके शासन और सिक्कों में अनेक समानताएं हैं और कितनी ही बार तो शक और पह्लव दोनों नाम एक ही शासक-कुल में उपलब्ध होते हैं।

मय के उत्तराधिकारी— मय के बाद उसके शासन का भार अय (अयस्, Azes) ने वहन किया। उसके सिक्कों से प्रमाणित है कि उसने अपने पूर्वाधिकारी के राज्यविस्तार का ह्रास नहीं होने दिया। हिप्पोस्त्रात के सिक्के फिर से अंकित करके चलाए और इससे जान पड़ता है कि उसने शक-शासन की सीमाएं पूर्वी पंजाब तक फैला दीं। अयस् के बाद अजलिस राजा हुआ। उसके सिक्कों से जान पड़ता है कि कुछ काल तक अयस् के समय में ही उसका भी

1. Early History of India, चतुर्थ संस्करण, पृ० 242।
2. CII खण्ड 2, भाग 1, पृ० 28-29।
3. Political History of Ancient India, चतुर्थ संस्करण, पृ० 365।
4. Journal of Indian History, 1933, पृ० 19, देखिए स्तेनकोनो Notes on Indo-Scythian Chronology, वही, पृ० 1-46।

शासन में कुछ हाथ था। अजलिस के बाद अयस् द्वितीय इस शक-प्रान्त का स्वामी हुआ और फिर यह भूभाग पह्लव राजा गुदुफर (Gondophernes) के शासन में खो गया।

पश्चिमोत्तर के क्षत्रप—क्षत्रपों का शासन बहुत कुछ मौर्यों के शासन से मिलता था, इस अर्थ में कि महाक्षत्रप सदा एक क्षत्रप की सहायता से राज करता था, जो स्वयं बाद में महाक्षत्रप हो जाता था। यह क्षत्रप अधिकतर महाक्षत्रप का पुत्र हुआ करता था और उसका पद संभवतः युवराज का-सा था। तक्षशिला में मिले 78वें वर्ष वाले ताम्रपत्र में हमें ऐसे दो नाम मिलते हैं—(1) लियक-कुसुलक और (2) उसका पुत्र पतिक[1] ये दोनों महाराय मोग के आधिपत्य में छहर और चुक्ष नामक विषयों के क्षत्रप थे। ये इलाके संभवतः तक्षशिला के समीपवर्ती थे।

मथुरा के क्षत्रप—सुराष्ट्र और अवन्ति देश को हस्तगत कर शकों ने मथुरा भी शीघ्र ही ले लिया। माथुर क्षत्रपकुल के प्रारम्भिक शासक हगान और हगामास थे जिन्होंने संभवतः कुछ काल तक सम्मिलित शासन किया। उनका उत्तराधिकारी रज्जुबुल (राजुबुल) मोरावाले लेख में महाक्षत्रप कहा गया है। उसने पंजाब में ग्रीक-कुल का अन्त करके स्त्रात प्रथम और स्त्रात द्वितीय के सिक्कों की नकल में अपने सिक्के ढलवाए। उसके पश्चात् उसका पुत्र सोडास महाक्षत्रप हुआ। मथुरा के सिंह-लेख के अनुसार वह तब क्षत्रप था जब पडिक अथवा पतिक महाक्षत्रप था। अतः ये दोनों समकालीन थे। वह शायद 17-16 ई० पू० में जीवित था। उसके उत्तराधिकारियों के विषय में हमारा ज्ञान स्वल्प है।

महाराष्ट्र का क्षहरात-कुल—क्षहरात शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में कुछ कहना कठिन है। संभव है उसका सम्बन्ध तक्षशिला के पास तत्कालीन 'छहर' नामक इलाके से हो। यह कुल महाराष्ट्र में शासन करता था। इसका पहला क्षत्रप भूमक था, जिसने सुराष्ट्र में राज किया। भूमक नहपान का पूर्ववर्ती शासक था जैसा उसके सिक्कों की बनावट, धातु, तथा उन पर खुदी लिखावट से जान पड़ता है। उसके सिक्के फिर स्पलिरिस और अयस् दोनों के संयुक्त सिक्कों के अंकनादि से मिलते हैं। इस कुल का सबसे प्रसिद्ध क्षत्रप नहपान हुआ। वह भूमक के बाद ही गद्दी पर बैठा, पर हमें पता नहीं कि भूमक और नहपान का पारिवारिक सम्बन्ध क्या था। परन्तु नहपान के शक होने में कोई सन्देह नहीं। उसका जामाता उषवदात (ऋषभदत्त) था जो एक लेख में अपने को स्वयं शक कहता है। उससे नहपान की जो कन्या ब्याही थी, उसका हिन्दू

---

1. स्तेनकोनो CII, खण्ड 2, भाग 1, नं० 13, पृ० 23-29।

नाम था दक्षमित्रा। पाण्डुलेण (नासिक के समीप), जुन्नार और कार्ले (जिला पूना) के लेखों से स्पष्ट है कि नहपान महाराष्ट्र के एक बहुत बड़े भूभाग का स्वामी था। उसने यह सारी भूमि सातवाहनों से जीती थी। उसने अपने जामाता को मालवों के विरुद्ध उत्तमभद्रों की सहायता के अर्थ भेजा था। अपनी विजय के बाद उषवदात ने पुष्करतीर्थ पर कुछ दान किया। नहपान का राजनीतिक प्रभाव इस प्रमाण से अजमेर के प्रान्त तक पहुंचा जान पड़ता है। उसके लेख किसी अनिश्चित संवत् के 41-46वें वर्ष के हैं। संभवतः ये तिथियां शक संवत् की हैं। यदि ये तिथियां विक्रम संवत्[1] की नहीं हैं तो निश्चय नहपान 119-24 ई० में शासन करता था। कुछ विद्वानों ने उसे 'पेरिप्लस ऑव दि इरिथियन सी' नामक ग्रीक पुस्तक में आए मम्बरुस या मम्बैनस नाम से समान माना है।[2] यदि यह तिथि सही हुई तो उसे ईसा की पहली शती के तीसरे चतुर्थांश में होना चाहिए जैसा गलथम्वी के सिक्कों और नासिक-लेख से विदित होता है, क्योंकि नहपान अथवा उसके किसी उत्तराधिकारी की शक्ति सातवाहन नरेश गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णि ने नष्ट कर दी। परन्तु वास्तव में जितना नहपान की तिथि में सन्देह है उतना ही गौतमीपुत्र की तिथि में। दोनों का स्थिर करना कठिन है।

उज्जैन के क्षत्रप उज्जैन के क्षत्रपों का प्रभुत्व पश्चिमी भारत में कई शताब्दियों तक कायम रहा। यसामोतिक का पुत्र चष्टन उज्जैन-कुल क्षत्रपों का प्रारम्भक था। चष्टन और तालेमी का ओजेनवाला तियस्तेनि (Tiastenes of Ozene) संभवतः एक ही थे। उसके सिक्के नहपान के सिक्कों से मिलते हैं और शायद उन्हीं की नकल हैं। चष्टन ने पहले क्षत्रप फिर महाक्षत्रप के पद में शासन किया। जूवो दुब्रोआ उसे गौतमीपुत्र या कुषाणों का सामन्त-राजा मानते हैं।[3] चष्टन का पुत्र और उत्तराधिकारी जयदामा केवल क्षत्रप था। उसके शासनकाल में कोई महत्त्वपूर्ण घटना नहीं हुई और न उसने किसी प्रकार का सुयश ही कमाया। परन्तु उसका पुत्र और चष्टन का पौत्र रुद्रदामा महान् शासक हुआ। उसके प्रशस्तिलेख से उसकी समृद्धि और शक्ति का पता चलता है। 150 ई० का उसका जूनागढ़वाला शिलालेख उसके महान् कार्यों की प्रशंसा करता है।[4] इससे पता चलता है कि उसने उचित शासन और विजय दोनों किए। उसने गर्वीले यौधेयों को जीता और दक्षिणापथ के स्वामी शातकर्णि को

---

1. Dubreuil Ancient History of Deccan, पृ० 22।
2. उसकी राजधानी जायसवाल के अनुसार भरुकच्छ थी।
3. Ancient History of Deccan, पृ० 37।
4. Epigraphia Indica, VIII, पृ० 36-49।

दो बार परास्त किया। वह महाक्षत्रप पद को प्राप्त हुआ था।[1] दूर-दूर के देश उसका शासन मानते थे। उत्तरी गुजरात, सुराष्ट्र, कच्छ, सिन्धु की निचली तटवर्ती भूमि, उत्तरी कोंकण, मान्धाता का प्रान्त, पूर्वी और पश्चिमी मालवा और राजपूताना के कुकुर, मरु[2] आदि प्रदेश सब उसके शासन की सीमाओं के अन्तर्गत थे। इनमें से कुछ प्रदेश गौतमीपुत्र शातकर्णि के अधिकार में कभी रह चुके थे, जिससे जान पड़ता है कि रुद्रदामा ने अपना राज्यविस्तार सातवाहनों को ही पंगु करके किया। उसके शासनकाल में सुदर्शन ह्रद के बांध टूट गए थे जिन्हें उसके आनर्त्त और सुराष्ट्र के पह्लव प्रान्तीय शासक ने तीनगुना मजबूती से फिर से बंधवाया। उसका यह प्रान्तीय शासक कुलैप का पुत्र सुविशाख नाम का था। रुद्रदामा ने इस कार्य का सम्पूर्ण व्यय बिना प्रजा पर कर लगाए हुए अपने कोष से दे दिया था। पश्चिमी व्यापारपरक प्रदेशों के स्वामी होने के कारण और उसकी राजधानी उज्जयिनी के सार्थवाह-राजमार्ग पर स्थित होने के कारण उसके कोष में अतुल सम्पत्ति धारावाहिक रूप से गिरती होगी।

रुद्रदामा के उत्तराधिकारी हुए तो अनेक पर वे अधिकतर नगण्य ही थे। तृतीय शती ईसवी में ईश्वरदत्त के नायकत्व में आभीरों ने क्षत्रपों के राज्य पर आक्रमण करके उसे क्षत-विक्षत कर दिया। फिर भी क्षत्रपों का यह कुल जीवित रहा। उनके अन्तिम राजा का चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने नाश किया, जो संभवतः रुद्रसिंह तृतीय था।

उज्जयिनी के शकों का ही 58 ई० पू० में नाश कर मालवों का गण वहां स्थापित हुआ, जिसने अपने नाम से उस अवन्ति-देश का नया संस्कार किया और अपनी इस राष्ट्रीय विजय के उपलक्ष्य में नये सिक्के (मालवानांजयः) चलाए और देश को विक्रम नामक एक राष्ट्रीय संवत् प्रदान किया जो उसी विजय की तिथि से चला। उसका विषय मालवों के अपने इतिहास से अधिक सम्बन्ध रखता है, अतः उस मालव-विक्रम-संवत् पर परिशिष्ट 'क' में स्वतन्त्र और सविस्तार विचार करेंगे।

पह्लव—भारतीय इतिहास में हिन्दू-पार्थव अथवा पह्लवों का इतिहास भी जटिल है। परन्तु इनके सम्बन्ध के कुछ सिक्के और लेख हैं जिनसे इस राज-कुल पर थोड़ा प्रकाश पड़ता है। वोनोनी (Vonones) इस कुल का आदि पुरुष था जो अराकोसिया और सेइस्तान में प्रचुर शक्ति लाभ कर राजाधिराज बन गया। उसके सिक्के युक्रेटिद के कुल के सिक्कों के समान हैं। उन पर वह

1. स्वयमधिगतमहाक्षत्रपनाम्ना।
2. पूर्वापराकरावन्त्यनूपनीवृदानर्तसुराष्ट्रश्वभ्र(म)रुकच्छसिन्धुसौवीरकुकुरा-परान्तनिषदादीनां समग्राणां तत्प्रभावात्...।

अपने भाइयों स्पलिरिस् और स्पलहोरिस्. तथा भतीजा स्पनगदमिस् से संयुक्त है। संभवतः उसके भाई-भतीजे उसके 'विजित' के गवर्नर (प्रान्तीय शासक) थे। वोनोनी के बाद स्पलिरिस् राजा हुआ। यही शायद अयस् द्वितीय का अधिपति था। उसके कुछ सिक्कों पर ग्रीक भाषा में सामने उसका नाम खुदा मिलता है और पीछे खरोष्टी में अयस् का।

गुदुफर (Gondophernes), गुदुह्वर, गुडन और विन्दफर्ण आदि कई नामों से जाना जाता है। स्पलिरिस् के बाद वही गद्दी पर बैठा। हिन्दू-पार्थव राजाओं में सबसे महान् वही था। तख्त-ए-बाही लेख ने उसका काल निश्चित कर दिया है। वह लेख 103वें वर्ष का है।[1] यह उस राजा का 26वां शासन वर्ष है। उसने संभवतः 19 ई० से 45 ई० तक राज किया। वह पूर्वी ईरान और पश्चिमी भारत के सारे शक-पह्लवों का राजा हो गया। कुछ ईसाई अनु-श्रुतियों में उसे 'भारत का राजा' कहकर उसका सन्त टामस से सम्पर्क बताया गया है। संभवतः वह ईसाई सन्त गुदुफर से मिला था। गुदुफर के मरने पर उसका राज्य टूकटूक हो गया। अन्त में कुषाणों ने उन टुकड़ों को भी आत्म-सात् कर लिया।

सातवाहन—उपनिषत्काल में और कदाचित् उससे पहले ही जो ब्राह्मण-राजन्य संघर्ष आरम्भ हो गया था वह प्रचुर काल तक चलता रहा। उसकी वास्तविक समाप्ति गौतम बुद्ध के समय हुई, जब उनके उपदेशों के फलस्वरूप ब्राह्मण धर्म प्रायः शिथिल पड़ गया, परन्तु उसका एक बड़ा बुरा प्रभाव देश पर यह पड़ा कि गृहस्थ अधिकतर गृह छोड़ विहारवासी हो चले। ब्राह्मणों के साथ श्रमणवर्ग की भी गणना होने लगी और शीघ्र क्षात्रवृत्ति करनेवाले राजन्यों की संख्या विशेष रूप से घट चली। तभी ईरानी सम्राट् दारा (दारयवहु) ने बढ़-कर पंजाब (सिन्धु) अपने साम्राज्य में मिला लिया। भारतीय क्षत्रियों ने वास्तव में काषाय त्रिचीवर धारण कर अपनी तलवार घर के कोनों में टिका दी। इस समय ब्राह्मण, जिनके गृहस्थ अधिकतर श्रमण अथवा गृहवासी बौद्ध उपासक हो गए थे, अपनी वृत्ति के छूटने के कारण संभवतः कुछ चैतन्य हो गए। वर्णाश्रम-धर्म की चूलें ढीली पड़ चुकी थीं। इसी समय उनके नेताओं ने देखा कि भारत का पश्चिमोत्तर प्रान्त विदेशी आक्रमणों द्वारा आक्रान्त रहने लगा। ईरानियों के बाद ग्रीक आए—अलिकसुन्दर, सेलिउक और दिमित। फिर उनके नेताओं ने अपनी शक्तियों को एकत्र किया। राजन्यों की घर के कोनों में टिकाई तलवार ब्राह्मणों ने उठा लीं और फलस्वरूप द्वितीय शती ई० पू० में हमारे इतिहास में एक नये भारत का नक्शा खड़ा हो गया, जो ब्राह्मण

1. स्तेन कोनो, CII खण्ड 2, नं० 20, पृ० 57-62।

साम्राज्यों का था। एक ही समय में भारतवर्ष में तीन ब्राह्मण-साम्राज्य सुवा फेंक अस्त्रहस्त हुए। वे थे मगध के शुंग, कलिंग के चेदि (चैत्र) और दक्षिण में सातवाहन। इनमें अन्तिम सातवाहनों का इतिहास नीचे दिया जाता है।

सातवाहनों के आरम्भ के सम्बन्ध में कुछ लिखना कठिन है। अशोक के 'सतियपुत' और इतिहासकार प्लिनी के 'सेतई' (Setai) से उनका सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है परन्तु ऐसा प्रयत्न वैसे ही असफल हुआ है जैसे जिनप्रभसूरि के 'तीर्थकल्प' अथवा 'कथासरित्सागर' (6; 87) का। शिलालेखों में उनके राजाओं को अधिकतर 'शातकर्णि' और 'सातवाहन' कहा गया है। परन्तु इन दोनों शब्दों का अर्थ करना कठिन है। विद्वानों में इस विषय में सहज ही मतैक्य भी नहीं है। नासिक-लेख में निस्सन्देह गौतमीपुत्र को 'एकबम्हन' और शक्ति में राम (परशुराम) सरीखा कहा गया है।[1] उसे क्षत्रियों के दर्प और मान का दमन करनेवाला (खतियदपमानमदनस्य)[2] कहा गया है। इस प्रकार सातवाहनों का ब्राह्मण होना प्रायः सिद्ध ही है। पुराण सातवाहनों को 'अन्ध्र' कहते हैं। अन्ध्र लोग गोदावरी और कृष्णा नदियों के बीच के भूभाग तेलुगु के रहनेवाले थे। उनकी प्राचीनता में कोई सन्देह नहीं। उनका उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण, मेगस्थेनीज की 'इण्डिका' और अशोक के शिलालेखों में हुआ है। अन्ध्र मौर्य-साम्राज्य के अन्त में स्वतन्त्र हो गए। परन्तु यह ठीक समझ में नहीं आता कि उनका सातवाहनों से क्या सम्बन्ध था? इसमें कोई सन्देह नहीं कि सातवाहन लेखों में 'अन्ध्र' शब्द नहीं मिलता। सातवाहनों के प्राचीनतम लेख नानाघाट (पूना जिला) और सांची (मध्य भारत) में मिले हैं, जहां से उठकर उन्होंने अन्ध्र देश जीत लिया था। उन दक्खिन-निवासी सातवाहनों का सचमुच ही प्राचीन अन्ध्रों से कहां तक रक्त-सम्बन्ध था, यह कहना कठिन है। साधारणतया उन्हें आन्ध्र भी कहते होंगे जो संभवतः उनके अन्ध्र देश जीत लेने के कारण और उसके बाद हुआ होगा।

सातवाहनों का समय—जितना कठिन सातवाहनों का मूल निश्चित करना है, उससे कहीं अधिक कठिनाई उनके काल-निर्णय के सम्बन्ध में हमें पड़ती है। पुराणों के आन्ध्रों और सातवाहनों को एक मानते हुए कुछ विद्वान् उनका प्रारंभ ईसा पूर्व तृतीय शती में रखते हैं। अन्य सिमुक को पुराणानुसार आन्ध्र सातवाहनों का आदि पुरुष और कण्वों का विध्वंसक मानकर उस कुल के शासन का आरम्भ 29 ई० पू० में मानते हैं। मौर्यों के अन्तिम नृपति बृहद्रथ को मारकर पुष्यमित्र शुंग राजा हुआ और शुंगों के अन्तिम राजा देवभूति को मार-

1. Epigraphia India, 8, पृ० 60-61, पंक्ति 7।
2. वही, पंक्ति 5।

कर काण्वायन वसुदेव मगध के बचे-खुचे साम्राज्य का सम्राट् बना।[1] इस प्रकार सातवाहनों के शासनकाल और उसकी तिथियों के सम्बन्ध में उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर कोई मत निश्चित नहीं किया जा सकता। फलस्वरूप उनके शासन का आरम्भिक समय दूसरी-तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व से 29 ई० पू० तक हो सकता है। यहां जो तिथियां अनुमित की गई हैं, उनकी प्रामाणिकता उतनी ही संदिग्ध है, जितनी अन्यों की। इन्हें केवल शृंखला-क्रम कायम रखने के लिए दिया जाता है।

सातवाहनों के राजा—ऊपर कहा जा चुका है कि सिमुक सातवाहन कुल का प्रतिष्ठापक और मूल राजा था। उसने ई० पू० प्रथम शती के मध्य में शासनरज्जु धारण की। उसके बाद उसका भाई कृष्ण (कन्ह) नासिक के आसपास का भी राजा बना, क्योंकि वहां के एक शिलालेख में उसका संकेत है। सिमुक का पुत्र शातकर्णि इस वंश का तीसरा नरेश था। वह प्रतापी राजा था। उसने दो अश्वमेध किए। नानाघाट के लेख में उसकी विस्तृत विजयों का नल्लेख है।[2] सांची स्तूप के द्वार पर खुदे एक लेख में किसी शातकर्णि का उल्लेख है, जिससे जान पड़ता है कि मध्य भारत सातवाहनों के शासन में काफी पहले ही आ गया था। एक शातकर्णि खारवेल का भी समकालीन था। शातकर्णि ने अंगीय महारठी त्रणकयिरो की पुत्री नायनिका (नागनिका) को ब्याहा था। वह शात कुमारों; शक्तिश्री और वेदश्री की अभिभाविका थी। इसके बाद का उनका इतिहास अन्धकार में है। गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णि इस कुल का संभवतः सबसे महान् शासक हुआ। इस अन्धकार युग के बाद उसी का प्रकाश इतिहास को मिलता है। पुराणों ने अनेक राजाओं के नाम गिनाए हैं पर अधिकतर वे नाममात्र हैं। उनमें से हाल, वासिष्ठपुत्र श्रीपुलमावि और यज्ञश्री शातकर्णि विशेष उल्लेखनीय हैं। हाल ने प्राकृत भाषा में प्रसिद्ध 'गाथासप्तशती' (सप्तशतक, सतसई) लिखी। प्रथम शती ईसवी के अन्त में शक-क्षत्रपों ने सातवाहनों के हाथ से महाराष्ट्र छीन लिया।

परन्तु सम्राज्ञी गौतमी बालश्री के नासिकावाले लेख से जान पड़ता है कि उसके पुत्र शातकर्णि ने दक्खिन शकों से छीन लिया।[3] उसने क्षत्रियों के मान और दर्प का नाश कर वर्णाश्रम धर्म की रक्षा की। शक, यवनों और पह्लवों

1. काण्वायनस्ततो भृत्यः सुशर्माणं प्रसह्यतम्।
शुंगानांच यच्छेषं क्षपयित्वा बलं तदा।
सिन्धुको अन्ध्रजातीयः प्राप्स्यतीमां वसुन्धराम्।—वायुपुराण।
2. Rep. Arch. Sur. West India 5, पृ० 60।
3. Ep. Ind-. 8, पृ० 59-62.

का उसने पराभव किया और क्षहरातों को नष्ट कर सातवाहन कुल की राज्य-लक्ष्मी पुनर्स्थापित की।[1] जिन देशों को उसने जीता था उनके नाम थे—असिक असक, मुलक, सुरठ, कुकुर, अपरान्त, अनूप, विदर्भ और आकरावन्ति।[2] नासिक (जोगलथम्बी) के चांदी के सिक्कों से जान पड़ता है कि उसने शकराज नहपान का विध्वंस कर उसके सिक्के फिर से अपने नाम में चलाए। अपने शासन के अठारहवें साल में उसने नासिक के पास का पाण्डु-लेण (गुफा) दान किया और 24वें वर्ष में उसने कुछ साधुओं को भूमि दान कर एक लेख में उसका उल्लेख किया।[3] इस प्रकार उसने कम से कम 24 वर्षों तक राज किया।

जिसने गौतमीपुत्र शातकर्णि के राज्य को कुछ काल तक और विस्तृत किया और आन्ध्रप्रदेश को जीता वह उसका पुत्र वासिष्ठिपुत्र श्रीपुलमावि था जो सम्भवतः 130 ईसवी में सिंहासन पर बैठा। तालेमी का सिरोपोलेमाऊ (Siropolemaiou) संभवतः वही था। उसे तालेमी बैथन या पैठान (प्रतिष्ठान) का राजा कहता है। पैठान उत्तरकालीन सातवाहनों की राजधानी हो गई थी। रुद्रदामा ने अपने जूनागढ़वाले शिलालेख में लिखवाया है, कि उसने दक्षिणा-पथ नरेश के शातकर्णि को दो बार हराया था।[4] संभवतः वह शातकर्णि पुल-मावि ही था। श्री रैप्सन ने थाना जिले के कन्हेरीवाले लेख में उल्लिखित वासिष्ठिपुत्र श्री शातकर्णि को यही पुलमावि माना है। उस लेख के अनुसार वह महाक्षत्रप रुद्र रुद्रदामा) का जामाता था। इसी कारण जूनागढ़वाले लेख में भी वह उसका 'अविदूर सम्बन्धी' कहा गया है। जूनागढ़वाले रुद्रदामा के शिलालेख से ज्ञात होता है कि उस शक-नृपति ने सातवाहनों के अनेक देश जीते और उसका राज्य दूर तक फैला हुआ था। लगभग 155 ईसवी में वासिष्ठिपुत्र श्री पुलमावि का देहान्त हुआ।

यज्ञश्री शातकर्णि ने लगभग 165 ई० से 195 ई० तक शासन किया और उसने अपने कुल को फिर एक बार उन्नत किया। उसने कन्हेरी, पाण्डु-लेण, चिन्न (कृष्ण जिला) आदि के लेखों और सिक्कों के प्राप्ति-स्थान से विदित होता है कि उसका शासन बंगाल की खाड़ी और अरब सागर के मध्य

---

1. खतियदपमानमदस सकयवनपहलवनिसूदनस···खखरातवसनिरवसेसकरस सातवाहनकुलयसपतिथापनकरस···।
2. वर्तमान गुजरात, सौराष्ट्र, मालवा, बरार, उत्तरी कोंकण, और पूना-नासिक के समीपवर्ती प्रदेश।
3. Ep. Ind., 8, नं० 5, पृ० 73-74.
4. वही, पृ० 36-49—दक्षिणापथपतेः शातकर्णेर्द्विरपि निर्व्याजमवजित्या-वजित्य सम्बन्धाविदूरतयानुत्सादनात्प्राप्तयशसा···।

के विस्तृत भू-प्रदेश पर था। वह भूमि के अतिरिक्त समुद्र का स्वामी भी जान पड़ता है। उसके एक प्रकार के सिक्कों पर दो मस्तूलवाले एक समुद्रगामी पोत और एक मछली और शंख के चित्र अंकित हैं। उन पर सामने खुदे लेख का पाठ है—(र) ण समस स (f) र यञ सतकणस। उनके पीछे की ओर उज्जैनी चिह्न बने हैं। चिह्न वाले उसके लेख में उसके शासन के 27वें वर्ष का उल्लेख है। यह शातकर्णि अपने कुल के पिछले काल में एक महान् शासक हुआ। उसके उत्तराधिकारी नाममात्र के राजा थे। उनके समय में आभीरों ने महाराष्ट्र और इक्ष्वाकु और पल्लवों ने उसके पूर्ववर्ती प्रदेश सातवाहनों से छीन लिये।

इन शताब्दियों की सभ्यता-उत्तरी भारत—मौर्यों के बाद शुंगों ने ब्राह्मण धर्म का पुनरुद्धार किया। यज्ञ-क्रियाएं लौटीं। पुष्यमित्र और गौतमीपुत्र ने दो-दो बार अश्वमेध किए जो चिरोत्सन्न हो गया था। 'गार्गी संहिता' के युग-पुराण से ज्ञात होता है कि ग्रीक और भारतीय नगरों में साथ-साथ रहते थे। अनेक ग्रीक भागवत धर्म के उपासक हो गए थे। बेसनगर का वैष्णव-स्तम्भ शुंग-राज भागभद्र के दरबार में तक्षशिला के ग्रीकराज अन्तलिखित द्वारा भेजे दिय के पुत्र 'भागवत' हेलियोदोर ने खड़ा किया था।

भरहुत और सांची की वेदिकाएं (रेलिंग) और स्तूप इसी शुंग कला के स्मारक हैं। सांची के द्वार की कारीगरी विदिशा के गजदन्त-कलाकारों का यश-विस्तार करती हैं। अमरावती की कला भी तब का ही एक नमूना है।

तत्कालीन साहित्य भी शुंगों के शासन में खूब पनपा। वाल्मीकीय रामायण के अधिकतर भाग प्रायः इसी काल में रचे गए। महाभारत के भी अनेक स्थल तभी के हैं। मनुस्मृति की रचना भी सम्भवतः तभी की है। गोनर्द (गोंडा) के पतंजलि ने पाणिनि की अष्टाध्यायी पर अपना प्रसिद्ध महाभाष्य लिखा। वे पुष्यमित्र के समकालीन थे।

शुंगों के बाद जो अनेक शक और हिन्दू ग्रीक शासक हुए वे भी अधिकतर भारतीय देवताओं के उपासक बन गए, जैसा उनके सिक्कों के अध्ययन से जान पड़ता है। उन्होंने हिन्दू स्त्रियों से विवाह किया और अनेक ब्राह्मणों को अपना जामाता बनाया था। अपने नाम भी उन्होंने भारतीय रखे। तब का हिन्दू समाज उदार था। निश्चय तभी ग्रीक और शक जनता हिन्दू जनता में खो गई।

सातवाहनों के समय का दक्षिण भारत—सातवाहनों का दक्षिण भारत उतना ही सजीव था जितना शुंगों और शक-पार्थवों का उत्तरी-भारत। सातवाहन स्वयं तो ब्राह्मणधर्मी थे, परन्तु उनके शासन में बौद्ध और ब्राह्मण-धर्म समानरूप से समृद्ध थे। बौद्ध उपासक श्रमण-भिक्षुओं के निवास के लिए दरी-गृह खुदवाते और उन्हें दान करते थे। उनके भोजनार्थ सदाजीवी सत्रों का

प्रबन्ध करते थे। धन-द्रव्यों को श्रेणियों में रखकर उसके ब्याज से ये सत्र अथवा इस प्रकार के अन्य देवकार्य चलाए जाते थे। चैत्यगृहों के भी अनेक निर्माण और दान सातवाहनों के उदार शासन में हुए। ब्राह्मण-धर्म तो सहज ही उदीयमान था, सातवाहन राजाओं के अश्वमेध, राजसूय और आप्तोर्यामादि के अनुष्ठान से ब्राह्मणों की वृत्ति भी चमक उठी। शैव और वैष्णव सम्प्रदाय विशेष उन्नत थे। परन्तु धर्म, इन्द्र और अन्य वरुण, कुबेर आदि लोकपालों की भी पूजा होती थी, जिनकी मूर्तियां मन्दिरों में पधराई जाती थीं। सम्प्रदायों की परस्पर सहधर्मिता थी। आपस में जब-तब वे दान भी करते थे। विदेशी भी बौद्ध और ब्राह्मण धर्म स्वीकार करते थे। कार्ले के एक लेख में दो यवन 'सिंहध्वज' और 'धर्म' नाम के उल्लिखित हैं। शक-शासक उषवदात (ऋषभदत्त) ब्राह्मण धर्म का प्रबल अनुयायी था। शक रुद्रदामा का जामाता ब्राह्मण-सातवाहन वासिष्ठिपुत्र श्रीशातकर्णि था। इस प्रकार के अन्य अनेक सम्बन्ध ब्राह्मण धर्मियों और विदेशियों में स्थापित हो गए थे और होते जा रहे थे।

सामाजिक जीवन—सामाजिक स्तरों में सबसे ऊंचा स्तर उन राजनीतिक उच्चपदस्थ व्यक्तियों का था जो 'महाभोज़', 'महारठी' और 'महासेनापति' थे। वे शासन के विविध राष्ट्रों (प्रान्तों) के कर्णधार थे। अमात्य, महापात्र और भाण्डागारिक उसी वर्ग के निचले छोर पर थे। नैगम (सौदागर), सार्थवाह और श्रेणिमुख्य श्रेष्ठिन् ऋद्ध नागरिक थे। इनके अतिरिक्त समाज में वैद्य, लेखक, सुवर्णकार, गान्धिक और हालकीय (कृषक) आदि थे। मालाकार (माली), वर्धकी (बढ़ई), दासक (मछलीमार) और लोहवंजित (लुहार) आदि भी अपने-अपने व्यवसाय में दत्तचित्त थे। कुल का स्वामी कुटुम्बी और गृहपति कहलाता था।

आर्थिक जीवन—तब का आर्थिक जीवन श्रेणियों का था। एक व्यवसाय में काम करनेवाले अपना जो दल बना लेते थे उसे श्रेणी कहते थे। धंनिक (अन्न-व्यवसायी), कुम्हार, कोलिकानिकाय (जुलाहे), तिलपिषक, काषाकर, वंसकर आदिकों की अनेक श्रेणियां देश में थीं। इन श्रेणियों का अपना बैंक होता था जिसमें 'अक्षय-नीवी' (Fixed deposit) डालकर लोग उसके ब्याज का उपयोग करते थे। सिक्के सोने, चांदी और तांबे के थे। चांदी और तांबे के सिक्के कार्षापण (कहापन) कहलाते थे। सुवर्ण 35 चांदी कार्षापणों के बराबर होता था।

दूर-दूर के देशों से व्यापार स्थल और जल के वाणिक्पथों से होता था। भरुकच्छ, सोपारा और कल्याण सामुद्रिक बन्दर, और तगर, पैठन और उज्जियिनी व्यापार केन्द्र थे। ई० सन् प्रथम शती की ग्रीक व्यावसायिक पुस्तक Periplus of the Erythrean Sea (पेरिप्लस ऑव दि इरिथ्रियन सी) में

उन सारी वस्तुओं की तालिका दी हुई मिलती है जो भारत से बाहर जातीं और भारत में अन्य देशों से आती थीं।

साहित्य—सातवाहनों के शासन में प्राकृत बहुत फूली-फली। हाल ने स्वयं 'गाथासप्तशती' लिखी और उसके समकालीन गुणाढ्य ने पैशाची में 'बृहत्कथा' लिखी। सर्ववर्मन् का 'कातन्त्र' कदाचित इसी समय लिखा गया। यह विशेष बात है कि ब्राह्मण सातवाहनों ने संस्कृत छोड़कर प्रान्तीय प्राकृतों को बढ़ाया।

परिशिष्ट 'क'

भारतवर्ष की काल-गणना में बीसों संवत् चले परन्तु उनमें से जीवित थोड़े ही रहे। सबसे लम्बा जीवन-विस्तार विक्रम-संवत् का ही रहा। वैसे भारत में कम से कम छह संवत् ऐसे थे जो विक्रम-संवत् से पहले चलाए गए। ये हैं सप्तर्षि-संवत्, कलियुग-संवत् (युधिष्ठिर-संवत्), वीर-निर्माण-संवत्, बुद्धि-निर्वाण-संवत्, मुरियकाल (मौर्य-संवत्) और सिल्यूकिद-संवत्। इनमें से सप्तर्षि-संवत् कश्मीर और उसके आसपास के पर्वतीय प्रदेशों में विशेषकर ज्योतिर्विदों द्वारा प्रयुक्त होता रहा है। कलियुग-संवत् भी पंचांगादि में ज्योतिषियों द्वारा ही प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार वीर-निर्माण-संवत् का प्रयोग अधिकतर जैन आचार्यों द्वारा जैन-ग्रन्थों में और बुद्ध-निर्माण-संवत् बौद्ध ग्रन्थों में पाया जाता है। चीन और तिब्बत आदि बौद्ध देशों में भी इस बुद्ध-निर्माण-संवत् का प्रचुर प्रचलन रहा है। मौर्य-संवत् (मुरिय काल) का उपयोग अत्यन्त अल्प हुआ है और जहां तक इतिहास-विदों को ज्ञात है यह गणना-क्रम केवल एक बार उड़ीसा के पुरी जिले के हाथी-गुम्फावाले खारवेल के शिलालेख में प्रयुक्त हुआ है। सिल्यूकिद-संवत् तो भारत में शायद किसी काल में प्रयुक्त नहीं हुआ। इसे ग्रीकराज सिल्यूकस ने चलाया था परन्तु इसका प्रसार संभवतः हिन्दूकुश के इस पार न हो सका।

सिल्यूकिद-संवत् के बाद काल-क्रम से विक्रम-संवत् ही आता है क्योंकि इसका आरम्भ ई० पू० 57-56 में हुआ था। उत्तरी भारत में विक्रम-संवत् का आरम्भ चैत्र शुक्लपक्ष 1 से और दक्षिण भारत में कार्तिक शुक्लपक्ष 1 से माना जाता है। इसी से उत्तरी को 'चैत्रादि' और दक्षिणी को 'कार्तिकादि' संवत् कहते हैं। उत्तर में महीने कृष्ण 1 से आरम्भ होकर शुक्ल 15 को समाप्त होते हैं और दक्षिण में शुक्ल 1 से प्रारम्भ होकर कृष्ण अमावस्या को समाप्त होते हैं। इसी कारण उत्तरी भारत में महीने 'पूर्णिमान्त' और दक्षिणी भारत में 'अमान्त' कहलाते हैं। भारतवर्ष के संवतों में जिस संवत् का उप-

योग सबसे प्राचीन काल (उन्हें छोड़कर जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है) से लेकर आज तक प्रचलित रहा है, वह है विक्रम-संवत्। इसके निचले छोर के सम्बन्ध में तो किसी प्रकार का संदेह हो ही नहीं सकता क्योंकि हम आज इसका सर्वथा सर्वत्र प्रयोग कर ही रहे हैं परन्तु यह आश्चर्य की बात है कि इस संवत् का प्राचीनतम प्रयोग इस नाम से नवीं शती ईसवी से पूर्व में नहीं मिलता। संभव है जिन लेखों में इसका विक्रम-संवत् नाम से उल्लेख हुआ हो वे अब तक नहीं मिल सके और आगे मिलें, परन्तु यह कम कुतूहल का विषय नहीं कि जहां हमारे नाना राजकुलों के खुदाए मिले हुए तिथिविधायक शिला, स्तम्भ और अन्य लेखों की संख्या सहस्रों में है वहां नवीं शती ईसवी से पूर्व का एक भी लेख विक्रम-संवत् के स्पष्ट उल्लेख के साथ न मिला। जिस पहले लेख में विक्रम-संवत् का सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है वह चाहमान (चौहान) राजा चण्डमहासेन का है जो धौलपुर से मिला है और विक्रम-संवत् 898 अर्थात् सन् 841 ई० का हवाला देता है। उस लेख का एकांश इस प्रकार है—वसु नव(अ)ष्टौ वर्षा गतस्य कालस्य विक्रमाख्यस्य (।) वैशाखस्य सिताया (यां) रविवार युतद्वितीयां···।[1]

कृत और मालव संवत् जान पड़ता है, विक्रम-संवत् ही है। संभवतः विक्रम-संवत् का प्रयोग कृत और मालव नामों से हुआ है। कृत और मालव संवतों के एक होने में तो कोई सन्देह है नहीं, क्योंकि एक ही लेख में दोनों का पर्यायवाची अर्थ में प्रयोग हुआ है।[2] पर साधारणतया मालव और विक्रम-संवतों के एक होने में भी कोई सन्देह इसलिए नहीं होना चाहिए कि दोनों का आरम्भ एक ही तिथि से है। अनेक बार इस प्रकार विक्रम-संवत् का प्रयोग मालव-संवत् के नाम से हुआ है।[3]

---

1. Indian Antiquary, खण्ड 19, पृ० 35.
2. श्रीर्म्मालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसंज्ञिते (।)—Epigraphia Indiea, खण्ड 12, पृ० 320। कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेष्वेकाशीत्युत्तरेष्वस्यां मालव-पूर्व्वस्यां—राजपूताना संग्रहालय, अजमेर में सुरक्षित उदयपुर राज के नागरी का लेख।
3. मालवानां शरदां षट्त्रिंशत्संयुतेष्वतीतेषु नवसु शतेषु—Archaeological Survey Report, खण्ड 10, प्लेट 11, ग्यारसपुरवाले लेख से।
   श्रीर्म्मालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसंज्ञिते (।) एकषष्ट्यधिके प्राप्ते समाशय चतुष्टये (।।) प्रावृक्का (ट् का) ले शुभे प्राप्ते—Ep: Ind:, खंड 12, पृ० 320.—नरवर्मा का मन्दसौर (दशपुर) वाला शिलालेख।
   कृतेषु चतुसु वर्षशतेष्वेकाशीत्युत्तरेष्वस्यां मालवपूर्व्वस्यां (400) 801

साधारणतया मालव-संवत् को ही विक्रम-संवत् कहते हैं। पश्चात् काल में तो यह संज्ञा लुप्त होकर केवल विक्रम-संवत्वाली ही रह गई और इस लोप की एक मंजिल हमें तब उपलब्ध होती है जब हम कणस्वा के शिवमन्दिर-वाले लेख में 'संवत्सर ...मालवेशानां' और मैनालगढ़वाले में 'मालवेशगतवत्सर (रैः)' पढ़ते हैं। जान पड़ता है कि बाद में लोग विक्रमादित्य और उनका मालवगण के साथ वाला सम्बन्ध स्पष्ट न रख सके।

मालव-संवत् को विक्रम-संवत् क्यों कहने लगे, इस पर विद्वानों के मतभेद हैं। कुछ का तो कहना है कि विक्रमादित्य नाम के राजा ने ही इस संवत् को चलाया जिससे इसकी संज्ञा विक्रम-संवत् पड़ी। कुछ यह मानते हैं कि वास्तव में यशोधर्मदेव ने हूणों को हराकर यह संवत् चलाया और इसे प्राचीन करने के लिए इसका आरम्भ 500 वर्ष पूर्व फेंक दिया। स्पष्ट है कि इस सिद्धांत में अटकल ही आधार और अट्ट दोनों हैं और इस पर विचार करने की आवश्यकता नहीं, यद्यपि यशोधर्मा स्वयं एक विक्रमादित्य था। इसको न मानने

कार्त्तिकशुक्लपंचम्याम्।—मध्यमिका का लेख, अजमेर के पुरातत्त्व संग्रहालय में संग्रहीत।

मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये। त्रिनवत्यधिकेऽब्दानम्रि (मृ) तौ सेव्यघनस्तने। सहस्यमासशुक्लस्य प्रशस्तेह्नि त्रयोदशे – कुमारगुप्त प्रथम का मन्दसौर (दशपुर) का शिलालेख, फ्लीट, Gupta Inscriptions, पृ० 83.

पंचसु शतेषुशरदां यातेष्वेकान्नवतिसहितेषु। मालवगणस्थितिवशात्काल-ज्ञानाय लिखितेषु—वही, पृ० 154. यशोधर्मा (विष्णुवर्धन) के मन्दसौर-वाले लेख से।

संवत्सरशतैर्यातैः सपंचनवत्यर्गलैः (।) सप्तभिर्मालवेशानां—कणस्वा (कोटा के पास) के शिव मन्दिर के लेख से, Ind., Ant., खण्ड 19, पृ 59.

मालवेशगतवत्सर (रैः) शतैः द्वादशैश्च (षड्विंशपूर्वकैः)—Journal of the Asiatic Society of Bengal, खण्ड 55, भाग 1, पृ० 46.—अजमेर के चाहमान राजा पृथ्वीराज (पृथ्वीभट) के समय के मैनालगढ़वाले (उदयपुर राज्यान्तर्गत) लेख से (सं० 1226)। इस लेख से अनुमान होता है कि लेखक के समय अर्थात् संवत् 1226 तक संभवतः मालवों के गण होने की बात लोगों को भूल गई थी और 'मालवगणस्थिति' को 'मालवेश' का संवत्सर कहा जाने लगा था। इस लेख में आए मालवेश से तात्पर्य विक्रमादित्य से है, परन्तु सौभाग्यवश उस संज्ञा का सम्बन्ध अभी मालवा अथवा मालव (गण) से जुड़ा हुआ है। लेखक मालवगणवाली अनुश्रुति की परम्परा को भूलकर इस संवत्सर को 'मालवेश' का संवत् कहता हुआ भी उसका सम्बन्ध मालवा से न भूल सका।

का सबसे बड़ा कारण यह है कि मालव-संवत् एक विस्तृत काल से तब चला आ रहा था। फ्लीट साहब के इस अनुमान को सहज ही विद्वानों ने त्याग दिया है। कुछ विद्वानों ने सन्देह किया है कि ई० पू० प्रथम शती में कोई विक्रमादित्य नामक राजा हुआ भी या नहीं। संभवतः नही हुआ। उनका यह सन्देह कुछ मात्रा में ग्राह्य भी है। साधारणतया यह प्रश्न हो सकता है कि यदि प्रथम शताब्दी ई० पू० में विक्रमादित्य नामक इतना प्रतापी राजा हो सकता तो कम से कम उसके कुछ शिलालेख, स्तंमलेख अथवा अन्य लेख तो हमें प्राप्त होते। परन्तु जिन विद्वानों ने इस प्रश्न को उठाया है उन्होंने इस बात पर शायद ध्यान नहीं दिया है कि प्रथम शती ई० पू० का समय अत्यन्त डावां-डोल और उथल पुथल का था। संभव है ऐतिहासिक सामग्री बिखर गई हो जिस पर हम उसके अस्तित्व का आधार रख सकते। परन्तु साथ ही हमें यह बात न भूलनी चाहिए कि जनश्रुति के साथ-साथ ही ऐतिहासिक अनुश्रुति भी प्रथम शती ई० पू० में किसी विक्रमादित्य के होने के पक्ष में है। डॉक्टर स्तेन कोनो को उद्धृत करते हुए डॉक्टर काशीप्रसाद जायसवाल ने भी इस काल में होने वाले एक विक्रमादित्य के ऐतिह्य को स्वीकार किया है ("Problems of Saka and Satavahana History"—Journal of the Bihar and Orissa Research Society, 1930 में प्रकाशित)। इसके अतिरिक्त एक विशेष बात यह है कि हमारी साहित्यिक अनुश्रुति तो स्पष्टतया इस विक्रमादित्य-विषयक तथ्य के अनुकूल है। जैन-साहित्य, पट्टावलि, जिनसेन-गाथा आदि के अतिरिक्त विक्रमादित्य के प्रथम शती ई० पू० में होने का प्रमाण संस्कृत और प्राकृत साहित्य से भी उपलब्ध होता है। सातवाहन (शालिवाहन) राजा हाल के प्राकृत सतसई ग्रन्थ 'गाथा-सप्तशती' में राजा विक्रमादित्य का उल्लेख किया गया है।[1] इस हाल का समय लगभग प्रथम शती ईसवी है। कम से कम वह दूसरी शताब्दी ईसवी के बाद किसी प्रकार नहीं रखा जा सकता अर्थात् वह आन्ध्र सातवाहन विक्रमादित्य (प्रथम शती ई० पू०) से लगभग दो या तीन शताब्दियों के बाद जीवित था। राजा विक्रमादित्य का उल्लेख इस हाल ने तो किया ही है। उसके अतिरिक्त उस राजा का उल्लेख कश्मीरी कवि गुणाढ्य ने अपने पैशाची-प्राकृत के ग्रन्थ 'बृहत्कथा' में किया है। यह गुणाढ्य हाल का समकालीन था। गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' तो अब उपलब्ध नहीं है, परन्तु उसका संस्कृत रूपान्तर 'कथासरित्सागर' नाम से सोमदेवभट्ट द्वारा प्रस्तुत अब भी उपलब्ध है। इसमें राजा

1. संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खं।
   चलणेण विक्कमाइच्च चरिअमणुसिक्खिअं तिस्सा।
   —गाथा 464, वेबर का संस्करण।

विक्रमसिंह की कथा लंबक 6, तरंग 1 में वर्णित है। अतः चूंकि प्रथम शती ई० पू० वाले विक्रमादित्य के जीवन काल से दो सदियों के भीतर होनेवाले दो महापुरुषों (हाल और गुणाढ्य) के ग्रन्थों में उस राजा का उल्लेख मिलता है, उसके एतिहासिक अस्तित्व में किसी प्रकार का सन्देह करना अवैज्ञानिक होगा, विशेषकर जब हमारी जैनादि अन्य अनुश्रुतियों का इस सम्बन्ध में सर्वथा ऐक्य है। फिर बाद में आनेवाले विक्रमादित्यों के सम्बन्ध की अनुश्रुतियों से इस विक्रमादित्य की अनुश्रुतियों के मिल जाने का भी कोई कारण नहीं जब हमने केवल उन ग्रन्थकारों के प्रमाण दिए हैं जो उसके बाद के प्रथम विक्रमादित्य (गुप्तराज चन्द्रगुप्त द्वितीय) से पूर्व के थे।

इस प्रकार यह विचार तो प्रायः प्रमाणित हो जाता है कि ई० पू० प्रथम शती में कोई विक्रमादित्य नाम का प्रतापी व्यक्ति था। वह कौन था यह कहना कठिन है, और यह भी कि 'विक्रमादित्य' उस व्यक्ति की संज्ञा थी या विरुद था। लगता है यह विरुद-सा ही, और बाद के जिन-जिन नरेशों ने यह संज्ञा धारण की है वह है भी विरुदरूप में ही।[1] डॉक्टर काशीप्रसाद जायसवाल ने जिस राजा को विक्रमादित्य माना है वह है सातवाहन कुल का गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णि। अपने Problems of Saka and Satavahana History[2] में उन्होंने विक्रम-संवत् पर जो विचार प्रकट किए हैं उनसे स्पष्ट है कि वे गौतमीपुत्र शातकर्णि को ही विक्रमादित्य मानते हैं। उन्होंने अपने उक्त लेख में शकों के विरुद्ध दो विजयों का उल्लेख किया है—(1) गौतमीपुत्र द्वारा नहपाण की, और (2) मालवों द्वारा शकों की। इसमें नं० (2) मान लेने में तो शायद किसी को आपत्ति न होगी परन्तु नं० (1) को स्वीकार करना कठिन है। पहले तो यही संदिग्ध है कि गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णि और क्षहरात क्षत्रप नहपाण समकालीन थे। यदि यह हम मान भी लें, जो कई अन्योन्याश्रय न्यासों से संभव भी है, तब भी यह स्वीकार करना अभी अत्यन्त कठिन है कि वे प्रथम शती ई० पू० में थे। बहुत संभव है कि यदि सिमुक सातवाहनों का आदि पुरुष था और उसने काण्वायनों का 29 ई० पू० में नाश किया, तब उसके वंशज गौतमीपुत्र का निश्चय ईसा की शताब्दियों में ही राज कर सकना संभव हो

---

1. (1) चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (लगभग 375 ई०—414 ई०)
   (2) स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य (ल० 455-467 ई०)
   (3) यशोधर्मन् विक्रमादित्य (533 ई०)
   (4) हेमू (1556 ई०)
2. Journal of the Bihar and Orissa Research Society, खण्ड 16, भाग 3 और 4, पृ० 226-316.

सकेगा। उस दशा में गौतमीपुत्र को विक्रमादित्य और नहपाण को शक मानकर प्रथम शती ई० पू० में रखना कठिन हो जायगा। फिर यह भी संदिग्ध है (कुछ अंशों में) कि नहपाण शक था! एक बात यह भी है कि यदि वह विक्रम सातवाहन होता तो हाल उसका हवाला देते समय उसे अपना पूर्वज अवश्य कहता। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णि का विरुद 'विक्रमादित्य' नहीं था और इससे भी विशिष्ट ध्यान योग्य बात यह है कि विक्रम-संवत् का प्रयोग स्वयं गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णि अथवा उसके वंशज नहीं करते। वे केवल अपने राज्यकाल का करते हैं : यह कैसे संभव था कि जिसने इतनी बड़ी विजय के स्मारक में 'विक्रम-संवत्' चलाया उसका स्वयं वह या उसके वंशज अपने शिलालेखों में प्रयोग न करें? फिर उस संवत् का उपयोग क्या था? उसका प्रयोग किसके लिए उपयुक्त था, खासकर तब, जब हमें इसके विरोध में प्रमाण उपलब्ध हैं? कुषाणराज कनिष्क द्वारा चलाए शक-संवत् का प्रयोग स्वयं वह और उसके वंशधर करते हैं। इसी प्रकार गुप्तसम्राट् भी मालव-संवत् के साथ ही साथ अपने राज्यकाल और अपने पूर्वज चन्द्रगुप्त द्वारा चलाए गुप्त-संवत् (319-20 ई०) का प्रयोग (गुप्तप्रकाले गणनां विधाय) बराबर अपने लेखों में करते हैं। इस कारण गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णि को आदि विक्रमादित्य मानना युक्तिसंज्ञक नहीं जंचता : फिर यह विक्रमादित्य कौन था?

विक्रमादित्य का प्रथम-द्वितीय शती ईसवी के ग्रन्थों से होना प्रमाणित है इसका विवेचन ऊपर कर आए हैं। यहां पर एक अन्य अस्पष्ट और उलटी युक्ति का प्रमाण भी विचार्य हो सकता है जो संभवतः श्रेयस्कर सिद्ध होगा। जिस विजय के उपलक्ष्य और स्मरण में यह विक्रम-संवत् घोषित और प्रचलित किया गया वह विजय कौन-सी थी? गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णि द्वारा नहपाणवाली विजय अनेक अन्य प्रमाणों से यहां अयुक्तियुक्त और अप्रासंगिक होने के कारण इस विषय पर प्रकाश नहीं डाल सकती। फिर एक ही और ई० पू० प्रथम शती की विजय है जो शकों के विरुद्ध हुई है और जिसके स्मारक-स्वरूप यह संवत् प्रचलित किया जा सका होगा—वह है मालवों की विजय शकों के विरुद्ध। मालवों ने शकों को अवन्ति से निकालकर वहां अपने गण (मालव-गण) की स्थापना की और अपने गण के नाम से ही अवन्ति प्रदेश का 'मालवा' नामकरण किया। यह घटना प्रथम शती ई० पू० में घटी और इसी के स्मारक में उन्होंने विक्रम-संवत् चलाया जिसकी प्रारंभिक तिथि मालव-गण की अवन्ति में स्थापना की तिथि होने के कारण (मालवगणस्थित्या) वह मालव-संवत् भी कहलाया। विक्रम-संवत् उसका नाम दो कारणों से हो सकता है। (1) या तो 'विक्रम' का सम्बन्ध व्यक्ति-विशेष से न होकर 'शक्ति', 'विक्रम', 'पराक्रम' से हो जिसकी प्रतिष्ठा शकों के अवन्ति से निष्कासन और वहां मालवों की प्रतिस्थिति से हुई

(जैसा श्री जायसवाल ने माना है) या (2) उसका यह नाम मालवजाति के किसी प्रमुख नेता के नाम से सम्बन्ध रखता होगा। इनमें प्रथम को स्वीकार करना असंभव इस कारण हो जाता है कि उस दशा में प्रथम शती ईसवी के हाल और गुणाढ्य के विक्रमादित्य सम्बन्धी निर्देश निरर्थक हो जाते हैं। इससे संख्या (2) वाला कारण ही यथार्थ जान पड़ता है। अस्तु, इस पर नीचे फिर एक बार विचार करेंगे। यहां इस पर प्रकाश डालना अधिक युक्तिसंङ्गत जंचता है कि मालव-गण कब और किस प्रकार अवन्ति में पहुंचे ? इस सम्बन्ध में उनके ऐतिहासिक प्रसार पर विचार करना नितान्त आवश्यक है। अतः नीचे पंजाब से उनकी दक्षिण-पश्चिमी प्रगति पर विचार किया जाएगा।

किसी समय में पंजाब में अनेक गणतन्त्र (अराजक प्रजातन्त्र) फैले हुए थे। उन्हीं में मालवों और क्षुद्रकों के गण भी थे। अलिकसुन्दर ने जब 326 ई० पू० में भारत पर आक्रमण किया तब मालवों ने उससे सबल मोर्चा लिया था। संभवतः उन्हीं के एक नगर का घेरा डालने पर उनके ही किसी वीर के बाण से अलिकसुन्दर आहत हुआ था और यद्यपि अलिकसुन्दर की छाती से भयंकर शल्यक्रिया करके वह बाण निकाल लिया गया तथापि शायद वही घाव अन्ततः उसकी मृत्यु का कारण हुआ। मालव सरदारों ने अलिकसुन्दर से कहा था कि वे बहुत काल पूर्व से स्वतन्त्र थे, और राजपूताने में वे बहुत काल पीछे करीब 300 ई० तक स्वतन्त्र रहे जब उन्हें समुद्रगुप्त ने पराजित किया। इस प्रकार मालवों का स्वतन्त्र जीवन लगभग एक हजार वर्षों तक कायम रहा। अलिकसुन्दर के इतिहासकारों ने उन्हें 'मल्लोई' कहा है। मालव लोग उस ग्रीक आक्रमण के समय झेलम के तट पर थे। चिनाब जहां झेलम से मिलती है, उस संगम से ऊपर क्षुद्रक और नीचे झेलम के बहाव के किनारे मालव लोग रहते थे। एरियन लिखता है (6, 4) कि मालव लोग संख्या और युद्धप्रियता में भारतीयों में बहुत बढ़े-चढ़े थे। एरियन उन्हें स्वतन्त्र राष्ट्र कहता है (6, 6) उनके नगर चिनाब और झेलम के तटों पर फैले हुए थे और उनकी राजधानी रावी के तट पर थी। मालव और क्षुद्रकों का प्रताप इतना जाना हुआ था कि उनसे युद्ध की संभावना देखकर ग्रीक सैनिकों के हृदयों में आतंक छा गया। कर्टियस[1] का कहना है कि जब ग्रीक सैनिकों ने जाना कि उन्हें भारतीयों में सबसे युद्धप्रिय गणतंत्र मालवों से अभी लड़ना है तो वे सहसा त्रास से भर गए और अपने राजा को विद्रोह-भरे शब्दों से संबोधित करने लगे।

अलिकसुन्दर से मुठभेड़ होने के बाद उन्होंने अपना निवासस्थान सर्वथा

1. Book 9, परिच्छेद 4; Mccrindle, India Invasion by Alexander, पृ० 234।

भयास्पद जाना और वे पंजाब छोड़ दक्षिण-पश्चिम की ओर बढ़ चले । कु काल तक साहित्य में उनका पता नहीं चलता, परन्तु शुंगकाल में सहसा वे फिर भारतीय रंगमंच पर चढ़ आते हैं । पतञ्जलि को उनका ज्ञान है और भाष्यकार ने अपने महाभाष्य में मालव-क्षुद्रकों की किसी संयुक्त विजय का उल्लेख किया है, पर शीघ्र ही बाद में क्षुद्रक खो जाते हैं । लेखों अथवा साहित्य में हमें क्षुद्रकों का पता नहीं चलता और पूर्वी राजपूताने की ओर पहुंचते-पहुंचते वे मालवों में सर्वथा खो जाते हैं । प्रायः 150-100 ई० पू० में हम मालवों को उनके नये आवास पूर्वी राजपूनाना में प्रतिष्ठित पाते हैं जैसा करकोट नागर (जयपुर राज्य) में पाए गए उनके सिक्कों से जान पड़ता है ।[1] इसी समय पार्थव शकों का भारतवर्ष पर आक्रमण हुआ जिनके 95-96 परिवार सिन्धुनदी पार करके 'हिन्दुगदेश' चले आए थे और उन्होंने सौराष्ट्र, गुजरात और अवन्ति देश पर अधिकार कर लिया था । धीरे-धीरे उनमें से सर्वशक्तिमान् एक कुल उन्हें आक्रान्त कर उन पर शासन करने लगा था । कालकाचार्य कथानकवाली कथा इसी समय परिघटित हुई । यही भारत का सर्वपूर्व प्राथमिक शक-परिवार था जिसका मालवों से संघर्ष हुआ था ।

अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करते हुए मालव दक्षिण की ओर बढ़ते गए । संभवतः वे पटियाला राज के भटिण्डा की ओर से होकर बढ़े । वहां वे अपना नाम 'मालवाई' बोली में छोड़ते गए हैं । इस बोली का विस्तार फिरोजपुर से भटिण्डा तक है ।[2] 58 ई० पू० के आसपास वे अजमेर के पीछे से निकलकर अवन्ति की ओर बढ़ चले थे, जहां उन्हें एक विदेशी अभारतीय शक्ति से लोहा लेना पड़ा । लड़ाई जरा जमकर हुई क्योंकि एक ओर तो स्वतन्त्रताप्रिय मालव थे और दूसरी ओर अवन्ति के वे शक जो पार्थवराज मज्ददात द्वितीय के क्रोध से भागे हुए थे । उन्हें भारत से बाहर मृत्यु का सामना करना था इसलिए जान पर खेलकर शक मालवों से लड़े परन्तु हार उन्हीं की हुई । मालव विजयी हुए और उन्होंने शकों को अवन्ति से निकालकर उस प्रदेश का नाम अपने नाम के अनुरूप मालवा रखा । अवन्ति इसी तिथि से मालवा कहलाई और इसी विजय-तिथि के स्मारक स्वरूप विक्रम-संवत् का प्रचलन हुआ । इस नये देश में अपनी स्थिति के उपलक्ष में और अपनी भारी विजय के स्मारक में नया संवत् प्रचलित करने के साथ ही साथ उन्होंने नये सिक्के भी चलाए और उनके ऊपर उन्होंने अंकित कराया—'मालवान (नां) जय (यः)'[3] । इसी विजय और अपने गण के

1. और 'मालव जय', 'मालवहण जय', 'मालवगणस्य' आदि ।
2. Cunningham, ASR, खण्ड 14, पृ० 150 ।
3. Linguistic Survey of India, खण्ड 9, पृ० 709 ।

...प्ति में प्रतिष्ठित होने के समय से (मालवगणस्थित्या)[2] आगे काल की गणना करने के लिए (काल-ज्ञानाय)[3] उन्होंने अपने मालव-संवत् या विक्रम-संवत् का आरम्भ किया। उनके प्रयोग से मालव-अथवा विक्रम-संवत् प्रशस्त हुआ[4]। आज तक हम सदा दो सहस्र वर्षों तक उसका उपयोग करते आए हैं। गुप्तों ने उनकी स्वतन्त्रता नष्ट कर दी और उनका नाम समुद्रगुप्त द्वारा विजित गणों में यौधेय, मद्र, आर्जुनायनों आदि के साथ प्रयागवाले स्तंभ पर मिलता है। परन्तु उन्हें नष्ट करके भी वे उनके विजय-स्मारक संवत् को नष्ट न कर सके। स्वयं गुप्त-सम्राट् मालव-संवत् का उपयोग करते रहे। मालवा के नरेशों ने चौथी शती ईसवी से छठी शती ईसवी तक निरन्तर इस संवत् का प्रयोग किया। बाद में जब उनके गण की स्वतन्त्र सत्ता मिट गई, उसका नाम भी लोगों को विस्मरण हो गया, तब उनके क्षुद्र मुखिया की याद भर उन्हें रह गई और संभवतः उसी के विक्रम नाम से बाद के भारतीय मालवों का स्मरण करते रहे और अनजाने उनके कीर्तिस्मारक संवत् का प्रयोग सहस्रों वर्ष तक होता रहा।

इसमें तो अब सन्देह रहा नहीं कि मालव-संवत् ही विक्रम-संवत् है, जो उनके शकों के हराने के स्मारक में चलाया गया। अब इस पर विचार करना है कि वह मालव-संवत् विक्रम-संवत् क्योंकर कहलाने लगा? निश्चयपूर्वक तो यह कहना कठिन है कि मालव-संवत् विक्रम-संवत् क्यों और कब कहलाने लगा, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऊपर निर्दिष्ट 'मालवेश'[5] आदि इस संवत् की प्रगति के मंजिल हैं। मालव-गण का जिस तेजी से लोप हो गया है उसी तेजी के साथ लोगों ने उनके प्रदेश की राजकता की भी कल्पना कर ली। जान पड़ता है कि मालवों की सेना के संचालकों में प्रमुख विक्रम नाम का कोई व्यक्ति था जिसकी शक्ति और युक्ति ने शक-पराभव कराने में विशेष भाग लिया और इसी से कालान्तर में उसका सम्बन्ध मालव-संवत् से कर दिया गया। इस प्रकार के अन्य भी आचरण संसार के इतिहास में हुए हैं। रोमन स्वतन्त्रता का अन्त कर जूलियस सीजर और ऑक्टेवियस सीजर इसी प्रकार सम्राट् बन गए थे और फ्रेंच राज्यक्रान्ति के बाद नेपोलियन ने भी उसी लिप्सा का परिचय दिया था। प्लूटार्च लिखता है कि जब विश्व जीतने के लिए अलिकसुन्दर ने

---

2. कुमारगुप्त प्रथम का मन्दसौरवाला लेख, Fleet, Gupta Inscription पृ० 83।
3. Fleet, वही, पृ० 154।
4. श्रीमालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसंज्ञके—Ep. Ind., खण्ड 19, पृ० 320।
5. मालवेशगतवत्सरै—JASB खण्ड 55, भाग 1, पृ० 46; और मालवेशानां —Ep. Ind. खण्ड 19, पृ० 59।

ग्रीक नगर-राज्यों से मदद मांगी थी तब उन्होंने उससे प्रतिज्ञा करा ली कि उसकी सहायता इसी शर्त पर करेंगे कि वह उनके सामने अपने को 'खुदा का बेटा' न कहे। यही रूप मालव-गण में भी प्रमुख व्यक्तियों का रहा होगा। धीरे-धीरे उनके व्यक्तित्व की प्रबलता गणतंत्र की शक्ति को कुचलकर उठ गई होगी। बाद की अनाराजक प्रजा ने गणतन्त्र के महत्त्व को न समझ कर उस संवत् को मालवगण से हटाकर उसके मुखिया विक्रम से जोड़ दिया। यही दशा लिच्छवि राजाओं की हुई। इसी जन-दुर्बलता के कारण शाक्यों के मुखिया शुद्धोदन देश विशेष के राजा मान लिये गए।

परिशिष्ट 'ख'

1. द्रुपदस्य सुता कृष्णा देहान्तरगता मही ॥
2. ततो न रक्षये वृत्त शव (:?) शाते नृपमण्डले।
3. भविष्यति कलिर्नाम चतुर्थं पश्चिमं युगं ॥
4. ततः कलियुगस्यातो (० दौ) परिक्षिज्ज (न) मेजयः।
5. प्रथिव्यां पृथितः श्रीमानुत्पत्स्यति न संशयः ॥
6. सोपि राजा द्विजै (:) सार्द्धां विरोधमुपधास्यति।
7. दारविप्रकृतामर्षः कालस्य वशमागत ॥
8. ततः कलियुगे राजा शिशुनागात्म (म ?) जो बली।
9. उदधी (° यो) नाम धर्मात्मा पृथिव्यां प्रथितो गुणैः ॥
10. गंगातीरे स राजर्षिर्द्दक्षिणे स महार्णवे।
11. स्थापयेन्नगरं रम्यं पुष्पारामजनाकुलं ॥
12. तेथ (प्राकृत, तत्र) पुष्पपुरं रम्यं नगरं पाटली सुतम्।
13. पञ्चवर्षसहस्राणि स्थास्यते नात्र संशयः ॥
14. वर्षाणां च शताः पञ्च पञ्चसंवत्सरास्तथा।
15. मासपंचमहोरात्रं मुहूर्त्ताः पंच एव च ॥
16. तस्मिन् पुष्पपरे रम्ये जनराजा शताकुले।
17. ऋतुक्षा कर्मसुतः शालिशूको भविष्यति ॥
18. स राजा कर्मसूतो दुष्टात्मा प्रियविग्रहः।
19. स्वराष्ट्रमर्दते घोरं धर्मवादी अधार्मिकः।
20. स ज्येष्ठभ्रातरं साधुं केतिति (केतति ?) प्रथितं गुणैः।
21. स्थापयिष्यति मोहात्मा विजयं नाम धार्मिकम् ॥
22. ततः साकेतमाक्रम्य पंचालान्मथुरां तथा।

23. यवना. दुष्टविक्रान्ता (:) प्राप्स्यन्ति कुसुमध्वजं ।।
24. ततः पुष्पुपुरे प्राप्ते कर्दमे प्रथिते हिते ।
25. आकुला विषयाः सर्वे भविष्यन्ति न संशयः ।।
26. श (स्त्र) दु (द्रु) म-महायुद्धं तद् (तदा) भविष्यति पश्चिमम् ।
27. अनार्याश्चार्यधर्माश्च भविष्यन्ति नराधमाः ।
28. ब्राह्मणा (:) क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैवं युगक्षये ।
29. समवेषा (:) समाचारा भविष्यन्ति न संशयः ।
30. पाषंडैश्च समायुक्ता नरास्तस्मिन् युगक्षये ।
31. स्त्रीनिमित्तं च मित्राणि करिष्यन्ति न संशयः ।
32. चीरवल्कलसंवीता जटावल्कल धारिणः ।
33. भिक्षुका वृषला लोके भविष्यन्ति न संशयः ।
34. त्रेताग्निवृषला लोके होष्यन्ति लघुविक्रियाः ।
35. ऊकारप्रथितैर्मन्त्रै (:) युगान्ते समुपस्थिते ।
36. आग्निकार्ये च जप्ये च अग्निके च दृढव्रताः ।
37. शूद्राः कलियुगस्यान्ते भविष्यन्ति न संशयः ।
38. भोवादिनस्तथा शूद्रा (:) ब्राह्मणाश्च (ा) यंवादिनः ।
39. स (म) वेशा (:) समाचारा भविष्यन्ति न संशयः ।
40. धर्म्मभीत-तमा वृद्धा जनं भोक्ष (क्ष्य) न्ति निर्भयाः ।
41. यवना ज्ञापयिष्य (ं) ति (नश्येरन्) च पार्थिवाः ।
42. मध्यदेशे न स्थास्यन्ति यवना युद्धदुर्मदा ।
43. तेषामन्योन्य-संभाव (ं) भविष्यति न संशयः ।
44. आत्मचक्रोत्थितं घोरं युद्धं परमदारुणं ।
45. ततो युगवपात्तेषां यवनानां परिक्षये ।
46. स (ा) केते सप्तराजानो भविष्यन्ति महाबलाः ।
47. लोहिता (प्ते) स्तथा योधेर्योग्रा युद्धपरिक्षताः ।
48. करिष्यन्ति पृथिवीं शून्यां रक्तघोरां सुदारुणां ।
49. ततस्ते मगधाः कृत्सना गंगासीना (:) सुदारुणाः ।
50. रक्तपातं तथा युद्ध भविष्यति तु पश्चिमं ।
51. अ (ा) ग्निवैश्यास्तु ते सर्वे राजानो (०नः) कृतविग्रहाः ।
52. क्षयं यास्यन्ति युद्धेन यथैषामाश्रिता जनाः ।
53. शकानां च ततो राजा ह्यर्थलुब्धो महाबलाः ।
54. दुष्टभावश्च पापश्च विनाशे समुपस्थिते ।
55. कलिंग-शत-राजार्थे विनाशं वै गमिष्यति ।
56. केचद्रकण्डैः (?) भ्रवलैर्विलुपन्तो गमिष्यन्ति ।

57. कनिष्टास्तु हता (:) सर्वे भविष्यन्ति न संशयः ।
58. विनष्टे शकराजे च शून्या पृथिवी भविष्यति ।
59. पुष्पनाम तदा शून्य (ं) (वी) भत्स (ं) भवति (वत) ।
60. भविष्यति नृपाः कश्चिन्न वा कश्चिद्भविष्यति ।
61. ततो (ऽ) रणो धनुमूलो भविष्यति महाबलाः ।
62. अम्लाटो लोहिताक्षेति पुष्यनामं (ग) मिष्यति ।
63. सर्वे ते नगरं गत्वा शून्यमासाद्य (स) वंतः ।
64. अर्थलुब्धाश्च ते सर्वे भविष्यन्ति महाबलाः ।
65. ततः स म्लेच्छ आम्लाटो रक्ताक्षो रक्तवस्त्रभृत ।
66. जनमादाय विवशं परमुत्सादयिष्यति ।
67. ततोवर्णास्तु चतुरः स नृपो नाशयिष्यति ।
68. वर्णाधःवेस्थितान् सर्वान् कृत्वा पूर्वाव्यवस्थि (तान्) ।
69. आम्लाटो लोहिताक्षश्च विपत्स्यति सबान्धवः ।
70. ततो भविष्यते राजा गोपालोभाम-नामतः ।
71. गोपा (लः) तु ततो राज्यं भुक्त्वा संवत्सरं नृपः ।
72. पुष्पके चाभिसंयुक्तं ततो निधनमेष्यति ।
73. ततो धर्मपरो राजा पुष्पको नाम नामतः ।
74. सोपि संवत्सरं राज्यं भु (क्त्वा) निधनमे (ष्य) ति ।
75. ततः सविलो राजा अनरणो महाबलः ।
76. सोपिं वर्षत्रयं भुक्त्वा पश्चान्निधनमेष्यति ।
77. ततो विकुयशाः कश्चिदब्राह्मणो लोकविश्रुतः ।
78. तस्यापि त्रीणि वर्षाणि राज्यं दुष्टं भविष्यति ।
79. ततः पुष्पपुर (०) स्या (त्) तथैव जनसंकुलं ।
80. भविष्यति वीरं (र-) सिद्धार्थं (थं-) प्रसवोत्सवसंकुलं ।
81. पुरस्य दक्षिणे पार्श्वे वाहनं तस्य दृश्यते ।
82. हयानां द्वे सहस्रे तु गजवाहस्तु (क) ल्पतः ।
83. तदा भद्रपाके देशे अग्निमित्रस्तत्र कीलके ।।
84. तस्मिन्नुत्पत्स्यते कन्या तु महारूपशालिनी ।
85. तस्या (अ) र्थे स नृपो घोरं विग्रहं ब्राह्मणैः सह ।
86. तत्र विष्णुवशाद्देहं विमो (क्ष्य) ति न संशयः ।
87. तस्मिन्युद्धे महाघोरे व्यतिक्रान्ते सुदारुणे ।
88. अ (ग) ग्नि वैश्यस्तदा राजा भविष्यति महाप्रभुः ।

89. तस्यापि विंशद्वर्षाणि राज्यं स्फीतं भविष्यति ।
90. (आ) ग्निवैश्यस्तदा राजा प्राप्य राज्यं महेन्द्रवत् ।
91. भीमैः शरर (शकैः ?) संघातैर्विग्रहं समुपेष्यति ।
92. ततः शरर (शक ?) संघोरे प्रवृते स महाबले ।
93. वृषकोटे (टि) ना स नृपो मृत्युः समुपयास्यति ।
94. ततस्तस्मिन् गते काले महायुद्ध (सु) दारुणे ।
95. शून्या वसुमति घोरा स्त्री प्रधाना भविष्यति ।
96. कृषिं नार्यः करिष्यन्ति लांग (लक) र्णपाणयः ।
97. दुर्लभत्वान्मनुष्याणां क्षेत्रेषु धनुयोधनाः ।
98. (विंश) द्भार्या दशो या (वा) भविष्यन्ति नरास्तदा ।
99. प्रक्षीणाः पुरु (षा) लोके दिक्षु सर्वासु यर्वसु ।
100. ततः संघातशो नार्यो भविष्यन्ति न संशयः ।
101. आश्चर्यमिति पश्यन्तो (दृष्ट्वा) धो (धः) पुरुषाः स्त्रियः ।
102. स्त्रियो व्यवहरिष्यन्ति ग्रामेषु नगरेषु च ।
103. नराः स्वस्था भविष्यन्ति गृहस्था रक्तवाससः ।
104. ततः सातुवरो राजा ह (हृ) त्वा दण्डेन मेदिनी (म्) ।
105. व्यतीते दशमे वर्षे मृत्युं समुपयास्यति ।
106. ततः प्रनष्टचारित्राः स्वकर्मोपहृताः प्रजाः ।
107. करिष्यन्ति चका (-शका) घो (रा) बहुलाश्च इति श्रुतिः ।
108. चतुर्भागं तुं (श) स्त्रेण नाशयिष्यन्ति प्राणिनां ।
109. हरिष्यन्ति शकाः घोशं (कोशं ? तेषां ?) चतुर्भागं स्वके पुरं ।
110. ततः प्रजायां शप्रायां तस्य राज्यस्य परिक्षयात् ।
111. देवो द्वादशवर्षाणि अनावृष्टि करिष्यति ।
112. प्रजानाशं गमिष्यन्ते दुर्भिक्षभयपीड़िताः ।
113. ततः पापक्षते लोके दुर्भिक्षे लोमहर्षणे ।
114. भविष्यति युगस्यान्तं सर्वप्राणिविनाशनं ।
115. जनमारस्ततो घोरो भविष्यति न संशयः ।[1]

---

1. युग-पुराण का यह मूल पहले-पहल श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने JBORS में सितम्बर 1928 वाले अंक में पृ० 397-421 में प्रकाशित किया। उससे सन्तुष्ट न होकर राव बहादुर के० एच० ध्रुव ने उसका एक दूसरा पाठ उसी पत्रिका के खण्ड 16, भाग 1, पृ० 18-66 में छापा। परन्तु वास्तव में अभी तक इस पुराण का कोई पाठ शुद्ध नहीं कहा जा सकता। इस पर और विचार करने की आवश्यकता है। ऐसा जान पड़ता है कि इसके अनेक भाग इधर से उधर हो गए हैं जिससे प्रसंग को ठीक-ठीक समझने में कठिनाई पड़ती है और ऐतिहासिक सामंजस्य बिगड़ जाता है।
—लेखक

विक्रम-ऐतिहासिकता

□ डॉ० लक्ष्मणस्वरूप

रामायण, महाभारत और पुराणों में वर्णित सूर्यवंशी तथा चन्द्रवंशी राजाओं के अतिरिक्त भारत में बिम्बसार, अजातशत्रु, प्रद्योत, उदयन, नन्द, चन्द्रगुप्त, अशोक, पुष्यमित्र, अग्निमित्र, समुद्रगुप्त, यशोधर्मन, हर्षवर्धन जैसे अनेक राजा और महाराजा प्रसिद्ध हो चुके हैं, परन्तु जो दिगन्तव्यापिनी कीर्ति और गगनचुम्बी यश विक्रमादित्य को प्राप्त हुए हैं, वे किसी दूसरे शासक को नही मिले। भारतीय विद्वज्जनों की परम्परा के अनुसार विक्रमादित्य एक महारथी, महा-पराक्रमी और महातेजस्वी चक्रवर्ती सम्राट थे। वे साहस की साक्षात् मूर्ति थे। उनका चरित्र अति उदार था, वे दानियों में भी दानवीर थे। यदि उनके कमलनयनों की मधुर सुषमा तथा उनके स्मितकान्त ओष्ठ कुबेर के भण्डार थे, तो उनके क्रोध से रक्त नेत्र तथा वक्र भृकुटि करालकाल के द्वार थे। उनके अद्भुत अलौकिक विस्मयोत्पादक कार्यों का विस्तृत वर्णन (1) संस्कृत-साहित्य, (2) जैन-साहित्य, (3) महाराष्ट्री प्राकृत की गाथा सप्तशती, (4) गुणाढ्य रचित पैशाची बृहत्कथा आदि ग्रन्थों में पाया जाता है। पर योरप और भारत के कुछ विद्वान् भारतीय परम्परा को विश्वास के योग्य न समझकर विक्रमादित्य के ऐतिहासिक अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। उनके कथन के अनुसार विक्रमादित्य किसी व्यक्ति-विशेष का निजी (स्व) नाम न था, बल्कि एक विरुद-मात्र था। इस विरुद या उपाधि को गुप्तवंश के चन्द्रगुप्त द्वितीय, हर्षवर्धन, शीलादित्य आदि-आदि अनेक सम्राटों ने धारण किया। 'विक्रमादित्य' शब्द को अपने नाम के साथ जोड़ना वे अपने लिए गौरव की बात समझते थे। इसलिए कुछ विद्वानों की सम्मति में विक्रमादित्य एक विरुद-मात्र था, केवल एक उपाधि थी, इस नाम का कोई व्यक्ति विशेष न था। ये विद्वान् बहुश्रुत, तीव्र-समालोचक, अनुसन्धान-प्रेमी तथा सत्यप्रिय हैं। हम उनको आदर की दृष्टि से देखते हैं। हमारे हृदय में उनके प्रति श्रद्धा तथा बहु-सम्मान है, इसलिए उनके विचार को उपलब्ध सामग्री की कसौटी पर परखना आवश्यक है।

इस समय विक्रम संवत् का द्विसहस्राब्द समाप्त हुआ है। जैसे एक रचना

...के रचियता की सूचक होती है, वैसे ही विक्रम संवत् की स्थापना उसके स्थापक के अस्तित्व की सूचक होनी चाहिए। पर ऐसा माना नहीं जाता, क्योंकि विक्रम संवत् की स्थापना के विषय में ही मतभेद है। योरप के एक विद्वान् जेम्स फर्गुसन का मत[1] है कि विक्रम संवत् सन् 544 ईसवी में स्थापित किया गया और प्राचीनता प्रदान करने के लिए, संवत् का आरम्भ 600 वर्ष पहले से कर दिया गया। यह एक सार-रहित कल्पना थी, तो भी मैक्समूलर जैसे जगद्-विख्यात विद्वान् ने इसे स्वीकार कर लिया।[2] फर्गुसन के मत के अनुसार विक्रम संवत् छठी शताब्दी में स्थापित किया गया। छठी शताब्दी से पहले यह संवत् विद्यमान नहीं था, इसलिए छठी शताब्दी से पहले इस संवत् का कहीं प्रयोग नहीं मिलना चाहिए। परन्तु फर्गुसन के दुर्भाग्यवश छठी शताब्दी से पहले विक्रम संवत् का प्रयोग मिलता है। एक लेख पर 481 संवत् का उल्लेख है—'कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेषुएकाशीत्युत्तरेषु······मालवपूर्वायां······।[3] विजयगढ़ स्तम्भ पर 428 वर्ष का लेख है। मौखरियों के एक लेख पर 295 वर्ष का अंक है। उदयपुर रियासत में उपलब्ध नन्दी स्तम्भ पर 282 वर्ष का उल्लेख है। तक्षशिला के ताम्रपत्र पर 126 वर्ष का लेख है। युसुफजाई प्रदेश के पंजतर स्थान के समीप एक शिलालेख प्राप्त हुआ है। उस पर 122 अंक है और श्रावण की प्रथमा का उल्लेख है। यह वर्ष और मास भी विक्रम संवत् के ही हैं, इसलिए यह लेख तक्षशिला के ताम्रपत्र-लेख से भी अधिक प्राचीन है। पेशावर जिले में तख्तेबाही स्थान पर एक लेख मिला है। यह लेख गोण्डाफरनेस के राज्यकाल के 26वें वर्ष में लिखा गया था। इस पर वैशाख की पंचमी और 103 का अंक है। निस्सन्देह यह तिथि और वर्ष भी विक्रम संवत् के ही हैं। इस कथन की पुष्टि रैप्सन (Rapson) की निम्नलिखित पंक्तियों द्वारा होती है—'There can be little doubt that the era is the Vikrama Samvat which began in 58 B. C.' (Cambridge History of India, Vol. I. p. 576) इस प्रकार छठी शताब्दी—फर्गुसन द्वारा कल्पित स्थापना-काल—से पूर्व के लेखों में विक्रम संवत् का प्रयोग हुआ है। इन प्रबल प्रमाणों से फर्गुसन की कल्पना निराधार सिद्ध हो जाती है।

अब एक दूसरी आपत्ति खड़ी की जाती है। कहा जाता है कि दूसरी शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी तक के लेखों पर 57 ई० पू० में प्रारम्भ होने वाले संवत् का प्रयोग अवश्य हुआ है, पर संवत् का नाम विक्रम संवत् नहीं बल्कि मालवगणस्थिति और कृत-संवत् है। छठी शताब्दी के पश्चात् आठवीं

---

1. Journal of the Royal Asiatic Society, 1870, p. 81 H.
2. India what can it teach us ? p. 286.
3. Nagri Inscription A. S. H. C. 1915-16, p. 56.

शताब्दी के लेखों में इस संवत् का नाम मालवेश-संवत् है। आठवीं शताब्दी के अनन्तर ही उत्कीर्ण लेखों पर विक्रम का नाम पाया जाता है, जैसे 794 संवत् के लेख पर विक्रम का नाम स्पष्ट है—'विक्रमसंवत्सरशतेषु सप्तसु चतुर्नवत्य-धिकेषु' इसी प्रकार चण्डमहासेन के धौलपुर-पत्र पर यह लेख मिलता है—"वसु-नव-अष्टौ वर्षागतस्य कालस्य विक्रमाख्यस्य" अर्थात् 898 वर्ष। इसी प्रकार 'रामगिरिनन्दकलिते विक्रमकाले गतेतु'—इस लेख पर 973 वर्ष का उल्लेख मिलता है। एकलिंगजी के 1028 वर्ष के लेख पर भी विक्रमादित्य का नाम पाया जाता है—'विक्रमादित्य भू भृतः। अष्टाविंशतिसंयुक्ते शते दशगुणे सति।' इससे सिद्ध है कि सबसे पहले 794 वर्ष के लेख पर ही विक्रमादित्य का नाम है। इस साक्ष्य से परिणाम निकाला जाता है कि संवत् की स्थापना तो ईसा से 57-58 वर्ष पूर्व हुई, पर स्थापक विक्रमादित्य न था बल्कि मालवगण था। इस पूर्वपक्ष के विरोध में इतना कहना पर्याप्त होगा कि संसार में जितने भी संवत् या सन् प्रचलित हैं, वे सबके सब किसी न किसी व्यक्ति-विशेष से सम्बन्ध रखते हैं—जैसे, युधिष्ठिर संवत्[1], बौद्ध संवत्; महावीर संवत्, ईसवी-सन्, शक संवत् इत्यादि। एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिलता जिसका सम्बन्ध किसी न किसी व्यक्ति-विशेष से न हो या जिसकी स्थापना किसी गण, प्रजातन्त्रराज्य अथवा अभिजातकुलों द्वारा की गई हो।

दूसरी बात यह है कि विक्रम संवत् का प्रयोग पेशावर, काबुल और कंधार के लेखों में पाया जाता है। जहां तक इतिहास से पता चलता है, मालवगण ने पेशावर, काबुल, कंधार पर कभी शासन नहीं किया। महात्मा बुद्ध या महावीर के समान मालवगण किसी धर्म का प्रवर्तक भी नहीं बना। किसी संवत् के प्रचार में दो ही शक्तियों का प्रभाव होता है (1) राजनीतिक, (2) धार्मिक। इन दोनों शक्तियों के अभाव में मालवगण द्वारा स्थापित संवत् का काबुल और कंधार में कैसे प्रयोग हुआ ? संवत् की स्थापना किसी व्यक्ति-विशेष से ही सम्बन्ध रख सकती है। गण द्वारा संवत् की स्थापना स्वीकार नहीं की जा

---

1. युधिष्ठिर-संवत् महाभारत के घोर संग्राम के पश्चात् महाराज युधिष्ठिर के सिंहासन पर आरूढ़ होने के समय से आरम्भ होता है। बौद्ध और महावीर संवत् महात्मा बुद्ध तथा तीर्थंकर महावीर के निर्वाण-काल से, ईसवी सन् ईसामसीह के मृत्यु-समय से आरम्भ होते हैं। ईसवी सन् पहले चैत्र मास में आरम्भ होता था पर पीछे से पोप ग्रेगरी के संशोधन करने के कारण अब पौष मास में आरम्भ होता है। शक संवत् 78 ईसवी में शालिवाहन द्वारा अथवा रैप्सन के मतानुसार कनिष्क द्वारा स्थापित किया गया। (Cambridge History of India—Vol. I. Preface VIII-IX, pp. 583-85).

थी। कहने का तात्पर्य यह है कि विक्रम संवत् का सम्बन्ध भी एक व्यक्ति से है।

एक धारणा यह है कि यदि विक्रम संवत् का सम्बन्ध किसी व्यक्ति-विशेष से है और यह एक व्यक्ति द्वारा स्थापित किया गया है तो स्थापक का नाम विक्रमादित्य नहीं बल्कि अयस (Azes I) है। यह मत[1] सर जॉन मारशल का है। रैप्सन इस मत का समर्थक है।[2] तक्षशिला ताम्रपत्र के लेख में 136 अंक के पीछे 'अयस' शब्द लिखा है। सर जॉन मारशल 'अयस' शब्द का अर्थ करते हैं—'अजेस का'। उनका कहना है कि ताम्रपत्र लेख में जिस संवत् का निर्देश है यह वही संवत् है जो ईसा से 57-58 पूर्व आरम्भ होता है, पर इस संवत् का स्थापक विक्रमादित्य नहीं, अजेस प्रथम है। अजेस प्रथम ने किसी संवत् की स्थाना की थी, इस बात की पुष्टि में सर जॉन मारशल ने कोई भी प्रमाण नहीं दिया। अजेस प्रथम के साहस तथा पराक्रम के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं। अजेस प्रथम के कुछ सिक्के मिलते हैं। इन सिक्कों से अनुमान किया जाता है कि उसका राज्य पंजाब के कुछ भाग तथा कंधार पर था। इन सिक्कों पर 'महाराजस राजराजस् महन्तस् अयस' लिखा मिलता है। यदि सिक्कों पर स्थान के सीमित होते हुए भी महाराज राजराज इत्यादि लिखा जा सकता था तो क्या यह सम्भव हो सकता है कि ताम्रपत्र पर अजेस प्रथम के नाम के साथ 'महाराजस्य राजराजस्य' इत्यादि शब्द न लिखे जाते? इन शब्दों के अभाव से स्पष्ट है कि ताम्रपत्र के लेख में उपलब्ध 'अयस' शब्द का अर्थ 'अजेस का' नहीं हो सकता और न होना चाहिए। ताम्रपत्र लेख के 'अयस' शब्द के बहुत से अर्थ किये गये हैं। इसका सर्वश्रेष्ठ अर्थ भाण्डारकर महोदय ने किया है। उनके मतानुसार 'अयस' शब्द संस्कृत शब्द 'आद्यस्य' का प्राकृत रूप है। प्राकृत व्याकरण के अनुसार संस्कृत 'आद्यस्य' का प्राकृत रूप 'अयस' ही होगा। उस वर्ष में दो आषाढ़ थे। 'आद्यस्य' अथवा 'अयस' से प्रथम आषाढ़ का निर्देश है। मुझे इस अर्थ को स्वीकार करने में कुछ भी आपत्ति नहीं दिखाई देती। यही अर्थ यथार्थ प्रतीत होता है।

यदि अजेस प्रथम ने किसी संवत् की स्थापना की तो अजेस का नाम शिलालेखों में उत्कीर्ण संवत् के साथ उल्लिखित होना चाहिए था। पर अब तक एक भी शिलालेख में अजेस का नाम नहीं पाया जाता। यदि अजेस ने संवत्

---

1. Journal of the Royal Asiatic Society, 1914. p. 973 ff; 1915, p. 191 ff.,
2. Cambridge. History of India, Vol. I. Preface VIII, pp. 571, 581, 584.

चलाया था तो कम से कम उसका पुत्र अजीलिसेस तो उस संवत् का प्र करता। अजीलिसेस के कुछ सिक्के मिलते हैं। उन पर अजेस द्वारा स्थापित संवत् का प्रयोग नहीं हुआ। स्वयं अजेस के सिक्कों पर किसी संवत् का प्रयोग नहीं हुआ। यदि अजेस ने संवत् चलाया तो उसने अपने सिक्कों पर उसका प्रयोग क्यों न किया ? अजेस के सिक्कों पर तथा उसके पुत्र अजीलिसेस के सिक्कों पर किसी भी संवत् के प्रयोग के अभाव से स्पष्ट है कि अजेस ने किसी संवत् की स्थापना नहीं की। अजेस का राज्य थोड़े वर्ष ही रहा।[1] उसका राज्य तथा वंश शीघ्र ही नष्ट हो गये। इसलिए अजेस द्वारा किसी संवत् की स्थापना सम्भव ही नहीं हो सकती।

इसके अतिरिक्त अजेस के उत्तराधिकारी भी अजेस द्वारा स्थापित संवत् का प्रयोग नहीं करते। पकोरेस, विमकडफाइसेस, कनिष्क आदि ने अजेस के संवत् का प्रयोग नहीं किया। अजेस का कहीं नाम नहीं लिया। अजेस के उत्तराधिकारी गोण्डोफरनेस का तख्तेबाही लेख उपलब्ध है। इस लेख में 'अयस' का कहीं नाम नहीं पाया जाता। यदि अजेस ने सम्वत् की स्थापना की होती तो तख्तेबाही लेख में उसका नाम अवश्य मिलता। इसी प्रकार युसुफजाई के पंजतर स्थान में उपलब्ध लेख में 122 वर्ष का अंक है। इस लेख में भी अजेस का नाम नहीं पाया जाता, यद्यपि यह वही संवत् है, जिसका आरम्भ ईसा से 57-58 वर्ष पूर्व होता है।

जैसे ऊपर लिखा जा चुका है, भारत में उपलब्ध शिलालेखों पर इस संवत् को 'मालवगणस्थिति', 'मालवेश' तथा 'विक्रम' के नामों से निर्दिष्ट किया गया है। शिलालेखों के इस साक्ष्य की उपस्थिति में इस संवत् की स्थापना अजेस द्वारा नहीं मानी जा सकती। यहां पर हम फ्रेंकलिन एजर्टन का मत उद्धृत करते हैं। वे भी इस परिणाम पर पहुंचे हैं। वे लिखते हैं—

'That Azes I ruled about 58 B. C. seems, indeed, quite well established. But the theory, that he founded an era seems to hang on a slender thread, namely on a disputed (and as it seems to me improbable) interpretation of the word Ayasa in the Taksasila inscription published by Marshall L. C. If this word should turn out not to refer to an era 'of Azes', there would be no evidence left for the founding of an era by King Azes...But the earliest certain inscriptions dated in this era agree with the unanimous Hindu tradition in localising the era in Malava. This

1. His family had been deposed and deprived of all royal attributes. —Cambridge History of India, Vol. I. p. 582.

alone might make us hesitate.... And we should feel more comfortable about accepting the Azes theory, if other dates in this era were found in the interval betwneen 136 (the Taksasila inscription) and 428 (the earliest date know in the 'Malava era'). The lack of any dates in this interval makes it appear that, on the hypothesir assumed by Marshall and Rapson, this era of Azes, used by Kanishka's immediate predecessors, in Gandhara, was straightway thereafter replaced by the era of Kanishka, and apparently bacame extinct in the Kushan empire, only to reappear, several centuries later, in Eastern Rajputana as the 'Malava era.' This does not sound very plausible.' (Vikrama's Adventures) H. O. S. Vol. 26. Introduction (LXIII-IV).

अजेस विदेशी था। यदि उसने किसी संवत् की स्थापना की तो उस संवत् के महीनों तथा तिथियों के नाम भी विदेशी होने चाहिए। आजकल प्रचलित विदेशी ईसवी सन् के महीनों तथा तिथियों के नाम भी विदेशी हैं जैसे जनवरी, फरवरी……मण्डे, ट्यूसडे इत्यादि। इसी प्रकार विदेशी अजस द्वारा स्थापित संवत् के महीनों तथा तिथियों के नाम भारतीय नहीं होने चाहिए। परन्तु तक्षशिला-ताम्रपत्र-लेख में आषाढ़ मास और पंचमी तिथि का उल्लेख है। युसुफजाई के पंजतर लेख में श्रावण मास तथा प्रथमा तिथि का उल्लेख है, गोण्डोफरनेस के तख्तेबाही लेख में वैशाख मास और पंचमी तिथि का उल्लेख है। इन महीनों तथा तिथियों के नाम से स्पष्ट है कि ईसा से पूर्व 57-58 में आरम्भ होने वाले संवत् की स्थापना किसी विदेशी अजेस द्वारा नहीं बल्कि किसी भारतीय महापुरुष द्वारा की गई। सार यह निकला कि ईसा से पूर्व 57-58 में आरम्भ होने वाला संवत् किसी गण अथवा विदेशी नरेश अजेस द्वारा नहीं स्थापित किया गया। वह एक व्यक्ति-विशेष से सम्बन्ध रखता है। वह व्यक्ति-विशेष एक भारतीय ही था।

अब प्रश्न यह है कि वह भारतीय व्यक्ति-विशेष कौन था? जैनियों की परम्परा है कि महावीर के निर्वाण-काल से 470 वर्ष पीछे विक्रमादित्य ने सकल प्रजा को ऋण से मुक्त कर संवत् चलाया। इस परम्परा का साक्ष्य ईसा से पूर्व प्रथम शताब्दी में एक विक्रमादित्य का होना और उसके द्वारा संवत् की स्थापना को सिद्ध करता है।

जैनियों की पट्टावलियों में सुरक्षित परम्परा एक दूसरी परम्परा है। उनमें निर्दिष्ट समय-गणना भी इस बात की पुष्टि करती है। दो भिन्न-भिन्न परम्पराओं से एक ही परिणाम निकलता है। कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि इन परम्पराओं पर विश्वास न किया जाय।

अब हम इस प्रश्न पर एक-दूसरे प्रकार से विचार करते हैं। ईसवी सन् पूर्व के भारतीय महाराज और सम्राट विक्रमादित्य विरुद को धारण नहीं करते थे, जैसे अजातशत्रु, प्रद्योत, चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, पुष्यमित्र आदि ने विक्रमादित्य की उपाधि को अपने नाम के साथ नहीं जोड़ा। ईसवी सन् के पश्चात भारत के महाराज और सम्राट जैसे चन्द्रगुप्त द्वितीय, स्कन्दगुप्त, शीलादित्य, यशोधर्मन, हर्षवर्धन इत्यादि शक्तिशाली सम्राट विक्रमादित्य की उपाधि को धारण करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक काल में जो गौरव और प्रताप अश्वमेध यज्ञ करने से प्राप्त होते थे, ईसवी सन् के पश्चात् विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने से वही गौरव उपलब्ध होने लगा था। जिस प्रकार वैदिक काल में अश्वमेध-यज्ञ का करना संसार-विजेता होने की घोषणा करना होता था, उसी प्रकार विक्रमादित्य की उपाधि धारण करना साम्राज्य तथा प्रभुत्व का सूचक बन गया था। पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ किया, पर उसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण नहीं की। गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अश्वमेध यज्ञ नहीं किया, पर उसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। इसी प्रकार स्कन्दगुप्त, हर्षवर्धन में से किसी ने भी अश्वमेध यज्ञ नहीं किया पर उनमें से प्रत्येक ने अपना आधिपत्य प्रकट करने के लिए विक्रमादित्य की उपाधि को धारण किया। प्रश्न उठता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय जैसे भारत-विजेता, चक्रवर्ती सम्राट के लिए विक्रमादित्य की उपाधि धारण करना किस प्रकार से गौरव या महत्त्व की बात हो सकती थी? अथवा संसार के सम्राटों की उपाधियों का उद्‌गम-स्थान अथवा स्रोत क्या है, इस पर कुछ विचार करना अनुचित न होगा। पहले हम योरप को लेते हैं।

योरप के इतिहास में चार विशाल साम्राज्यों का वर्णन पाया जाता है—(1) रोमन साम्राज्य, (2) आस्ट्रो-हंगेरियन साम्राज्य, (3) रूसी साम्राज्य, (4) जर्मन साम्राज्य। इनमें से हम पहले रूसी सम्राट की उपाधि का उद्‌गम-स्थान या स्रोत मालूम करने का प्रयत्न करेंगे। रूसी सम्राट की उपाधि है 'जार' (Czar)। अब जरा 'जार' (Czar) शब्द की उत्पत्ति पर ध्यान देना चाहिए। इसमें पहली बात तो यह है कि रूसी भाषाओं में C का Z वर्ण के साथ संयोग कभी नहीं होता। ये दोनों वर्ण कभी भी संयुक्त नहीं होते। 'The spelling 'CZ' is against the usage of all Slavonic languages. Its retention shows its foreign origin.' इन दोनों वर्णों के संयोग से स्पष्ट है कि रूसी भाषा में यह एक विदेशी शब्द है। यह शब्द वास्तव में लैटिन शब्द 'सीजर' (Caesar) से निकलता है। इसको 'सीजर' का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। यह वास्तव में 'सीजर' (Caesar) शब्द का एक प्रकार का समानध्वन्यात्मक रूपान्तर है। 'Czar' शब्द का C वर्ण Caesar के Cae वर्ण के स्थानापन्न है।

Czar का 'Zar', 'Caesar' के Sar के स्थानापन्न है। इस प्रकार Czar, Caesar के समान है। इससे स्पष्ट हो गया कि रूसी सम्राट की उपाधि Czar का उद्गम-स्थान Caesar है।

आस्ट्रो-हंगेरियन और जर्मन साम्राज्यों के सम्राटों की उपाधि है कैसर 'Kaisar'। यह शब्द योरप की विविध भाषाओं में पाया जाता है—गौथिक (Gothic) में यह Kaisar है। प्राचीन जर्मन भाषा में इसका रूप है Keisar। मध्यकालीन डच (Dutch) में Keiser, Keyser तथा आधुनिक डच में Keizer के रूप में है। प्राचीन नार्वीजियन भाषाओं में Keisari, Keisar तथा Keiser के रूप में पाया जाता है। मध्यम अंग्रेजी में Kaiser, Keiser तथा प्राचीन अंग्रेजी में Casere तथा Caser रूप मिलते हैं। इसी शब्द Kaisar के अन्य 12 रूपान्तर हैं Caisere, Caysere, Caiser, Cayser, Caisar, Kayssar, Keyzar, Kaeisere, Koesar। इस शब्द का उच्चारण है कैंजर (Kaizer)। लैटिन भाषा में C वर्ण का उच्चारण दो प्रकार से होता है—(1) एक प्रकार तो वह है जिसके अनुसार C वर्ण का 'सी' उच्चारण होता है। (2) दूसरा प्रकार वह है जिसके अनुसार C वर्ण का 'क' उच्चारण होता है। उच्चारण के तौर पर हम प्राचीन रोम के वाग्मी तथा संसार प्रसिद्ध नेता Cicero का नाम लेते हैं। इस नाम का उच्चारण 'सिसरो' तथा 'किकरो' दोनों प्रकार से होता था जैसे संस्कृत 'ष्' का उच्चारण मूर्धन्य 'ष्' तथा कण्ठ्य 'ख्' दो प्रकार से होता है, षष्ठि को खष्ठि अथवा षष्ठि उच्चरित किया जाता है। इन रूपों को देखने से स्पष्ट है कि यह शब्द भी Caesar का रूपान्तर है। आस्ट्रो-हंगेरियन तथा जर्मन सम्राटों की उपाधि का उद्गम-स्थान सीजर (Caesar) है।

रोमन साम्राज्य के निम्नलिखित सम्राट हो गये हैं —

Augustus	...	27 B. C.	14 A. D
Tiberius	...	14 A. D.	37 „
Gaius	...	37 „	41 „
Clandius	...	41 „	54 „
Nero	...	54 „	68 „
Vespasian	...	69 „	79 „
Titus	...	79 „	81 „
Domitian	...	81 „	96 „
Nerva	...	96 „	98 „
Trajan	...	98 „	117 „
Hadrian	...	117 „	138 „

Antoninus Pius	...	138 A.D.	161 A.D.
Marcus Aurelius	...	161 ,,	180 ,,
Comodus	...	180 ,,	193 ,,
Septimius Severus	...	193 ,,	211 ,,
Caracalla	...	211 ,,	217 ,,
Macrinus	...	217 ,,	218 ,
Elagabalus	...	218 ,,	222 ,,
Alexander Severus	...	222 ,,	235 ,,
Maximus Avitus Najorian Severus Anthenius Olybrius Romulus Augustuslus			(455-475)
Maximinus	...	235 ,,	238 ,,
Gordian III	...	238 ,,	244 ,,
Philip	...	244 ,,	249 ,,
Derius	...	249 ,,	251 ,,
Gallus	...	251 ,,	253 ,,
Aemilianus	...	253 ,	260 ,,
Gallienus	...	260 ,,	268 ,,
Clandius	...	268 ,,	270 ,,
Aurelian	...	270 ,	275 ,,
Tacitus	...	275 ,,	276 ,,
Probus	...	276 ,,	282 ,,
Carus	...	282 ,,	283 ,,
Constantine I	...	311 ,,	337 ,,
Constantine II	...	337 ,,	361 ,,
Julian	...	361 ,,	363 ,,
Jovian	...	363 ,,	364 ,,
Valentinian I	...	364 ,,	375 ,,
Gratian	...	375 ,,	375 ,,
Valentinian II	...	375 ,,	395 ,,
Honorius	...	395 ,,	423 ,,
Valentinian III	...	423 ,,	455 ,,

इनमें से प्रत्येक की उपाधि सीजर (Caesar) थी। योरप के चार विशाल साम्राज्यों के सम्राटों के उपाधि का उद्‌गम स्थान है Caesar। यह Caesar

... व्यक्ति था। इसका पूरा नाम था जूलियस सीजर (Julius Caesar)। इस व्यक्ति ने उस समय के संसार को जीता, ऐसे अद्भुत और अलौकिक कार्य किये कि सीजर (Caesar) नाम में एक विशेष महत्त्व तथा आकर्षण हो गया। सीजर (Caesar) नाम सुनते ही श्रोता के हृदय पर एक अनिर्वचनीय प्रभाव पड़ता था। इस नाम के साथ अलौकिक प्रभुत्व तथा अद्भुत प्रताप सम्बद्ध हो गया था। इसलिए रोमन साम्राज्य के प्रत्येक सम्राट ने इस नाम के महत्त्व, आकर्षण तथा तेज से लाभ उठाने के लिए इस नाम को उपाधि के तौर पर अपने नाम के साथ जोड़ लिया और स्वयं 'सीजर' बन बैठा। इससे सिद्ध हुआ कि योरप के बड़े-बड़े सम्राटों की सबसे बड़ी उपाधि एक व्यक्ति-विशेष का नाम है।

उन्नीसवीं शताब्दी के योरप के इतिहास में इसी मनोवृत्ति का एक दूसरा जीता-जागता उदाहरण मिलता है। नेपोलियन (Nepoleon) के अमानुषिक साहस और पराक्रम तथा महा संग्रामों में अपूर्व विजयों के कारण 'नेपोलियन' शब्दमात्र में एक चमत्कार, एक मन को मोहने वाला आकर्षण पैदा हो गया था। जनता के लिए यह शब्द एक वशीकरण मंत्र से कम न था। जब 1848 में फिलिप ने फ्रांस देश में क्रांति द्वारा शक्ति प्राप्त की तो अपनी शक्ति को दृढ़ करने के लिए उसने अपना नाम नेपोलियन रख लिया और वह नेपोलियन तृतीय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। फ्रांस देश के तृतीय साम्राज्य को सुसंगठित तथा सुदृढ़ करने में नेपोलियन के नाम ने आशातीत सहायता दी।

धार्मिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र में भी इसी मनोवृत्ति का प्रदर्शन मिलता है। आदि शंकराचार्य के अलौकिक बुद्धि चमत्कार के पश्चात, उनके द्वारा स्थापित मठों के अध्यक्ष अपने आपको अभी तक शंकराचार्य कहते हैं। सिक्ख धर्म के स्थापक गुरु नानक थे। उनके पीछे आने वाले सारे गुरु अपने आपको नानक कहते थे। दूसरे गुरु से लेकर दसवें गुरु ने जो कविताएं रची हैं और अब ग्रन्थ साहिब में सुरक्षित हैं, वे सब नानक के नाम से रची गई हैं।

ऊपर लिखा गया है कि योरप के चार विशाल साम्राज्यों के सम्राटों की उपाधि एक व्यक्ति-विशेष का नाम मात्र है। इसी प्रकार ईसवी सन् के पश्चात भारत के सम्राटों का अपने नाम के साथ विक्रमादित्य की उपाधि को जोड़ना इस बात का सूचक है कि कोई व्यक्ति विक्रमादित्य हुआ था। उसने अद्भुत अलौकिक कार्यों द्वारा सीजर तथा नेपोलियन के समान विक्रमादित्य शब्द में एक प्रकार का आकर्षण और तेज उत्पन्न कर दिया और वह नाम जनता को मुग्ध करने का एक प्रकार का अमोघ वशीकरण मन्त्र बन गया। इसलिए चन्द्रगुप्त द्वितीय जैसे शक्तिशाली सम्राट ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। अन्यथा समरांगणों में विहार करने वाले विदेशियों के विजेता विशाल साम्राज्य के प्रभु चन्द्रगुप्त द्वितीय जैसे महाबली परम भट्टारक परमेश्वर के लिए

विक्रमादित्य या पराक्रम-मूर्ति या पराक्रम-सूर्य आदि शब्दों को अपने नाम के साथ जोड़ने से कोई विशेष लाभ या गौरव प्राप्त न हो सकता था। मेरी राय म चन्द्रगुप्त द्वितीय को विक्रमादित्य की उपाधि धारण करना इस बात की सूचना देता है कि उससे पूर्व कोई महातेजस्वी विक्रमादित्य नाम का सम्राट भारत में हो चुका था जिसके विदेशियों को परास्त करने वाले दुर्निवार पराक्रम, अद्भुत तथा अलौकिक आचरणों के कारण 'विक्रमादित्य' शब्द एक अत्यन्त कमनीय उपाधि बन गया, यहां तक कि चन्द्रगुप्त द्वितीय जैसे सम्राट इस नाम को उपाधि बनाकर अपने नाम के साथ जोड़ने और अपने आपको विक्रमादित्य कहलाने में गौरव अनुभव करते थे।

एक ऐसे ही महातेजस्वी विक्रमादित्य का वर्णन ईसा की पहली या दूसरी शताब्दी से पूर्व मिलता है। महाराज हाल ने महाराष्ट्री प्राकृत पद्यों के एक संग्रह का संकलन किया। महाराज हाल का समय पहली या दूसरी शताब्दी है। इस संग्रह में कुछ पद्य तो उनके स्वरचित हैं और कुछ अन्य कवियों के पद्य संगृहीत हैं। इस सुभाषितावलि का नाम है 'गाथासप्तशती'। इसके एक पद्य में विक्रमादित्य का उल्लेख है। वह पद्य यहां उद्धृत किया जाता है—

'संवाहणसुहरसतोसिएण दंतेण तुह करे लक्खं।
चलणेण विक्कमाइच्चचरिअं अनुसिक्खिअं तिस्सा।'

इसकी संस्कृत छाया इस प्रकार है—

'संवाहन सुखरसतोषितेन दत्तेन तव करे लाक्षां।
चरणेन विक्रमादित्यचरित्रं अनुशिक्षितं तस्याः॥'

इस पद्य का भावार्थ है—पति अपनी प्रिया के चरणों का संवाहन कर रहा था। प्रिया के चरण लाख रस से पुते हुए होने के कारण लाल थे। ऐसे चरणों के स्पर्श से पति के हाथों में भी लाख लग गई अर्थात वे लाल हो गये। इस कौतुक को देखकर कवि अथवा अभिन्न हृदय मित्र पति को सम्बोधन करके कहता है कि प्रिया के चरणों ने संवाहनसुख से संतुष्ट होकर तुम्हारे हाथ में लाख दे दिया। लाख देने से चरणों ने मानो विक्रमादित्य के चरित्र का अनुकरण किया है।

(मूल शब्द लक्खं-लाख श्लिष्ट पद है। इसके दो अर्थ हैं—(1) लाख नाम की एक धातु जिसका रस मेहंदी के समान पांवों पर लगाया जाता है, (2) लाख रुपये।)

इस पद्य के साक्ष्य से सिद्ध है कि हाल के समय से पूर्व, विक्रमादित्य नाम का एक महाप्रतापी और उदार सम्राट हो चुका था जो चरण-संवाहन जैसी साधारण सेवा से संतुष्ट होकर अपने नौकरों को लाख-लाख रुपये इनाम में दे डालता था। इस कथन में यदि कुछ अतिशयोक्ति भी हो तो भी इस पद्य से

विक्रमादित्य की उदारता, ऐश्वर्य और दानशीलता अवश्य प्रकट होते हैं। इस प्रकार पहली या दूसरी शताब्दी से पूर्व एक वीर प्रतापी दानवीर विक्रमादित्य का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

कुछ विद्वान इस पद्य को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। पर सन्देह का कारण नहीं बतलाते। मालूम होता है कि अस्पष्ट रूप से उनके मन में एक धारणा बैठ गई है कि यह पद्य प्रक्षिप्त है अर्थात् जिस समय हाल ने गाथा सप्तशती का संकलन किया था उस समय यह पद्य विद्यमान न था बल्कि पीछे से मिला दिया गया है। यदि यह पद्य प्रक्षिप्त है तो इसके लिए कोई प्रमाण दिया जाना चाहिए। यदि प्रमाण नहीं है तो प्रमाण के अभाव में सन्देह करना न्याय नहीं है। कहावत है कि जब तक पाप सिद्ध न कर दिया जाय तब तक मनुष्य पापी नहीं माना जा सकता। 'A man is innocent until and unless he is proved guilty'. इसी प्रकार जब तक इस पद्य को प्रक्षिप्त न सिद्ध कर दिया जाय, इसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। यदि यह पद्य प्रमाण-कोटि पर आरूढ़ हो सकता है तो दूसरी या पहली शताब्दी से पूर्व विक्रमादित्य का अस्तित्व स्वीकार करना पड़ेगा।

दूसरी या पहली शताब्दी से पूर्व विक्रमादित्य के अस्तित्व को सिद्ध करने में गुणाढ्य द्वारा पैशाची भाषा में लिखी हुई बृहत्कथा से भी साक्ष्य मिलता है। मूल बृहत्कथा अब उपलब्ध नहीं होती। वह नष्ट हो चुकी है। पर पैशाची भाषा से मूल बृहत्कथा का संस्कृत भाषा में रूपान्तर किया गया। इस रूपान्तर के समय का निर्णय नहीं हो सकता पर संस्कृत रूपान्तर आठवीं शताब्दी से पूर्व अवश्य हो चुका था। इस संस्कृत रुपान्तर की इस समय जो शाखायें विद्यमान हैं—(1) काश्मीरी, (2) नेपाली। काश्मीरी शाखा के दो ग्रन्थ प्रतिनिधि हैं—(क) क्षेमेन्द्रकृत बृहत्कथामंजरी और (ख) सोमदेवरचित कथासरित्सागर। नेपाली शाखा का एक ही ग्रन्थ मिलता है। वह है बुद्धस्वामी रचित श्लोकसंग्रह। श्लोकसंग्रह का सम्पादन फ्रांस देश के प्रसिद्ध विद्वान् लाकोत (Lacote) ने किया है। इन दोनों शाखाओं के तुलनात्मक और आलोचनात्मक अध्ययन द्वारा मूल बृहत्कथा के कलेवर का निर्माण किया जा सकता है। शाखाओं की विवेचना द्वारा हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि मूल पैशाची बृहत्कथा में अमुक-अमुक विषयों का वर्णन था। गुणाढ्यकृत बृहत्कथा की असंदिग्ध विषय-सूची बनायी जा सकती है। यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि गुणाढ्य ने अपनी मूल पैशाची बृहत्कथा में विक्रमादित्य के चरित्र का विस्तार सहित वर्णन किया था। गुणाढ्य के समय के विषय में विद्वानों में मतभेद है पर गुणाढ्य को पहली या दूसरी शताब्दी से पीछे नहीं घसीटा जा सकता। गुणाढ्य की मूल बृहत्कथा का साक्ष्य पहली या दूसरी शताब्दी से पूर्व एक तेजस्वी महापराक्रमी विक्रमा-

दित्य के अस्तित्व को सिद्ध करता है।

महाराष्ट्री प्राकृत तथा पैशाची बृहत्कथा के अतिरिक्त विक्रमादित्य के चरित्र का वर्णन निम्नलिखित संस्कृत पुस्तकों में पाया जाता है—(1) शुकसप्तति, (2) सिंहासनद्वात्रिंशिका, (3) वेतालपंचविंशति। ये तीनों ग्रन्थ तोता-मैना की कहानी, सिंहासनबत्तीसी और बैताल पच्चीसी के नाम से हिन्दी में प्रचलित हैं। इनके अनेक अनुवाद और रूपान्तर तथा शाखाएं भारत की भिन्न-भिन्न भाषाओं में उपलब्ध हैं। कथासरित्सागर का भी हिन्दी में अनुवाद हो चुका है। पर क्षेमेन्द्रकृत बृहत्कथामंजरी का कोई अनुवाद अभी तक दृष्टि-गोचर नहीं हुआ। इन ग्रन्थों की कितनी ही कथाएं भारत तथा योरप की भिन्न-भिन्न भाषाओं के साहित्य में स्वतन्त्र रूप से पायी जाती हैं।

जैनियों के साहित्य में विक्रमादित्य का वर्णन (1) मेरुतुंगसूरि रचित प्रबन्धचिन्तामणि, (2) देवमूर्तिरचित विक्रमचरित, (3) रामचन्द्रसूरिकृत विक्रमचरित्र तथा (4) जर्मनी देशोद्भव याकोबी द्वारा सम्पादित कालकाचार्य-कथानक में पाया जाता है।

संस्कृत-साहित्य में वर्णित विक्रमादित्य के चरित्र का अध्ययन करने से ये बातें स्पष्ट हो जाती हैं और जहां तक इनका सम्बन्ध है, उनमें कोई भी परस्पर विरोध नहीं है—

(क) भर्तृहरि को एक अमृत फल मिलता है। वह उस फल को अपनी प्रियतमा रानी को देता है। रानी उसी फल को अपने एक प्राणप्रिय मित्र को दे देती है। वह मित्र उसी फल को किसी दूसरी स्त्री को दे देता है। वह स्त्री फिर उस फल को भर्तृहरि को दे देती है। इस घटना से भर्तृहरि के हृदय पर चोट लगती है। वह राजपाट छोड़-कर वन में चला जाता है।

(ख) भर्तृहरि के जाने के पश्चात् राज्य का कोई रक्षक नहीं रहता।

(ग) राज्य में अराजकता छा जाती है।

(घ) एक राक्षस राज्य का रक्षक बन जाता है।

(ङ) विक्रमादित्य आता है।

(च) विक्रमादित्य का राक्षस से युद्ध होता है।

(छ) विक्रमादित्य राक्षस पर विजय पाता है और राज्य का स्वामी बन जाता है।

(च) और (छ) से सिद्ध है कि राज्य-प्राप्ति से पूर्व विक्रमादित्य को युद्ध करना पड़ा। युद्ध एक राक्षस से हुआ। मेरी राय में 'राक्षस' से क्रूर, कुटिल, अनार्य विदेशियों की ओर संकेत है। सीधे-सादे शब्दों में हम कह सकते हैं कि संस्कृत-साहित्य की विक्रम सम्बन्धी कथाओं के अध्ययन से यह परिणाम निकलता

... अनार्य विदेशियों पर विजय पाकर ही विक्रमादित्य ने राज्य किया।

जो बात संस्कृत-साहित्य में परोक्ष रूप से कही गई है, वही बात जैन-साहित्य में विशेषकर कालकाचार्य कथानक में प्रत्यक्ष रूप से बतलाई गई है। जैन-साहित्य की परम्परा के अनुसार उज्जयिनी का एक राजा गर्दभिल्ल था। वह बड़ा दुष्ट था। कालकाचार्य जैन-मत के अनुयायी एक अच्छे विद्वान् साधु थे। उनकी बहन सरस्वती बड़ी रूपवती थी। वह भी परिव्राजका बन गई। उसके रूप-लावण्य की छटा को देखकर गर्दभिल्ल उस पर आसक्त हो गया। मंत्रियों के समझाने पर ध्यान न देकर उसने साध्वी सरस्वती को बलात् अपने अन्तःपुर में डाल लिया। कालकाचार्य इस अन्याय को न सह सका। उसने शकद्वीप के शकों की सहायता से उज्जयिनी पर आक्रमण कर दिया। गर्दभिल्ल मारा गया। उज्जयिनी पर शकों का राज्य हो गया। शकों ने प्रजा पर अनेक अत्याचार किये। धन-सम्पत्ति लुट गये। स्त्रियों का सतीत्व भंग किया गया। धर्म और न्याय का लोप हो गया। प्रजा की ऐसी दुर्दशा को देखकर और आर्तनाद को सुनकर गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने शक्ति संग्रह की। उसने शकों पर विजय पायी। प्रजा को ऋण से मुक्त कर दिया। शकों पर विजय पाने और सारी प्रजा को ऋण से मुक्त करने के उपलक्ष में संवत् की स्थापना की। यह संवत् ईसा से 57-58 वर्ष पूर्व आरम्भ हुआ। मेरी सम्मति में संस्कृत-साहित्य में वर्णित राक्षस जैन-साहित्य के शक ही हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जैन-साहित्य में एक वास्तविक ऐतिहासिक घटना का वर्णन है। इस घटना के ऐतिहासिक स्वरूप को योरप के कुछ विद्वान् स्वीकार करते हैं। हम यहां शारपान्तियर (Charpentier) के मत को उद्धृत करते हैं। वह लिखते हैं—

'Only one legend, the Kalkacharya-Kathanaka, 'the story of the teacher Kalaka' tells us about some events which are supposed to have taken place in Ujjain and other parts of Western India during the first part of the first century B. C. or immediately before the foundation of the Vikrama era in 58 B.C. This legend is perhaps not totally devoid of all historical interest.' (Cambridge History of India, Vol. I. p. 167).

रैप्सन का मत भी यहां उद्धृत किया जाता है—

'The memory of an episode in the history of Ujjayini...... may possibly be preserved in the Jain story of Kalaka......The story can neither be proved nor disproved; but it may be said in its favour that its historical setting is not inconsistent with what we know of the political circumstances of Ujjayini at this period. A persecuted party in the state may well have invoked the aid of the warlike Sakas of Sakadvipa in order to crush a

cruel despot; and as history has so often shown, such allies... not unlikely to have seized the kingdom for themselves. Both the tyrant Gardabhilla whose misdeed were responsible for the introduction of these avengers, and his son Vikramaditya, who afterwards drove the Sakas out of the realm, according to the story, may perhaps be historical characters.' (Cambridge History of India. Vol I. pp. 532-533).

जैन-साहित्य के इस इतिहास के विरुद्ध कुछ भी प्रमाण नहीं हैं। विरोधी प्रमाण के अभाव में यह अविश्वास के योग्य नहीं है। जहां तक विक्रमादित्य के ऐतिहासिक अस्तित्व का प्रश्न है, वह गाथासप्तशती और बृहत्कथा से सिद्ध होता है। जैन, महाराष्ट्री तथा पैशाची परम्परा ईसा से पूर्व विक्रमादित्य के अस्तित्व को सिद्ध करती है। हमें ईसा से 57-58 वर्ष पूर्व विक्रमादित्य के ऐतिहासिक अस्तित्व को स्वीकार करने में कुछ भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यहां पर हम फ्रेंकलिन एजर्टन का मत भी उद्धृत कर देना उचित समझते हैं। वे लिखते हैं—

'I am not aware that there is any definite and positive reason for rejecting the Jainistic chronicles completely, and for saying categorically that there was no such king as Vikrama living in 57 B. C. Do we know enough about the history of that century to be able to deny that a local king of Malava, bearing one of the names by which Vikarma goes may have won for himself a somewhat extensive dominion in Central India...? It does not seem to me......that Kielhorn has disproved such an assumption. And I know of no other real attempt to do so.' (Vikrama's Adventures—H. O. S. Vol. 26. Introduction p. LXIV).

'It seems on the whole at least possible, and perhaps probable, that there really was a King named Vrkramaditya who reigned in Malava and founded the era of 58-57 B. C.' (Op. W. LXVI).

भारतीय इतिहास में विक्रम-समस्या

☐ हरिहर निवास द्विवेदी

भारतीय अनुश्रुति पर अविश्वास—यह बात तो माननी ही पड़ेगी कि भारतीय ऐतिहासिक अन्वेषण में योरप के विद्वानों ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। वर्तमान वैज्ञानिक शैली में इतिहास लेखन की नींव उनके द्वारा डाली गई है। परन्तु साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि उनमें से अधिकांश का दृष्टि-कोण धार्मिक एवं राजनीतिक कारणों से प्रभावित रहा है। जो इतिहास लेखक धार्मिक क्षेत्र के (पादरी) थे, उनके हृदय में यह भावना प्रबल रहती थी कि पूर्व के एक अनुन्नत देश की सभ्यता ईसा के बहुत पहले की, एवं ईसामसीह के पवित्र अनुयायियों से अधिक समुन्नत नहीं हो सकती। राजनीतिक कारणों ने भी अच्छा प्रभाव नहीं डाला। जातिगत श्रेष्ठता की भावना के कारण कभी-कभी बहुत बुरा प्रभाव पड़ा है। इसके लिए एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा। विंसेण्ट स्मिथ का भारत का प्राचीन इतिहास (The Early History of India) प्रारम्भ के स्तुत्य प्रयासों में से है। प्रारम्भिक प्रयास होने के कारण उसमें भ्रान्तियां होना क्षम्य है; परन्तु उसमें लेखक का जो एक विशिष्ट दृष्टिकोण रहा है, वह अवांछनीय है। अलक्षेन्द्र के भारत-आक्रमण का हाल देने में उसने उक्त पुस्तक का सप्तांश व्यय किया है, जबकि वह स्वयं स्वीकार करता है कि उस आक्रमण का भारत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था।[1] जब वह योरोपीय

---

1. 'The campaign, although carefully designed to secure a permanent conquest, was in actual effect no more than a brilliantly successful raid on gigantic scale, which left upon India no mark save the horrid scars of bloody war.'
'India remained unchanged. The wounds of battle were quickly healed; the ravaged fields smiled again as the patient oxen and no less patient husbandmen resumed their interrupted labours; and the places of the slain [illegible] were filled by the teeming sworms of a population [illegible]ch

अलक्षेन्द्र की विजयवाहिनी के आगे भारतीय राजाओं एवं गणतन्त्रों को हारते देखता है तो अनुभव करता है कि उसका मस्तक गौरव से ऊंचा हो रहा है[1]. परन्तु जब चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रचण्ड प्रताप के सम्मुख सेल्यूकस को भागना पड़ता है तब वही चन्द्रगुप्त के शौर्य के वर्णन में बड़ी कंजूसी दिखाता है।[2]

---

knows no limit save these imposed by the cruelty of man, or the still more pitiless operations of nature. India was not hellenized. She continued to live her life of splendid isolation; and soon forgot the passing of the Macedonian storm. No Indian author, Hindu, Buddhist or Jain makes even the faintest allusion to Alexander or his deeds.'

V. Smith—Early History of India, pp. 117-118.

1. यह भावना नीचे लिखे अवतरण से स्पष्ट होगी—

'Such was India when first disclosed to European observation in the fourth century B. C. and such it always has been, except during the comparatively brief periods in which a vigorous central government has compelled the mutually repellent molecules of the body politic to check their gyrations and submit to the grasp of a superior controlling force.'

Ibid—p. 370.

स्मिथ इस बात को भूल गया है कि तस्वीर का दूसरा रुख भी है। ई० पू० चौथी शताब्दी में योरोपीय दर्शकों के सामनें जो भारत आया उसके विषय में (सम्भवत:?) डॉ० अग्रवाल ने 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, संवत् 2000' में पृष्ठ 100 पर ठीक ही लिखा है, 'हर्ष की बात है कि राजा पौरव ने जिस जुझारू यज्ञ का प्रारम्भ किया था, क्षुद्रक-मालव जैसे लड़ाकू गण राज्यों ने उसे आगे जारी रखा और अन्ततोगत्वा यवन-सेना भारत-विजय की आशा छोड़कर हृदय और शरीर दोनों से थकी-मांदी अपनी जन्मभूमि के लिए वापिस फिरी।'

2. नीचे लिखे उद्‌गार प्रकट करते समय तो उसका उद्देश्य एवं भावना पूर्णत: अनावृत हो जाते हैं—

'The three following chapters which attempt to give an outline of the salient features in the bewildering annals of Indian petty states when left to their own devices for several centuries, may perhaps serve to give the reader a notion of what India always has been when released from the control of a supreme authority, and what she would be again, if the hand of the benevolent power which now safeguards her boundaries should be withdrawn.'

V. Smith—Early History of India, p. 372.

सौभाग्य की बात है कि ऐसा दूषित दृष्टिकोण बहुत थोड़े योरोपीय इतिहास लेखकों का रहा है, परन्तु एक बात जो बहुसंख्यक योरोपीय इतिहास लेखकों में पायी जाती है, वह है भारती अनुश्रुति पर अश्रद्धा। जिन पुराणों और स्मृतियों के अध्ययन से भारतीय इतिहासज्ञों ने प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक वाङ्मय का पुनर्निर्माण किया है, उन्हीं को प्रारम्भ में इन योरोपीय इतिहासवेत्ताओं द्वारा अतिरंजित वर्णनों से पूर्ण कपोल-कल्पना माना गया था।

अनुश्रुति पर विश्वास होने के कारण योरोपीय विद्वानों ने भारतीय इतिहास को उल्टी दिशा से देखा है। वे अनुश्रुति के केवल उस भाग को ही प्रमाणित मानते रहे हैं, जिसे उन्हें विवश होकर अभिलेख, मुद्रा आदि के कारण मानना पड़ा; अन्यथा उन्होंने प्रारम्भ ही इस अनुमान से किया है कि भारतीय अनुश्रुति गलत है।

इस अनुश्रुति के अविश्वास ने प्राचीन भारतीय इतिहास की उज्ज्वलतम घटना के नायक, भारतीय स्वातन्त्र्य-भावना के उज्ज्वलतम प्रतीक, अत्याचारी शकों के उन्मूलनकर्त्ता विक्रमादित्य की भव्य मूर्ति पर ही पर्दा डालने का प्रयास किया है। अनुश्रुति में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित विक्रमादित्य के अस्तित्व से ही इनकार किया गया। आज राम और कृष्ण के समान ही जिस वीर की कहानियां भारत के कोने-कोने में प्रचलित हैं, भारतीय अनुश्रुति पर अविश्वास करने वाले विद्वानों ने उनको समाप्त कर देने का प्रयत्न किया। इस सब का प्रधान कारण यह माना गया है कि यद्यपि भारतीय अनुश्रुति में विक्रमादित्य पूर्णरूप से प्रतिष्ठित हैं और यद्यपि उनका प्रचलित संवत्सर आज संसार की बहुत बड़ी जनसंख्या द्वारा प्रयुक्त है, तथापि चूंकि 57-56 ई० पू० किसी विक्रमादित्य नामक राजा अथवा गणतन्त्र के नायक के सिक्के या अभिलेख नहीं मिलते, इसलिए यह अनुमान करके चलना होगा कि विक्रमादित्य नामक कोई व्यक्ति नहीं था। सिक्के और अभिलेख किसी शासक के अस्तित्व के अकाट्य प्रमाण हो सकते हैं, उसके अनस्तित्व एवं अभाव के नहीं। और अभी भारतीय पुरातत्त्व के महासमुद्र का देखा ही कितना अंश गया है, विशेषतः विक्रम के कार्यस्थल मध्य देश, मालवा एवं उज्जयिनी में तो अभी बहुत कार्य होना शेष है। बहुत संभव है कि आगे इस दिशा में अनेक वस्तुएं प्राप्त हों। अतः केवल सिक्के और अभिलेखों के न मिलने के कारण भारतीय अनुश्रुति पर अश्रद्धा नहीं की जा सकती।

विक्रम-संवत् सम्बन्धी अद्‌भुत अनुमान—प्रारम्भ में यह देखना उपयोगी एवं मनोरंजक होगा कि विक्रम-संवत् एवं उसके प्रवर्तक विक्रमादित्य के विषय में योरोपीय विद्वानों ने क्या-क्या कल्पनाएं की हैं।

संवत्-प्रवर्तन एक ऐसी घटना है, जिससे कोई भी इतिहासज्ञ, [illegible] उसे

भारत के गौरवपू अतीत पर कितनी ही अश्रद्धा रही हो, इनकार नहीं कर सका। जिस संवत् का अजस्ररूपेण व्यवहार होता चला आ रहा है, उसका प्रवर्तन हुआ था इसे अस्वीकृत कौन कर सकता है? आज एक व्यक्ति जीवित है, इससे अधिक और इस बात का क्या प्रमाण हो सकता है कि उसका कभी जन्म भी हुआ होगा? संवत्सर की वयस् का प्रमाण भी अन्य कहीं ढूंढने नहीं जाना पड़ेगा।

परन्तु विक्रम-संवत् को कुछ विचित्र कल्पनाओं का सामना करना पड़ा। सर्वप्रथम फरगुसन[1] ने यह स्थापना की कि विक्रम-संवत् का प्रवर्त्तन ईसा से 57-56 वर्ष पूर्व नहीं वरन् ईसवी सन् 544 में हुआ। उसका मत था कि ईसवी सन् 544 में विक्रमादित्य नामक या उपाधिधारी व्यक्ति ने हूणों को पराजित कर एक संवत्सर की स्थापना की और उसे प्राचीनता की झलक देने के लिए उसका प्रारम्भ 600 वर्ष पूर्व से माना। इससे अधिक विचित्र कल्पना और क्या हो सकती थी? प्रारम्भ में इस पर अधिक ध्यान न दिया गया, परन्तु कुछ समय पश्चात् फरगुसन की प्रतिभा की प्रशंसा करते हुए मैक्समूलर ने इस अभिनव आविष्कार का समर्थन किया[2] और इस प्रकार इस विचित्र स्थापना का अधिक प्रचार हुआ कि यह संवत् दो सहस्र वर्ष पुराना नहीं है। परन्तु सौभाग्य से यह मत अधिक पुष्टि न पा सका। फरगुसन का यह काल्पनिक महल धराशायी हो गया, जब वे अभिलेख[3] प्राप्त हो गये, जिनमें सन् 544 ई० के पूर्व के भी विक्रम-संवत् के उल्लेख थे।

सर भाण्डारकर[4] और विन्सेण्ट स्मिथ[5] का मत भी कम कौतूहलपूर्ण नहीं था, यद्यपि वह फरगुसन के आविष्कार से कम विचित्र है। उनका कथन है कि प्रारम्भ में यह संवत् मालव-संवत् के नाम से प्रसिद्ध था। गुप्तवंशीय विक्रमादित्य उपाधिधारी प्रसिद्ध चन्द्रगुप्त द्वितीय ने इस मालव-संवत् का नाम परि-

---

1. जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी 1870, पृ० 81।
2. India : What it can teach us ? P. 286.
3. देखिए परिशिष्ट 'क' पृष्ठ 122।
4. जर्नल ऑफ दि बॉम्बे ब्रांच ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी, पृ० 398।
5. Early History of India, p. 290 (Third Edition)

र्तित करके विक्रम-संवत्[1] कर दिया। इस स्थापना के अनुयायी आज भी हैं। परन्तु यह विचारणीय है कि गुप्तवंश का गुप्त-संवत् अलग प्रचलित था और स्वयं चन्द्रगुप्त द्वितीय ने कभी तथाकथित निज-प्रवर्तित अथवा नाम परिवर्तित विक्रमीय संवत्सर का प्रयोग नहीं किया।[2]

इस प्रकार जहां विक्रमीय संवत्सर की वयस् घटाने के प्रयास हुए, वहां ऐसे भी अनेक प्रयास हुए, जिन्होंने विक्रमादित्य के उसके जनक होने में शंका की।

कीलहॉर्न[3] इस सम्बन्ध में पूर्ण नास्तिक है। उसका मत है कि विक्रमादित्य नामक कोई राजा ई० पू० 57 में नहीं था और न किसी व्यक्ति ने इसका प्रवर्त्तन किया। 'विक्रम-काल' का अर्थ उन्होंने माना है युद्धकाल, और चूंकि मालव-संवत् का प्रारम्भ शरद्-ऋतु में होता है, जब राजा लोग युद्ध के लिए निकलते थे, इसलिए इसका नाम विक्रम-संवत् रखा गया। इस मत को मानने में भी अनेक बाधाएं हैं। एक तो 'विक्रम' और 'युद्ध' शब्दों में अर्थ-साम्य नहीं है, दूसरे विक्रम-संवत् शरद्-ऋतु में ही सर्वत्र प्रारम्भ नहीं होता।

कनिंघम[4] और मार्शल[5] नामक विद्वानों ने भी अपनी-अपनी स्थापनाएं कीं। उनके मत से विक्रम-संवत् का प्रवर्त्तन किसी विक्रमादित्य राजा ने नहीं

---

1. चन्द्रगुप्त के 'विक्रमादित्य' उपाधि ग्रहण करने वाले सर्वप्रथम सम्राट् होने के कारण भी ये विद्वान् इन्हें संवत्-प्रवर्त्तक विक्रम मानते हैं। परन्तु अभी हाल ही में बमनाला ग्राम में समुद्रगुप्त की जो सात स्वर्ण-मुद्राएं प्राप्त हुई हैं, उनमें कुछ मुद्राओं पर 'पराक्रमः' लिखा है और एक पर 'श्रीविक्रमः' उपाधि लिखी है। अतः यह उपाधि मूलतः चन्द्रगुप्त द्वितीय से प्रारम्भ नहीं हुई, यह प्रमाणित होता है। विशेष विवेचन के लिए आगे देखिए, पृ० 47।
2. इसके साथ ही श्री भगवद्दत्तजी का मत भी विचारणीय है। इनका मत है कि गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त द्वितीय ही वह विक्रमादित्य है, जिसने संवत् का प्रवर्त्तन किया और उसका समय ईसा की चौथी, पांचवीं शताब्दी न होकर ई० पू० प्रथम शताब्दी है। इस मत के समर्थक भी हैं, परन्तु इस पर इतना कम विवेचन हुआ है कि इसे सिद्ध या असिद्ध नहीं कह सकते।
3. इण्डियन एण्टीक्वेरी 19 तथा 20।
4. जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी 1913, पृ० 627।
5. जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी 1914, पृ० 973 और 1915 पृ० 191। साथ ही देखिए, केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया भाग 1, पृ० 571।

किया था। कनिंघम के मत में उसका प्रवर्त्तक कुषाणवंशीय राजा कनिष्क था। इस स्थापना के विषय में बहुत ऊहापोह की गई। अनेक विद्वानों ने इसके पक्ष और विपक्ष में लिखा।[1] परन्तु सर जॉन मार्शल ने यह पूर्णरूपेण सिद्ध कर दिया कि कनिष्क का समय 57 ई० पू० नहीं वरन् 78 ई० है। इस प्रकार कनिंघम की स्थापना समाप्त हुई, परन्तु मार्शल की स्थापना ने जोर पकड़ा। उसने कहा कि विक्रम-संवत् का प्रचलन गांधार के शक राजा एजेस ने किया था। यह मत भी निराधार है। एजेस का संवत् उसी के नाम से चला था, ऐसा सिद्ध हो चुका है।[2] विक्रम-संवत् का प्रचलन पहले 'कृत' एवं मालव-संवत् के नाम से था, 'अयस' नाम से नहीं। साथ ही भारतवर्ष के एक कोने में एक विदेशी राजा द्वारा चलाए गए संवत् के पीछे विक्रम-संवत् के साथ आज भी अभिन्न-रूपेण सम्बद्ध शक-विरोधी एवं राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न नहीं हो सकती।

इसके अतिरिक्त कुछ मत और भी हैं। एक के अनुसार मालव-वीर यशोवर्मन्[3] ने इस संवत् को चलाया तथा एक अन्य मत के अनुसार पुष्यमित्र शुंग ने।[4] डॉक्टर काशीप्रसाद जायसवाल का मत है कि गौतमीपुत्र शातकर्णि[5] ने इस संवन् का प्रवर्त्तन किया है। डॉ० जायसवाल ने जैन अनुश्रुति के विक्रमादित्य और इतिहास के गौतमीपुत्र शातकर्णि को एक ही मानकर अनुश्रुति और इतिहास का समन्वय किया है। डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल की स्थापना के दो आधार हैं। एक तो यह कि जिन गुणों का आरोप विक्रमादित्य में किया जाता है, वे सब गौतमीपुत्र शातकर्णि में थे। नासिक-अभिलेख से माता गौतमी ने अपने पुत्र में उन सब गुणों का होना लिखा है। दूसरा कारण यह है कि ई० पू० प्रथम शताब्दी में गौतमीपुत्र शातकर्णि ने किसी शक राजा को हराया था। परन्तु गौतमीपुत्र के समय के विषय में विद्वानों में मतभेद है और यह प्रायः निश्चित ही है कि वह ई० पू० प्रथम शताब्दी में नहीं था। इस अभिनव कल्पना ने

1. इस विषय में जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी 1913 द्रष्टव्य है, जिसमें कनिष्क के विक्रम-संवत् प्रवर्त्तक होने या न होने के विषय में योरोपीय विद्वानों ने मत प्रकट किए हैं।
2. इसके लिए इसी ग्रन्थ में डॉ० लक्ष्मणस्वरूप का निबन्ध विशेष रूप से द्रष्टव्य है।
3. जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी 1903, पृ० 545, 1909, पृ० 89।
4. नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका संवत्, 1990।
5. जर्नल ऑफ बिहार एण्ड उड़ीसा रिचर्स सोसायटी, खण्ड 16, भाग 3 [illegible]4, पृ० 226-316।

अनेक अनुयायी बनाए हैं। परन्तु एक तो यह बात अभी सिद्ध नहीं है कि यह शक वही थे, जिन्होंने उज्जैन पर अधिकार कर लिया था और गौतमीपुत्र की विजय पहली शताब्दी ई० पू० में हुई थी। दूसरे, जिस प्रशस्ति में गौतमीपुत्र के इतने गुणगान हैं, उसमें विक्रमादित्य-विरुद का उल्लेख तक नहीं है।

विक्रमीय संवत्सर को विक्रमादित्य नामक व्यक्ति द्वारा प्रवर्तित न मानने वालों में डॉ० अनन्त सदाशिव अल्तेकर भी हैं। उनका कहना है कि विक्रम-संवत् का मूल नाम 'कृत-संवत्' है और उसे मालवगण के 'कृत' नामक सेनाध्यक्ष की शक-विजय के उपलक्ष में 'कृत-संवत्' की संज्ञा दी गई। यद्यपि, उन्होंने कालकाचार्य-कथानक के विक्रमादित्य सम्बन्धी श्लोकों को प्रक्षिप्त माना है और जैन परम्परा को अविश्वसनीय, फिर भी वे लिखते हैं, "अब यह भी माना जा सकता है कि जिस कृत नामक प्रजाध्यक्ष ने इस संवत् की स्थापना की, उसका उपनाम विक्रमादित्य था।"[1] जब यहां तक अनुमान किया जा सकता है, तो ऐसे आधार भी हैं, जिनके कारण यह विश्वास किया जा सके कि ई० पू० 57 में विक्रमादित्य नाम का ही मालवगण का सेनाध्यक्ष अथवा राजा था।

अभिलेख एवं मुद्राओं से प्राप्त निष्कर्ष—इन सब अद्भुत कल्पनाओं पर विचार कर लेने के पश्चात् अब आगे हम उपलब्ध आधारों पर विक्रम-संवत् और उसके प्रवर्त्तक के विषय में विचार करेंगे। विक्रमादित्य के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रधान आधार विक्रम-संवत् है। विक्रम-संवत् का प्रयोग उसके अस्तित्व की प्रबल दलील है। विक्रम-संवत् का प्राचीन अभिलेखों में जिस प्रकार प्रयोग किया गया है, उसे देखने पर अनेक बातों पर प्रकाश पड़ता है। संवत् 1200 विक्रमीय तक के प्राय: 261 अभिलेख प्राप्त हुए हैं। इनमें से भी संवत् 900 के पूर्व के तो 33 ही हैं।[2]

परिशिष्ट 'क' में दी गई सूची में हमने प्रत्येक अभिलेख का संवत्, उसका प्राप्ति-स्थान, तथा संवत्-सूचक वह पाठ लिख दिया है, जिसमें विक्रम-संवत् का उसके नाम के साथ उल्लेख है।

इस परिशिष्ट के अध्ययन से हम नीचे लिखे निष्कर्ष निकाल सकते हैं:—

1. संवत् 282 से 481 तक इसे कृत-संवत् कहा गया है।
2. संवत् 461 से 936 तक इसे मालव-संवत् कहा गया है। संवत् 461 के मन्दसौर के अभिलेख में इसे 'कृत' तथा 'मालव' दोनों संज्ञाएं दी गई हैं।
3. संवत् 794 के ढिमकी के अभिलेख में इस संवत् को सबसे पहले विक्रम-संवत् कहा गया है, परन्तु डॉ० अल्तेकर ने इस अभि-

1. नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका वर्ष 48, अंक 1-4 संवत् 2000, पृ० 77।
2. देखिए, परिशिष्ट 'क'।

लेखयुक्त ताम्रपत्र को जाली सिद्ध कर दिया है।[1] अतः विक्रम-संवत् के नाम से यह सर्वप्रथम धौलपुर के चण्डमहासेन के 898 के अभिलेख में व्यक्त किया गया है।

4. मालव तथा कृत नामों के प्रयोग की भौगोलिक सीमा उदयपुर, जयपुर, कोटा, भरतपुर, मन्दसौर तथा झालावाड़ है। विक्रम नाम सम्पूर्ण भारत में प्रयुक्त हुआ है।

यह बात पूर्णरूपेण सिद्ध है कि कृत, मालव एवं विक्रम एक ही संवत् के नाम हैं। मन्दसौर के 461 संवत् के प्राप्त लेख में एक ही संवत् को 'मालव' तथा 'कृत' कहा गया है। इतिहास में कुमारगुप्त का समय निश्चित है। कुमारगुप्त के समय में बन्धुवर्मन के मन्दसौर के 493 संवत् के लेख की गणना करने पर ज्ञात होता है कि वह विक्रम-संवत् ही है और उसका नाम उक्त लेख में लिखा है 'मालवगणों की स्थिति से चार सौ तिरानबे वर्ष बाद का' अर्थात् मालव-संवत्। अतः मालव और विक्रम नाम एक ही संवत् के हैं।

इसके आगे विचार करने के पूर्व हम 'कृत' शब्द के अर्थ पर विचार करेंगे। 'कृत' शब्द का ठीक अर्थ ज्ञात हो सके, इसके लिए यह आवश्यक है कि 'मालवगण' सम्बन्धी जो पाठ हैं[2] उन्हें एकत्रित करके उन पर विचार किया जाय—

1. श्रीमालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसंज्ञिते (461 मन्दसौर)।
2. मालवानां गणस्थित्या (493 मन्दसौर)।
3. विख्यापके मालववंशकीर्तेः (524 मन्दसौर)।
4. मालवगणस्थितिवशात्कालज्ञानाय (589 मन्दसौर)।
5. संवत्सर······मालवेशानाम् (795 कोटा-राज्य)।
6. मालवकालाच्छरदां (936 ग्यारसपुर)।

इन पाठों को एक साथ देखने से ज्ञात होता है कि यह संवत् (अ) मालवेश (या मालवगणाध्यक्ष)[3] का चलाया हुआ है, (इ) इसके कारण या इसके प्रारम्भ का कारण मालवगण की स्थिति[4] (उनके अस्तित्व की प्रतिष्ठा या पुनर्स्थापना)

---

1. एपीग्राफिया इण्डिका, भाग 26, पृ० 189।
2. देखिए, परिशिष्ट 'क'
3. मालवगणाध्यक्ष क्रमशः मालवेश कैसे हो गया, इसके लिए देखिए डॉ० राजबली पाण्डेय का लेख 'विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता'।
4. 'स्थिति' के अर्थ के विषय में भी विद्वानों में मतभेद है। डॉ० अल्तेकर इसका अर्थ 'परम्परा', 'सम्प्रदाय', 'रीति' आदि लेते हैं। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल लिखते हैं, 'मालव-गण की स्थिति शब्द का अर्थ क्या है? हमारी सम्मति में स्थिति का सीधा अर्थ स्थापना है। मालव-गण

हुई, (उ) यह संवत् मालववंश की कीर्ति का कारण है, (ए) इस मालव-संवत् को 'कृत' भी कहते हैं। यदि इन सबको समन्वित रूप दें तो वह इस प्रकार होगा—'मालवेश ने ऐसा कार्य किया, जिससे मालववंश की कीर्ति बढ़ी, मालवगण का अस्तित्व प्रतिष्ठित रह सका या उसकी पुनर्स्थापना की गई और उक्त महत्कार्य के उपलक्ष में इस संवत् का प्रवर्त्तन हुआ।'

इस विचार के प्रकाश में 'कृत' शब्द का अर्थ खोजना उपयोगी होगा। डॉ० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने कृत का अर्थ माना है 'सतयुग या स्वर्णयुग'।[1] अग्रवालजी का अनुमान सत्य के आसपास है। 'कृत' का सीधा-सादा शाब्दिक अर्थ है 'किया हुआ' अर्थात् कर्म। यहां 'कृत' का अर्थ है मालवेश या मालव-गणनायक का ऐसा कर्म जो मालववंश की कीर्ति बढ़ाने वाला था, जिससे मालवगण की स्थिति हुई, विदेशियों का विनाश हुआ और (डॉ० अग्रवाल के शब्दों में) सतयुग या स्वर्णयुग का प्रारम्भ हुआ।

अब अगला प्रश्न है मालवेश के 'कृत' का 'विक्रम' में बदल जाना। इसके लिए विक्रम-संवत् के उल्लेख के प्रकार पर भी ध्यान देना होगा। इसका उल्लेख[2] निम्न प्रकारों से हुआ है—

1. कालस्य विक्रमाख्यस्य (898 धौलपुर)
2. विक्रमादित्यभूभृतः (1028 उदयपुर)
3. विक्रमादित्यकाले (1099 वसंतगढ़-सिरोही)
4. वत्सरैर्विक्रमादित्यैः (1103 तिलकावाड़ा-बड़ौदा राज्य)
5. श्रीविक्रमादित्योत्पादितसंवत्सर (1131 नवसारी, बड़ौदा)
6. श्रीविक्रमार्कंनृपकालातीतसंवत्सराणां (1161 ग्वालियर)
7. श्रीविक्रमादित्योत्पादित संवत्सर (1176 सेवाड़ी, जोधपुर)

इससे यह ज्ञात होता है कि विक्रमीय नौवीं शताब्दी स ही ऊपर लिखे मालवेश का नाम विक्रमादित्य माना गया था।

ऊपर लिखे दोनों विवेचनों को एक में मिला देने से हम इस निष्कर्ष पर

की स्थापना का यह अर्थ नहीं है कि उस गण की सत्ता पहले अविदित थी।'......"शकों की पराजय के बाद मालवगण ने स्वतंत्रता का अनुभव किया। हमारी सम्मति में स्वतंत्रता की यह स्थापना ही मालव-गण की स्थिति थी, जिसका मालव-कृत संवत् के लेखों में कई बार उल्लेख है।' डॉ० अग्रवाल का मत ही उचित है और हमारी समझ में तो इसका अर्थ है 'प्रतिष्ठित होना'।

1. नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका संवत् 2000; पृ० 131।
2. देखिए, परिशिष्ट 'क'।

पहुंचते हैं कि विक्रमादित्य नामक मालवगण के अधिपति ने वह 'कृत'—कार्य किया था जिसका उल्लेख ऊपर है, जिसके कारण मालववंश की कीर्ति बढ़ी (परिशिष्ट 'क' के अभिलेख क्रमांक 7), जिसके कारण मालवगण की स्थिति रह सकी (अभिलेख क्रमांक 6 तथा 9) और इस संवत् का प्रवर्त्तन हुआ।

यहां यह बात भी विचारणीय है कि मालव एवं कृत नाम का प्रयोग जिस क्षेत्र में हुआ है, वह मालवा या उसके निकट का ही क्षेत्र है। यह भी हो सकता है कि गणतन्त्र की भावनायुक्त मालवजाति ने अपने गणनायक के व्यक्तिगत नाम को अपने संवत्सर में प्रधानता न दी हो या स्वयं गणनायक विक्रमादित्य ने इसे पसन्द न किया हो और मालवा के बाहर राजतन्त्र प्रधान देशों ने गण की अपेक्षा गणेश मालवेश को ही महत्त्व देना उचित समझा हो।

अभिलेखों में प्राप्त संवत्-सम्बन्धी पाठों के साथ मालव-मुद्राओं पर अंकित लेखों पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। मालव-प्रान्त में मालवगण की मुद्राएं प्राप्त हुई हैं। उनमें कुछ मुद्राएं ऐसी हैं जिन पर एक ओर सूर्य या सूर्य का चिह्न है तथा दूसरी ओर 'मालवानांजयः' अथवा 'मालवगणस्यजयः' अथवा 'जय मालवानांजयः' लिखा हुआ है। इन मुद्राओं के विषय में श्री जयचन्द्र विद्यालंकार अपने 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' में लिखते हैं—'पहली शताब्दी ई० पू० के मालवगण के सिक्कों पर 'मालवावांजयः' और 'मालवगणस्यजयः' की छाप रहती है। वे सिक्के स्पष्टतः किसी बड़ी विजय के उपलक्ष में चलाए गए थे और वह विजय 57 ई० पू० की विजय के सिवाय और कौन-सी हो सकती थी?' (पृ० 871) परन्तु इतना ही नहीं, सूर्य एवं सूर्य का चिह्न दो बातों की ओर संकेत कर सकता है। या तो यह कि उक्त विजय को प्राप्त करने वाला 'आदित्य' का उपासक था या उसका नाम स्वयं 'आदित्यमय' था और यह नाम विक्रमादित्य होने के कारण वह अपना राजचिह्न सूर्य रखता था।

भारतीय अनुश्रुति में विक्रमादित्य—अभिलेखों और विक्रम-संवत् पर विचार कर लेने के पश्चात अब हम भारतीय अनुश्रुति एवं लोककथाओं पर विचार करेंगे। आज महाराष्ट्र, गुजरात एवं सम्पूर्ण उत्तर-भारत विक्रमादित्य की लोककथाओं से पूरित है। उसका परदुखभंजन रूप, उसकी न्यायपरायणता, उसकी उदारता एवं उसका शौर्य प्रत्येक भारतीय का हृदय-हार बना हुआ है। परन्तु लोककथाओं द्वारा परम्परा की निरन्तरता का आभास भले ही मिल सके, उसके द्वारा इतिहास के शास्त्रीय वाङ्मय का निर्माण नहीं हो सकता। लोककथा का आधार केवल व्यक्तिगत स्मृति होने के कारण वह अधिक प्रामाणिक नहीं कही जा सकती। परन्तु अनुश्रुति का महत्त्व अधिक है। वह लिखित रूप में होती है, अतः अधिक विश्वसनीय होती है।

गणपति विक्रमादित्य की जो मूर्ति ऊपर अभिलेखों के विवेचन से

बनी है, उसकी पूर्ति अनुश्रुति कहां तक करती है, यह देखना भी उपयोगी होगा।

विक्रमादित्य सम्बन्धी भारतीय अनुश्रुतियों में सबसे प्राचीन पैठण के राजा हाल के लिए रचित गाथासप्तशती है। हाल का समय ईसवी प्रथम शताब्दी है। गाथासप्तशती का विक्रम विषयक श्लोक इस प्रकार है—

'संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खम्।
चलणेण विक्कमाइत्तचरिअं अणुसिक्खिअं तिस्सा ॥ 5156 ॥

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि ईसा की पहली शताब्दी में यह बात पूर्ण-रूप से प्रचलित थी कि विक्रमादित्य नामक उदार एवं प्रतापी शासक ने भृत्यों को लाखों का उपहार दिया। गाथासप्तशती के काल के विषय में भी विवाद चल चुका है। डॉ० भाण्डारकर ने अनेक तर्क इस बात के पक्ष में प्रस्तुत किये कि गाथासप्तशती का रचनाकाल ईसा की छठी शताब्दी है,[1] परन्तु महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने डॉ० भाण्डारकर के तर्कों का खण्डन कर दिया है।[2]

दूसरी उल्लेखनीय अनुश्रुति सोमदेवभट्ट रचित कथासरित्सागर है। कथासरित्सागर गुणाढ्य रचित बृहत्कथा पर आधारित है। गुणाढ्य सातवाहन हाल का समकालीन है, अतः कथासरित्सागर एक ऐसे ग्रन्थ का आधार लिये हुए है, जो विक्रमीय पहली शताब्दी का लिखा हुआ है। ऐसी दशा में कथासरित्सागर[3] कम विश्वसनीय नहीं है। उसके अनुसार विक्रमादित्य उज्जैन के राजा थे, उनके पिता का नाम महेन्द्रादित्य और माता का नाम सौम्यदर्शना था। महेन्द्रादित्य के जब बहुत समय तक पुत्र न हुआ, तो उन्होंने शिव की आराधना की। इसी समय पृथ्वी पर धर्म का लोप और म्लेच्छों का प्राबल्य देखकर देवताओं ने महादेवजी से पृथ्वी का भार उतार लेने के लिए प्रार्थना की। शिवजी ने अपने गण माल्यवान् (अथवा इतिहास प्रसिद्ध मालवगण) से कहा कि तुम पृथ्वी पर मेरे भक्त महेन्द्रादित्य के यहां मानव रूप धारण करो और पृथ्वी का भार उतारो। उधर महेन्द्रादित्य को शिवजी ने यह वरदान दिया कि तुम्हारे पुत्र होगा और उसका नाम तुम विक्रमादित्य रखना। उसका वर्णन करते हुए सोमदेव ने लिखा है कि वह पितृहीनों का पिता, बन्धुहीनों का बन्धु, अनाथों का

---

1. भाण्डारकर कमोमरेशन वॉल्यूम, पृ० 187
2. प्राचीन-लिपि-माला, पृ० 168।
3. कथासरित्सागर; लम्बक 6, तरंग 1, विक्रमसिंह की कथा तथा लम्बक 18 विषमशील की कथा।

नाथ और प्रजाजन का सर्वस्व था[1]।

तीसरी अनुश्रुति जैन ग्रन्थों की है। मेरुतुंगाचार्य-रचित पट्टावली में यह लिखा है कि महावीर-निर्वाण संवत् के 470वें वर्ष में विक्रमादित्य ने शकों का उन्मूलन कर संवत् की स्थापना की। इसका समर्थन प्रबन्ध-कोश एवं धनेश्वर-सूरि-रचित शत्रुंजय-माहात्म्य से भी होता है। किस प्रकार शकों ने उज्जयिनी के गर्दभिल्ल को जीता और किस प्रकार फिर विक्रमादित्य ने शकों को भगाया, इसका वर्णन जैन ग्रन्थों में मिलता है।

कालकाचार्य-कथानक में शकों के आने का वर्णन है। उसके अनुसार जैन साधु कालकाचार्य एवं उनकी बहिन साध्वी सरस्वती जब उज्जैन में रहते थे, उस समय वहां गर्दभिल्ल राजा राज्य करता था। एक दिन जब साध्वी सरस्वती पर गर्दभिल्ल की दृष्टि पड़ी तो वह उस पर अत्यधिक आसक्त हो गया और उसने उसे अपने अन्तःपुर में बन्द कर अपनी वासना का शिकार बनाया। कालकाचार्य सूरि ने सरस्वती को छुड़ाने के लिए अनेक प्रयास किये, गर्दभिल्ल को भी समझाया एवं अनुनय-विनय की, परन्तु कोई फल न हुआ। दुखी होकर कालकाचार्य ने राजा के नाश की प्रतिज्ञा की और वे सिन्ध की ओर चले गए। वहां अनेक शक राजा थे जो 'शाह' कहलाते थे और उन सब के ऊपर एक सम्राट था जो 'शाहीशाहानुशाही' कहलाता था। इन्हीं में से एक शाह के पास कालकाचार्य पहुंचे और उस पर उन्होंने बहुत प्रभाव स्थापित कर लिया। एक बार 'शाहीशाहानुशाही' उस शाह से तथा कुछ अन्य शाहों से क्रुद्ध हो गया। कालकाचार्य ने उसे अन्य शाहों के साथ मालव की ओर आक्रमण की सलाह दी। शक-शाह अन्य साथियों के साथ मार्ग में विजय करता हुआ उज्जयिनी आ गया और उसने गर्दभिल्ल को हराकर भगा दिया।

साध्वी सरस्वती छुड़ा ली गई। कालकाचार्य आनन्द से रहने लगे और मालव पर शकों का आधिपत्य हो गया।

कुछ समय पश्चात सार्वभौमोपम राजा श्रीविक्रमादित्य हुए, जिन्होंने शकों का वंशोच्छेद कर दिया। उन्होंने अनेक दान देकर मेदिनी को ऋणरहित करके अपने संवत्सर का प्रचलन किया।

पट्टावली के अनुसार विक्रमादित्य गर्दभिल्ल के पुत्र थे। इनके अतिरिक्त सिंहासनबत्तीसी, बैतालपच्चीसी, राजावली आदि अनेक ग्रन्थ हैं, जिनमें विक्रमा-

---

1. ठीक इसी से मिलता हुआ वर्णन स्कन्दपुराण में है। इसमें विक्रमादित्य के पिता का नाम गन्धर्वसेन और माता का नाम वीरमती है। शिवजी और उनके गण आदि ऊपर के अनुसार हैं और गन्धर्वसेन को प्रमरवंशी [illegible]

दित्य सम्बन्धी किंवदन्तियां संग्रहीत हैं।

विक्रमादित्य का जो रूप अनुश्रुति में मिलता है, वह अत्यन्त पूर्ण एवं भव्य है। वह रूप ऐसा है जो ज्ञात ऐतिहासिक आधार, मुद्रा, अभिलेख आदि के विरुद्ध भी नहीं है। अतः योरोपीय विद्वानों के स्वर में स्वर मिलाकर विक्रमादित्य के अस्तित्व को अस्वीकार करना मानसिक दासता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

नवरत्न समीक्षा—विक्रम और कालिदास की जोड़ी भारतीय अनुश्रुति एवं लोककथा में प्रसिद्ध है; परन्तु इतिहासज्ञों का बहुमत आज कालिदास को गुप्तवंशीय सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का समकालीन मानता है। ऐसी दशा में क्या ठीक माना जाय? पहला विचार तो यह हो सकता है कि कालिदास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समकालीन थे। दूसरी बात यह हो सकती है कि कालिदास एक न होकर अनेक हों और उनमें से एक ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी में हुआ हो, और यह भी हो सकता है कि मालवगणनायक विक्रमादित्य के समय में ही कालिदास हुए हों।

कालिदास को पूर्णतया चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समकालीन मानने वालों में महामहोपाध्याय वासुदेव विष्णु मिराशी[1] प्रधान हैं। उन्होंने अन्य सब मतों का खण्डन करते हुए यह स्थापना की है कि कालिदास द्वितीय चन्द्रगुप्त के आश्रय में थे। चन्द्रगुप्त ने ई० सन् 380 से लेकर 413 पर्यन्त राज्य किया; अर्थात् कालिदास चौथी शताब्दी के अन्त में या पांचवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुए होंगे, यह उनका मत है। इसके विपरीत श्री क्षेत्रेश चट्टोपाध्याय दृढ़ रूप से कालिदास को ईसा की प्रथम शताब्दी में रखते हैं। डॉ० राजबली पाण्डेय भी कालिदास को 57 ई० पू० विक्रमादित्य का समकालीन मानते हैं।

श्री जयशंकर प्रसाद का मत है कि कालिदास नामक कम से कम तीन साहित्यकार हुए हैं। इनमें से नाटककार कालिदास मालवगणनायक विक्रमादित्य के काल में थे। इसके पक्ष में जो उन्होंने तर्क दिये हैं, उन्हें हम नीचे ज्यों का त्यों देते हैं[2]—

1. नाटकार कालिदास ने गुप्तवंशीय किसी राजा का संकेत से भी उल्लेख अपने नाटकों में नहीं किया।
2. 'रघुवंश' आदि में असुरों के उत्पात और उनसे देवताओं की रक्षा के वर्णन से साहित्य भरा है। नाटकों में उस तरह का विश्लेषण नहीं है। काव्यकार कालिदास का समय हूणों के उत्पात और आतंक से पूर्ण था। नाटकों में इस भाव का विकास इसलिए नहीं है कि वह शकों के निकल जाने पर सुख-

---

1. कालिदास, पृष्ठ 43।
2. 'स्कन्दगुप्त-विक्रमादित्य' नाटक की भूमिका, पृष्ठ 28।

शान्ति का काल है। 'मालविकाग्निमित्र' में सिन्धु तट पर विदेशी यवनों का हराया जाना मिलता है। यवनों का राज्य उस समय उत्तरी भारत से उखड़ चुका था। 'शाकुन्तल' में हस्तिनापुर के सम्राट 'वनपुष्प-मालाधारिणी यवनियों' से सुरक्षित दिखाई देते हैं। यह सम्भवतः उस प्रथा का वर्णन है जो यवन सिल्यूकस-कन्या से चन्द्रगुप्त का परिणय होने पर मौर्य और उसके बाद शुंगवंश में प्रचलित रही हो। यवनियों का व्यवहार क्रीतदासी और परिचारिकाओं के रूप में राजकुल में था। यह काल ई० पू० प्रथम शताब्दी तक रहा होगा। नाटककार कालिदास 'मालविकाग्निमित्र' में राजसूय का स्मरण करने पर भी बौद्ध प्रभाव से मुक्त नहीं थे; क्योंकि 'शाकुन्तल' में धीवर के मुख से कहलवाया था—'पशुमारणकर्म्म-दारुणो-प्यनुकम्पा-मृदुरेव श्रोत्रियः'—और भी—'सरस्वती श्रुतिमहती न हीयताम्'—इन शब्दों पर बौद्ध धर्म की छाप है। नाटककार ने अपने पूर्ववर्ती नाटककारों के जो नाम लिये हैं, उनमें सौमिल्ल और कवियुग के नाट्यरत्नों का पता नहीं। भास के नाटकों को चौथी शताब्दी ई० पू० माना गया है।

3. नाटककार ने 'मालविकाग्निमित्र' की कथा का जिस रूप में वर्णन किया है, वह उसके समय से बहुत पुरानी जान पड़ती है। शुंगवंशियों के पतन-काल में विक्रमादित्य का मालवगण राष्ट्रपति के रूप में अभ्युदय हुआ। उसी काल में कालिदास के होने से शुंगों की चर्चा बहुत ताजी-सी मालूम होती है।
4. 'जामित्र' और 'होरा' इत्यादि शब्द जिनका प्रचार भारत में ईसा की पांचवीं शताब्दी के समीप हुआ है, नाटक में नहीं पाये जाते।
5. गुप्तकालीन नाटकों की प्राकृत में मागधीप्रचुर प्राकृत का प्रयोग है। उस प्राकृत का प्रचार भारत में सैकड़ों वर्ष पीछे हुआ था। पांचवीं, छठी शताब्दी में महाराष्ट्रीय प्राकृत प्रारम्भ हो गई थी और उस काल के ग्रन्थों में उसी का व्यवहार मिलता है। 'शाकुन्तल' आदि की प्राकृत में बहुत से प्राचीन प्रयोग मिलते हैं, जिनका व्यवहार छठी शताब्दी में नहीं था।'

इसके अतिरिक्त उन्होंने अन्यत्र[1] लिखा है—

'संवत् 1699 अगहन सुदी पंचमी की लिखी हुई 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की एक प्राचीन प्रति से, जो पंडित केशवप्रसाद जी मिश्र (भदैनी, काशी) के पास है, दो स्थलों के नवीन पाठों का अवतरण यहां दिया जाता है—

1. 'स्कन्दगुप्त-विक्रमादित्य' नाटक की भूमिका, पृ० 14।

(1) 'आर्ये रसभावशेष-दीक्षागुरोः **श्रीविक्रमादित्य-साहसांकस्या**भिरूप-भूयिष्ठेयं परिषत् अस्यां च कालिदासप्रयुक्तेनाभिज्ञानशाकुन्तलनवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः।'

(2) 'भवतु तव विडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु
त्वमपि विततयज्ञोवज्रिणं भावयेथाः
गणशतपरिवर्तैरेवमन्योन्यकृत्यै-
र्नियतमुभय लोकानुग्रहश्लाघनीयैः ।

इसमें मोटे टाइप में छपे हुए शब्दों पर ध्यान देने से दो बातें निकली हैं[1]। पहली, यह कि जिस विक्रमादित्य का उल्लेख शाकुन्तल में है, उसका नाम विक्रमादित्य है और 'साहसांक' उसकी उपाधि है। दूसरे, भरतवाक्य में 'गण' शब्द के द्वारा इन्द्र और विक्रमादित्य के लिए यज्ञ और गणराष्ट्र दोनों की ओर कवि का संकेत है। इसमें राजा या सम्राट जैसा कोई सम्बोधन विक्रमादित्य के लिए नहीं है। तब यह विचार पुष्ट होता है कि विक्रमादित्य मालव गण-राष्ट्र का प्रमुख नायक था, न कि कोई सम्राट या राजा। कुछ लोग जैत्रपाल को विक्रमादित्य का पुत्र बताते हैं। हो सकता है कि इसी के एकाधिपत्य से मालव-गण में फूट पड़ी हो और शालिवाहन के द्वितीय शक-आक्रमण में वे पराजित किये गए हों।

यदि शाकुन्तल का उपर्युक्त पाठ सही है, तब तो यह कहना होगा कि यह बात पूर्णरूप से सिद्ध है कि यह नाटक मालवगणाधीश के सामने अभिनीत हुआ था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को तो महापण्डित राहुल सांकृत्यायन[2] 'गणारि' (!) कहते हैं, गणाध्यक्ष नहीं। उनके अनुमान से मालवगण के उन्मूलन का पाप इन्हीं चन्द्रगुप्त द्वितीय के मत्थे है। फिर यह नाटक गणाध्यक्ष विक्रमादित्य साहसांक के सामने अभिनीत हुआ होगा। इस पाठ की प्रामाणिकता के विषय में अभी अधिक नहीं कहा जा सकता। यदि इस पाठ का समर्थन किसी और प्रति से भी हो सके तब तो यह स्थापना निर्विवाद रूप से ही सिद्ध हो जाय।

अतः लोककथा एवं अनुश्रुति में प्रसिद्ध विक्रम-कालिदास की यह अमर जोड़ी इतिहास सिद्ध है, यह माना जा सकता है।

विक्रमादित्य के साथ कालिदास के अतिरिक्त अन्य आठ रत्नों का सम्बन्ध और जोड़ा जाता है। उसकी सभा में नवरत्न थे ऐसी अनुश्रुति है। ज्योतिर्विदा-भरण का निम्नलिखित श्लोक प्रसिद्ध है—

धन्वन्तरिक्षपणकोऽमरसिंहशंकुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नवविक्रमस्य॥

---

1. देखिए, इसी ग्रन्थ में राहुलजी का लेख।

इसमें विक्रम की सभा के नवरत्न गिनाए गए हैं जो इस प्रकार हैं—

(1) धन्वन्तरि, (2) क्षपणक, (3) अमरसिंह, (4) शंकु, (5) वेतालभट्ट, (6) घटखर्पर, (7) कालिदास, (8) वराहमिहिर, (9) वररुचि।

यहां पर नवरत्नों का विस्तृत विवेचन करना अभीष्ट नहीं है। हम तो यहां यही देखना चाहते हैं कि उनमें से कौन से रत्न विक्रमकालीन होकर उसकी सभा को सुशोभित कर सके होंगे। इनमें से कालिदास का विवेचन ऊपर हो चुका है। अब प्रधान रत्नों में धन्वन्तरि पर यदि विचार किया जाय तो प्रकट होगा कि वैदिक काल में भी एक धन्वन्तरि हो गए हैं, जो काशी के वेदकालीन राजा दिवोदास के तीन या चार पीढ़ी पूर्व हुए थे।[1]

उसके बाद धन्वन्तरि नाम के वैद्यों की परम्परा चली और धन्वन्तरि-कृत कहे जाने वाले 'विद्याप्रकाशचिकित्सा' तथा 'धन्वन्तरि-निघण्टु' आदि के विवेचन से यह ज्ञात होता है कि विक्रमकाल (57 ई० पू०) में भी कोई धन्वन्तरि हुए हैं। 'विद्याप्रकाशचिकित्सा' में सूर्य की वन्दना[2] दी हुई है। उसे देखते हुए यह अनुमान होता है कि वैद्यराज धन्वन्तरि विक्रमादित्य के आश्रित थे। प्राचीन राजसभाओं से वैद्य सम्बन्धित होते ही थे, अतः मालवगणाध्यक्ष की सभा में भी वैद्य हों, यह भी सम्भव है।

क्षपणक कौन थे तथा इनका समय क्या था, यह ज्ञात नहीं है। जैन साधु को क्षपणक कहते हैं।[3] तो क्या जैन अनुश्रुति के सिद्धसेन दिवाकर भी विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में थे? परन्तु यह सब कल्पना-मात्र है। अभी तक इतिहास सिद्ध केवल इतना ही है कि 'अनेकार्थमंजरीकोश' नामक ग्रन्थ के रचयिता एक महाक्षपणक ईसा की 8वीं शती के पूर्व हुए थे।[4] इन महाक्षपणक का क्षपणक के साथ नामसाम्य होने के कारण श्री गोडे महाशय इस निष्कर्ष पर पहुंचना चाहते हैं कि अनेकार्थमंजरीकार चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की सभा में समादृत विद्वान हो सकता है। हमें इस निष्कर्ष से आपत्ति नहीं है और यह हमारे अनुमान के विपरीत भी नहीं है। हम समझते हैं कि महाकाल की नगरी

---

1. जी० एन० मुखोपाध्याय-कृत हिस्ट्री ऑफ इण्डियन मेडीसिन, दूसरा खण्ड, पृष्ठ 310-11।
2. यस्योदग्रास्तसमये पुरमुकुटनिष्ठचरणकमलोऽपि। कुरुतेंजलिं त्रिनेत्रः जयतु स धाम्नान्निधिः सूर्यः॥
3. आगे चलकर 'क्षपणक' को देखना अपशकुन माना जाने लगा था। देखिए, 'मुद्राराक्षस' अंक 4।
4. देखिए, इसी ग्रन्थ में आगे श्री प्र० कृ० गोडे का लेख 'क्षपणक एवं गुप्त [illegible]पणक।'

में विक्रमादित्य के सामने ही महाकाल को नमस्कार न करने वाले सिद्धसेन दिवाकर[1] नामक जैन साधु को ही पीछे के लेखकों ने क्षपणक नाम से सम्बोधित किया। क्षपणक नाम विशेष न होकर जैन साधु का ही पर्याय है।

प्रसिद्ध कोशकार अमरसिंह का समय भी ई० पू० प्रथम शताब्दी माना जा सकता है। इसके विषय में श्री जयचन्द्र विद्यालंकार[2] ने लिखा है—

> 'सुप्रसिद्ध अमरकोश के देव-प्रकरण में सबसे पहले बुद्ध के नाम हैं, फिर ब्रह्मा और विष्णु के। विष्णु के जो 39 नाम हैं, उनमें राम का नाम नहीं है, कृष्ण के बहुत से हैं। इसलिए उसके समय तक रामावतार की कल्पना न हुई थी। इसलिए अमरकोश के कर्त्ता अमरसिंह का समय सम्भवतः पहली शताब्दी ई० पू० है। प्रायः उसी समय बौद्धों ने संस्कृत में लिखना शुरू किया था, और अमरसिंह भी बौद्ध था।'

शंकु के विषय में ज्योतिर्विदाभरण के अतिरिक्त और कहीं उल्लेख नहीं मिलता। ज्योतिष का शंकु-यन्त्र इन्हीं के नाम पर है अथवा उसकी आकृति के कारण उसका उक्त नाम पड़ा है, कहा नहीं जा सकता। ऐसी दशा में उनका काल निर्णय करना कठिन है। इन्हें विक्रमादित्य का समकालीन मान लेने के मार्ग में कोई कठिनाई नहीं आती।[3]

वेतालभट्ट का नाम लोककथा के विक्रमादित्य के साथ बहुत लिया जाता है। अनुश्रुति में अग्निवेताल और विक्रम का साथ बहुत प्रसिद्ध है। उज्जैन में आज भी 'अगिया वेताल' का स्थान इस 'अग्निवेताल' का साक्षी रूप है। परन्तु 'भट्ट' उपाधि यह सूचित करती है कि यह कोई विद्वान थे। इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता कि यह विद्वान तान्त्रिक थे या अमानवी योनि के यक्ष-राक्षस। अतः शंकु की तरह इन्हें भी विक्रमकालीन मान सकते हैं।

घटखर्पर के समय के विष्य में भी कुछ ज्ञात नहीं है। इनके विषय में अनेक अनुमान किये गए हैं। एक विद्वान के अनुसार 'खर्पर' का अर्थ है 'जस्ता' और 'घटखर्पर' विक्रम के वे वैज्ञानिक थे जो इस धातु के प्रयोग में दक्ष थे।[4] कुछ विद्वानों के मत से 'घटखर्पर' एक जाति थी जो सम्भवतः कुम्हार थी। आज की 'खापर्डे' जाति को भी इन 'घटखर्पर' की स्मृति माना गया है। जो हो, हरिषेण

---

1. देखिए, इसी ग्रन्थ में आगे डॉ० मिस क्राउजे का निबन्ध 'जैन-साहित्य और महाकाल-मन्दिर।'
2. भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृष्ठ 1009।
3. कुछ विद्वान शंकु को स्त्री मानते हैं। गुजरात के प्रख्यात चित्रकार श्री रविशंकर रावल ने नवरत्नों के चित्र में इन्हें स्त्री चित्रित किया है।
4. देखिए, आगे श्री ब्रजकिशोर चतुर्वेदी का लेख 'विक्रम के नवरत्न'।

की प्रशस्ति में हमें एक 'खरपरिक'[1] जाति अवश्य दिखाई दी है। 'घटखर्पर' नामक एक काव्य भी है जो कालिदास विरचित कहा जाता है। पर यह कालिदास विक्रमकालीन कालिदास है अथवा कोई और, यह निश्चित नहीं है। अतः इस व्यक्ति का काल भी निश्चित नहीं। अनिश्चय की दशा में इनको विक्रमकालीन मान लेने में कोई आपत्ति नहीं दीखती।

वराहमिहिर के विषय में इतिहास के विद्वान निश्चित तिथियां बतलाते हैं। इनका समय 550 ई० निर्धारित किया गया है, परन्तु यह काल भी निर्विवाद रूप से मान लिया गया हो, ऐसा नहीं है। यह उज्जैन निवासी थे, इसमें सन्देह नहीं है। जब तक कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिले जिसके द्वारा इनका समय ई० पू० प्रथम शताब्दी में जा सके, तब तक वह वराहमिहिर इस नवरत्न-समस्या को जटिल ही बनाए रहेंगे।

वररुचि का समय भी भारतीय इतिहास की एक समस्या बना हुआ है। कोई इन्हें कात्यायन मानकर इनका समय ईसा से प्रायः 400 वर्ष पूर्व निर्धारित करते हैं। इनके ग्रन्थ 'प्राकृत-प्रकाश' की भूमिका में कावेल महोदय इनका समय ई० पू० प्रथम शताब्दी मानते हैं और इस प्रकार यह विक्रमकालीन प्रतीत होते हैं।

ज्योतिर्विदाभरण का उपरोक्त श्लोक ही क्या, यह पूरा ग्रन्थ ही विद्वानों द्वारा प्रक्षिप्त माना गया है। परन्तु इस विषय में अन्तिम शब्द कह सकने के पूर्व अभी बहुत अधिक छानबीन की आवश्यकता है।

ये नवरत्न वास्तव में विक्रमादित्य की सभा में रहे हों या न रहे हों या विक्रम के एक सहस्र वर्ष उपरान्त उस सहस्राब्दी के श्रेष्ठतम विद्वानों को विक्रम से सम्बद्ध करने का किसी का सुन्दर अनुमान हो, अथवा नवग्रहों के समान विक्रमार्क के चारों ओर यह रत्नमण्डली किसी कुशल कल्पना-शिल्पी ने जड़ दी हो, परन्तु इसके कारण 56-57 ई० पू० होने वाले विक्रमादित्य के अस्तित्व पर अविश्वास नहीं किया जा सकता।

विक्रमादित्य-विरुद और विरुदधारी—विक्रमादित्य-विरुद भारतीय इतिहास में उसी प्रकार प्रचलित हुआ, जिस प्रकार कि योरोपीय इतिहास में 'सीजर' या 'कैसर' की उपाधि सर्वप्रिय हुई है। 'सीजर' शब्द से जिस प्रकार साम्राज्य एवं विजेता की भावना सम्बद्ध है, उसी प्रकार 'विक्रमादित्य' उपाधि में विदेशी शक्ति को पराजित करने की भावना निहित है। परन्तु साथ ही यह भी भूल जाने की बात नहीं है कि जिस प्रकार 'सीजर' नाम के प्रतापी सम्राट के अस्तित्व के पश्चात ही सीजर उपाधि का प्रादुर्भाव हुआ था, उसी प्रकार 'विक्रमादित्य'

1. पं० गंगाप्रसाद मेहता-कृत 'चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य', पृ० 169।

उपाधि चल निकलने के लिए किसी विक्रमादित्य नामक विदेशियों के विनाशक के अस्तित्व का होना भी आवश्यक है।[1]

अब हम आगे विक्रमादित्य विरुदधारी भारतीय नरेशों का विवेचन इस दृष्टि से करेंगे, जिसमे यह ज्ञात हो सके कि यह सम्बोधन व्यक्तिवाचक नाम से उपाधि में कब परिवर्तित हुआ और जिन नरेशों ने इसे धारण किया वे कितने प्रतापी थे तथा इसका प्रभाव लोककथा और अनुश्रुति पर क्या पड़ा।

अभी तक सबसे प्रथम विक्रमादित्य उपाधिधारी गुप्तवंशीय सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य समझे जाते थे, परन्तु अब यह सिद्ध हो गया है कि समुद्रगुप्त ने भी यह उपाधि धारण की थी।[2] यह उपाधि इस महान विजेता सम्राट् के लिए

---

1. इस विरुद के विषय में पंजाब के प्रसिद्ध विद्वान डॉ० लक्ष्मणस्वरूप का मत भी तथ्यपूर्ण है—'ईसवी सन् से पूर्व भारतीय महाराज और सम्राट विक्रमादित्य विरुद को धारण नहीं करते थे जैसे अजातशत्रु, प्रद्योत, चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, पुष्यमित्र आदि ने विक्रमादित्य की उपाधि को अपने नाम के साथ नहीं जोड़ा। ईसवी सन् के पश्चात भारत के महाराज और सम्राट जैसे चन्द्रगुप्त द्वितीय, स्कन्दगुप्त, शीलादित्य, यशोधर्म, हर्षवर्धन इत्यादि शक्तिशाली सम्राट विक्रमादित्य की उपाधि को धारण करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक काल में जो गौरव और प्रताप अश्वमेध यज्ञ करने से प्राप्त होते थे, ईसवी सन् के पश्चात विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने से वे ही गौरव उपलब्ध होने लगे थे। जिस प्रकार वैदिक काल में अश्वमेध यज्ञ का करना संसार विजेता होने की घोषणा करना होता था, उसी प्रकार विक्रमादित्य की उपाधि धारण करना साम्राज्य तथा प्रभुत्व का सूचक बन गया था। पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ किया पर उसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण नहीं की। गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अश्वमेध यज्ञ नहीं किया पर उसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की।'
2. जर्नल ऑफ दि न्यूमेस्मेटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया खण्ड 5, भाग 2, दिसम्बर 1943 के अंक में पृष्ठ 136-37 पर इन्हीं मुद्राओं का विवेचन करते हुए श्री डिस्कलकर लिखते हैं—
   'On the seventh coin the dress of the king and other items are similar to those in coins No 1 to 5, and in all respects this coin closely resembles the coins of Samudragupta of the standard type. But it is of an extraordinary importance, in that it bears on the reverse the legend 'Shree Vikramah' instead of the usual legend 'Parakramah'. No other coin of [illegible]ra-

पूर्णरूपेण उपयुक्त है इसमें शंका नहीं। शक क्षत्रप रुद्रसेन समुद्रगुप्त के पराक्रम से शंकित हुआ था और उसने उसके दरबार में अपना राजदूत भेजा था। इसके गुणों का वर्णन इसके राजकवि हरिषेण की प्रशस्ति की अपेक्षा अधिक सुन्दर रूप में नहीं किया जा सकता, इसलिए हम उसके आवश्यक अंश के अनुवाद को उद्धृत करते हैं—

---

gupta has hitherto been found bearing this legend, which is found used only on the coins of Chandragupta II. This novelty may be explained in two ways.

'It may be supposed, therefore, that the coin of Samudragupta in the Bamnala hoard bearing on the reverse the Biruda Sri Vikramah was struck in the early period of Chandragupta's reign, the old die for the obverse of the coin of Samudragupta being used instead of the die of Chandragupta's early coins of the archer type. After only a few coins were struck in this way the mistake was detected and the further minting of the coin was discontinued. It is for this reasan that our coin in the Bamnala find is the only specimen of the variety so far found. If this supposition is accepted, it would be better to call this as Chandragupta's coin wrongly bearing on the obverse the die of Samudragupta's coin.

'An alternative suggestion can also be made. It may be supposed that in the later period of his reign Samudragupta introduced the epithet Vikram in place of the usual synonymous epithet Parakrama used on coin of the standard type, and that Chandragupta continued to adopt on his coins the epithet Vikrama which he liked better than the epithet Parakrama. It may be said against this view that the coins of the standard type of Samudragupta, which is a close copy of the later coins of the Kushan type, are the earliest of all his coins and that if he had introduced the new epithet on some coins of his standard type, it could have been used also on other coins struck by him.'

'जिसका मन विद्वानों के सत्संग-सुख का व्यसनी था, जो शास्त्र के तत्त्वार्थ का समर्थन करने वाला था'''जो सत्कविता और लक्ष्मी के विरोधों को विद्वानों के गुणित गुणों की आज्ञा से दबा कर (अब भी) बहुतेरी स्फुट कविता से (मिले हुए) कीर्ति-राज्य को भोग रहा है'''जिसका पृथ्वी पर कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं था, जिसने सैकड़ों सच्चरितों से अलंकृत अपने अनेक गुणगणों के उद्रेक से अन्य राजाओं की कीर्तियों को अपने चरण-तल से मिटा दिया था, जो अचिन्त्य पुरुष की भांति साधु के उदय और असाधु के प्रलय का कारण था, जिसका कोमल हृदय भक्ति और प्रणतिमात्र से वश हो जाता था, जिसने लाखों गौएं दान की थीं, जिसका मन कृपण, दीन, अनाथ, आतुरजनों के उद्धार और दीक्षा आदि में लगा रहता था, जो लोक के अनुग्रह का साक्षात् जाज्वल्यमान स्वरूप था, जिसके सेवक अपने भुजबल से जीते हुए राजाओं के विभव को

श्री डिस्कलकर के ये दोनों अनुमान स्थिति-पालन की दृष्टि से किये गये हैं। अभी तक की मान्य ऐतिहासिक धारणाओं पर आघात न हो यही बात उक्त विद्वान् के मस्तिष्क में प्रधान रही है। पहला अनुमान तो वे यह करते हैं कि यह चन्द्रगुप्त की ही मुद्रा है और गलती से दूसरी ओर समुद्रगुप्त के सांचे का प्रयोग हो गया है। यह अनुमान अत्यन्त हास्यास्पद है। प्राचीन काल में ऐसी भूलें कम होती थीं, और इसे सिद्ध करने के लिए श्री डिस्कलकर को गुप्त-साम्राज्य के प्रबन्ध में कुछ भूलें भी ढूंढनी होंगी, वह भी विशेषतः एक ऐसे मामले में, जो सम्राट के सम्मुख अवश्यम्भावी रूप से जाना हो। दूसरा अनुमान तो स्वयं उन्होंने ही लँगड़ा कर दिया है।

हमारे विचार से तो सम्भावना यह है कि समुद्रगुप्त ने जब हरिषेण के शब्दों में 'दैवपुत्र शाहिशाहानुशाही शक'''आत्मनिवेदन कन्योपायनदान गरुत्मदंकस्वविषय भुक्तिशासनयाचनाधुपाय' अर्थात् जब दैव-पुत्र शाहि-शाहानुशाही शक'''आत्मनिवेदन करने लगे थे तथा अपनी कन्यायें भेंट में देने लगे थे, अपने विषय भुक्ति के शासन के लिए गरुड़ की राजमुद्रा में अंकित फरमान मगने लगे थे, तब सम्राट स्कन्दगुप्त ने प्रथम शक-मानमर्दक मूल विक्रमादित्य के नाम को विरुद रूप में धारण किया। और पीछे से जब उसने समस्त भरतखण्ड को अपने प्रबल पराक्रम से आक्रान्त कर दिया तब 'पराक्रम' विरुद धारण किया।

वापिस देने में लगे हुए थे······जो लोकनियमों के अनुष्ठान और पालन करने भर के लिए ही मनुष्य रूप था, किन्तु लोक में रहने वाला देवता ही था।'[1]

समुद्रगुप्त का विक्रम उपाधि धारण करना कुछ स्थिति-पालक विद्वान शंकास्पद भले ही मानें,[2] परन्तु ईसवी सन् 380 के आसपास राज्यारोहण करने वाले यशस्वी सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय ने 'विक्रमादित्य' उपाधि ग्रहण की, यह उसकी मुद्राएं पूर्ण रूप से सिद्ध करती हैं। इसने शक क्षत्रपों का उन्मूलन कर शकारित्व स्थापित किया। परन्तु इसकी प्रशस्ति लिखने के लिए इसे अपने पिता के समान हरिषेण जैसा राजकवि नहीं मिला था। यह सम्राट् महान् विजयी, अपार दानी, विद्या एवं कला का आश्रयदाता तथा धर्मरक्षक था।[3]

गुप्त सम्राटों में अन्तिम सम्राट, जिसने अपने पौरुष से विदेशी शकों का मान-मर्दन किया, 'स्कन्दगुप्त' था। इसने भी विक्रमादित्य की उपाधि ग्रहण की थी। इसके सिक्कों पर 'परमभागवत्श्रीविक्रमादित्यस्कन्दगुप्तः' अंकित है। इसके अभिलेख[4] से प्रकट है कि कुललक्ष्मी विचलित थी; म्लेच्छों और हूणों से आर्य्यावर्त आक्रान्त था। अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए जिन्होंने पृथ्वी पर सोकर रातें बिताईं, हूणों के युद्ध में जिसके विकट पराक्रम से धरा विकम्पित हुई, जिन्होंने सौराष्ट्र के शकों का मूलोच्छेद करके परादित को वहां का शासक नियत किया, वह स्कन्दगुप्त ही थे।

गुप्तों के पश्चात् यशोधर्म्मनदेव ने विक्रमादित्य उपाधि धारण की थी, ऐसा कुछ लोगों का मत है। उसने ईसवी सन् 544 (या 428) में करूर के रणक्षेत्र में शकों को परास्त करके दो विजय स्तम्भों का निर्माण कराया। इन पर से फरगुसन ने विक्रम-संवत्-प्रवर्तक-सम्बन्धी अपना विचित्र मत स्थापित किया

---

1. प्रयाग के स्तम्भ पर समुद्रगुप्त की विजय प्रशस्ति के अनुवाद से उद्धृत (देखिए श्री गंगाप्रसाद मेहता-कृत 'चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य', पृष्ठ 166-68)।
2. देखिए, जर्नल ऑफ दि न्यूमेस्मेटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया, दिसम्बर 1943 में श्री डिस्कलकर का मत।
3. गंगाप्रसाद मेहता-कृत 'चन्द्रगुप्त-विक्रमादित्य' पृष्ठ 59-66
4. विचलितकुललक्ष्मीस्तम्भनायोद्यतेन,
   क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा।
   समुदितबलकोशान् पुष्यमित्रांश्च जित्वा,
   क्षितिपचरणपीठे स्थापितोवामपादः॥

था। परन्तु यह विदित है कि यशोधर्म्मन ने अपनी किसी प्रशस्ति में विक्रमादित्य उपाधि धारण नहीं की।

इसके पश्चात छोटे-मोटे अनेक विक्रमादित्य हुए। दक्षिण में भी अनेक राजाओं ने यह उपाधि धारण की। यहां तक कि हेमू ने भी, जब उसे यह भ्रम हुआ कि उसे मुगल-राज्य उखाड़ फेंकने में सफलता मिल जाएगी, अपने आपको विक्रमादित्य लिखा।

विदेशियों पर विजय की भावना तो विक्रमादित्य उपाधि के साथ है ही, साथ ही पिछले विक्रमादित्य उपाधिधारियों ने साहित्य कला को आश्रय दिया, अपार दान दिये और राजसभा के वैभव को अत्यधिक बढ़ाया। यही कारण है कि आज से प्रायः एक सहस्र वर्ष पूर्व विक्रमादित्य का जो रूप प्रचलित हुआ, उसमें मालवगण प्रधान विक्रमादित्य तो छिप गया और उसके स्थान पर विक्रमादित्य उपाधिधारी सम्राटों की समन्वित मूर्ति बन गई। भारतीय संस्कृति एवं एकतंत्रीय शासन-प्रणाली में जो कुछ भी सर्वश्रेष्ठ था, वह विक्रमादित्य से सम्बन्धित हो गया। महान् विजयी, परदुःखभंजन, न्याय-परायण, त्यागी दानी एवं उदारचरित के रूप में उसकी कल्पना हुई। मालवगणमुख्य में यह सब गुण होंगे, इससे इनकार नहीं, परन्तु उसका यह चित्र अतिरंजित अवश्य हो गया।

उपसंहार—ज्ञात ऐतिहासिक तथ्यों और अनुश्रुति के विवेचन से यह सिद्ध होता है कि उज्जैन स्थित मालवगणों पर ई० पू० 57 में शकों का अधिकार हो गया था। इस समय के धार्मिक विद्वेष ने शकों के अधिकार होने में सहायता की थी। विक्रमादित्य नामक 'व्यक्ति' ने मालवगणतन्त्र का संगठन कर उसे अत्यधिक बलशाली बनाया, शकों का मूलोच्छेद किया और संवत्सर की स्थापना की। उसी समय 'मालवानांजयः' लेखसहित मुद्राएं भी प्रचलित की गईं। यह विक्रमादित्य अत्यन्त प्रतापशाली और उदात्त गुण-सम्पन्न था।

यह प्रयास केवल इस हेतु किया गया है कि भारतीय अनुश्रुति के नायक हमारी प्राचीन संस्कृति एवं गौरव के प्रधान अवशेष विक्रम-संवत् के प्रवर्त्तक, विजयी विक्रमादित्य के अस्तित्व को असिद्ध करने के जो प्रयास किए गए हैं उनका निराकरण हो सके। विक्रमीय प्रथम सहस्राब्दी में महान् विजेताओं द्वारा उसके नाम की उपाधि ग्रहण करने में अपने आपको गौरवान्वित अनुभव करना इस बात का सूचक है कि भारतीय सदा से ही विक्रमादित्य के नाम को अत्यन्त मान एवं आदर की दृष्टि से देखते थे। आज राजमहल से दरिद्र की कुटी तक फैली हुई विक्रम की गौरव-गाथाएं उसी भावना की प्रतीक हैं। विक्रमादित्य का चलाया हुआ यह विक्रम-संवत् हमारी अमूल्यतम एवं महानतम थाती है। यह हमारे विक्रम की स्मृति है, इसी से हम भावी विक्रम की शक्ति संचित करेंगे।

परिशिष्ट 'क'[1]-[2]

क्रमांक	संवत्	प्राप्ति-स्थान	शासक या दाता	संवत्-सम्बन्धी पाठ
1	282	नान्दसा (उदयपुर-राज्य) ...	शक्तिगुण गुरु ...	कृतयोर्द्वयोर्वर्षशतयोर्द्वयशीतयोः 200-80-2 चैत्र पूर्णमासी (स्या) म् ।
	284	बर्णाला[3] (जयपुर-राज्य) ...	(...) वर्धन ...	कृतेहि (कृतैः) 200-80-4 चैत्र शुक्ल-पक्षस्य पंचदशी !
	295	बड्वा (जयपुर-राज्य) ...	...	कृतेहि (कृतैः) 200-80-4 फाल्गुन शु० 5
	295	"	...	"
	295	"	...	"
	335	बर्णाला (जयपुर-राज्य) ...	भट्ट	कृतेहि 300-30-5 जरा (जेष्ठ) शुद्धस्य पंचदशी ।

1. यह परिशिष्ट डॉ० देवदत्त भाण्डारकर द्वारा तैयार की गई विक्रम-संवत् के उल्लेखवाले अभिलेखों की सूची पर से तैयार किया गया है । भाण्डारकर की यह सूची एपीग्रेफिया इण्डिका के भाग 19-23 के परिशष्ट 'क' के रूप में निकली है । जो अभिलेख उक्त सूची के बनने के पश्चात् प्राप्त हुए हैं उन्हें भी इसमें सम्मिलित कर दिया गया है ।
2. इस सम्बन्ध में 103 अंक पड़ा हुआ तख्तेबाही का गोण्डोफारनिस का अभिलेख भी विचारणीय है । अनेक विद्वान् इसे विक्रम-संवत् मानते हैं, परन्तु यह मत विवादास्पद है ।
3. आगे के पांच अभिलेख डॉ० भाण्डारकर की उक्त सूची में नहीं हैं । इनका उल्लेख डॉ० अल्तेकर के एपीग्राफिया इण्डिका, भाग 26, पृ० 118-125 पर किया है ।

2	428	विजयगढ़ (भरतपुर-राज्य) ...	विष्णुवर्धन ...	कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेष्वष्टाविंशेषु 400-20-8 फाल्गुण-बहुलस्य पंचदश्यामेतस्यां पूर्वायाम् ।
3	461	मन्दसौर (ग्वालियर-राज्य) ...	नरवर्मन्... ...	श्रीमालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसंज्ञितैकषष्ट्यधिके प्राप्ते समाशतचतुष्टये । दिने आश्वोजशुक्लस्य पंचम्यामथ सत्कृते ।
4	480	गंगाधार (झालावाड़-राज्य) ...	विश्ववर्मन् ...	यातेषु चतुर्षु कृतेषु शतेषु सौम्यैष्वाष्टाशीत सोत्तरपदेष्विह वत्सरेषु । शुक्ले त्रयोदशदिने भुवि कार्तिकस्यमासस्य ।
5	481	नगरी (उदयपुर-राज्य)	दो वणिक बन्धु ...	कृतेषु चतुर्पुवर्पशतेष्वेकाशीत्युत्तरेष्वस्यां मालव-पूर्वायां 400-80-1 कार्तिकशुक्लपंचम्याम् ।
6	493	मन्दसौर (ग्वालियर-राज्य) ...	कुमारगुप्त (बन्धुवर्मन)	मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये त्रिनवत्य-धिकेब्दानामृतौ सेव्यघनस्तने, सहस्य मासशुक्लस्य प्रशस्तेऽह्नि त्रयोदशे ।
7	524-	मन्दसौर (ग्वालियर-राज्य) ...	प्रभाकर... ...	शरन्निशानाथकरामलाया: विख्यापके मालववंश-कीर्तेः । शरद्गणे पंचशते व्यतीते,त्रिघाति-ताष्टाभ्यधिके क्रमेण ।
9[1]	589	मन्दसौर (ग्वालियर-राज्य)	राज्याधिराज परमेश्वर यशोधर्मन-विष्णुवर्धन	पंचसु शतेषु शरदां यातेष्वेकान्नतवतिसहितेषु, मालवगणस्थितिवशात्कालज्ञानाय लिखितेषु ।

1. यह क्रमांक डॉ० भाण्डारकर की सूची के अनुसार है । उक्त सूची के उन अभिलेखों के उल्लेख छोड़ दिए गए हैं, जिनमें संवत् का नामोल्लेख नहीं है ।

क्रमांक	संवत्	प्राप्ति-स्थान	शासक या दाता	संवत्-सम्बन्धी पाठ
16	770	चित्तौड़गढ़	मान	मालवेश-संवत्सर ।[1]
17	794	धीनीकि[2] (काठियावाड़) ...	जैकदेव	विक्रमसंवत्सरशतेसु सप्तषु चतुर्नवत्यधिकेष्वंकत: । कार्तिकमासापरपक्षे अमावस्यायां आदित्यवारे ज्येष्ठानक्षत्रे रविग्रहणपर्वणि ।
18	795	कणस्व (कोटा-राज्य) ...	शिवगण	संवत्सरशतैर्यातै: सपंचनवत्यर्गलै: सप्तभिर्मालवेशानाम् ।
27	898	धौलपुर	चण्डमहासेन ...	वसुनवाष्टौ वर्षागतस्य कालस्य विक्रमाख्यस्य वैशाखस्य सितायां रविवारयुतद्वितीयायां चन्द्रे रोहिणिसंयुक्ते लग्ने सिंहस्य शोभने योगे ।
37	936	ग्यारसपुर (ग्वालियर-राज्य) ...	...	मालवकालाच्छरदां षट्त्रिंशत्संयुतेष्वतीतेष नवसु शतेषु मधाविह ।'

1. डॉ० भाण्डारकर ने इसका मूल पाठ नहीं दिया। कर्नल टॉड के 'एनाल्स ऑफ राजस्थान' से उक्त पाठ का अनुवाद उद्धृत किया है जो इस प्रकार है :—

'Seventy had elapsed beyond seven hundred years (Semvatisir) when the lord of the men, the king of Malwa, formed this saka.

इस पर डॉ० भाण्डारकर ने यह सम्भावना की है कि इसके मूल पाठ में 'मालवेश' के संवत् का उल्लेख होगा।

2. इस ताम्रपत्र को डॉ० अल्तेकर ने जाली सिद्ध कर दिया है। एपीग्राफिया इण्डिका, भाग 26, पृ० 189।

48	973	बीजापुर	राष्ट्रकूट विदग्धराज	रामगिरिनन्दकलिते विक्रमकाले गते तु शुचिमासे ।[1]
63	1005	बोधगया	...	विक्रम-संवत्सर 1005 के मधुमास के शुक्लपक्ष की चतुर्थी शुक्रवार का उल्लेख है ।
67	1008	आहार (उदयपुर-राज्य) ...	अल्कट	कार्तिक सितपंचम्यां अग्रटनाम्नासुसूत्रधारेण । प्रारब्धं देवगृहं कालेवसुशून्यदिकसंख्ये ॥ दशदिग्विक्रमकाले वैशाखे शुद्धसप्तमी दिवसे । हरिरिह निवेशितोऽयं घटितप्रतिमोः वराहेण ॥
72	1013	ओसिया (जोधपुर-राज्य) ...	...	विक्रम-संवत्सर 1103 फाल्गुण शुक्लपक्ष तृतीया ।[2]
80	1028	एकलिंगजी (उदयपुर-राज्य)...	नरवाहन	विक्रमादित्यभूभृतः । अष्टाविंशतिसंयुक्ते शते दशगुणे सति ।
117	1086	राधनपुर (बम्बई-प्रान्त) ...	भीमदेव	विक्रम-संवत् 1086 कार्तिक शुदि 15 ।
123	1099	वसन्तगढ़ (सिरोही-राज्य) ...	पूर्णपाल	नवनवतिरिहासीद् विक्रमादित्यकाले । जगति दशशतानामग्रतो यत्र पूर्णा प्रभवति नभमासे स्थानके चित्रभावोः ॥ मृगशिरसिशशांके कृष्णपक्षे नवम्याम् ॥
128	1103	तिलकवाड़ा (बड़ौदा-राज्य) ...	जसोराज-भोजदेव ...	वत्सरैर्विक्रमादित्यैः शतैरेकादशैस्तथा । त्र्युत्तरैर्मार्गमासेऽस्मिन् सोमे सोमस्य पर्वणि ।

1-2. इसका मूल पाठ डॉ० भाण्डारकर ने नहीं दिया है ।

क्रमांक	संवत्	प्राप्ति-स्थान	शासक या दाता	संवत्-सम्बन्धी पाठ
134	1116	उदयपुर (ग्वालियर-राज्य) ...	उदयादित्य ...	एकादशशतवर्षाअङ्गतदधिक षोडसंच विक्रमेंद्रे साम्। संवत् 1116 नवसतैकसीत शक गत शालिवाहिन च नृपाधीश शाके 981।
136	1118	देवगढ़ (झांसी) ...	सती-प्रस्तर	विक्रम-संवत् 1118 ज्येष्ठ सु० मंगलवार।
141	1131	नवसारी (बड़ौदा-राज्य) ...	कर्णराज एवं दुर्लभराज	श्रीविक्रमादित्योत्पादित संवत्सर शतेष्वेकादशसु एकत्रिंशदधिकेषु अत्रांकतोऽपि सं० 1131 कार्तिक शुदि एकादशी पर्वणि।
155	1148	सूनक (बड़ौदा-राज्य) ...	कर्णदेव त्रैलोक्यमल्ल	विक्रम-संवत् 1148 वैशाख शुदि 15 सोमे। अद्य सोमग्रहणपर्वणि।
156	1150	ग्वालियर	महिपालदेव ...	एकादशस्वतीतेषु संवत्सरशतेषु च। एकोनपंचाशति च गतेष्वब्देषु विक्रमात्॥ पंचाशे चाश्विने मासे कृष्णपक्षे अंकतोऽपि। 1150 आश्विनबहुल-पंचम्याम्।
165	1157	अर्थूणा (बांसवाड़ा-राज्य) ...	चामुण्डराज	सप्तपंचाशदधिके सहस्रे च शतोत्तरे। चैत्रकृष्ण-द्वितीयायाम्।
169	1161	ग्वालियर	महीपालदेव का उत्तरा-धिकारी	श्रीविक्रमार्कनृपकालातीतसंवत्सरणामेकषष्ट्यधिकाया-मेकादशशत्यां माघशुक्लषष्ठ्याम्।
176	1164	कद्माल (उदयपुर-राज्य) ...	विजयसिंह ...	श्रीविक्रमकालातीत संवत्सरशतेष्वेकादशसु चतुःषष्ट्यधिकेषु आषाढ़ मास अमावस्यां सूर्यग्रहणेऽअंकतोऽपि संवत् 1164 वर्षे आषाढवदि 15।

179	1166	अर्थूणा (बांसवाड़ा-राज्य) ...	विजयराज ...	वर्ष सहस्रे याते षट्षष्ठ्युत्तरशतेन संयुक्ते । विक्रम-भानोः काल.............विक्रमसंवत् 1166 वैशाख सुदि 3 सोमे ।
200	1176	सेवाड़ी (जोधपुर-राज्य) ...	रत्नपाल ...	श्रीविक्रमादित्योत्पादितातीतसंवत्सरशतेष्वेकादशसु षट्सप्तत्यधिकेपु ज्येष्ठमासबहुल-पक्षाष्टमी-गुरु-वासरे । अंकतोऽपि संवत् 1176 ज्येष्ठ वदि 8, गुरौ ।
232	1191	" " ...	यशोवर्मदेव ...	श्रीविक्रम-कालातीत-संवत्सरैकनवत्यधिकशतैकादशेषु कार्तिक शुदिअष्टम्याम् ।
240	1195	उज्जैन (ग्वालियर-राज्य) ...	जयसिंह ...	विक्रमनृप-कालातीत-संवत्सरशतैकादशसु पचनवत्य-धिकेपु । अंकतः संवत् 1195 ज्येष्ठ-वदि 14 गुरौ ।
241	1195	भद्रेश्वर (कच्छ-राज्य) ...	जयसिंहदेव ...	विक्रम-संवत् 1195 वर्षे आषाढ शुदि 10 रवौ अस्यां सवत्सर-मास-पक्ष-दिवस-पूर्वायां तिथौ ।
245	1196	दोहद (जिला पंचमहाल बम्बई)	जयसिंहदेव ...	श्रीनृप-विक्रम-संवन् 1196 ।
250	1198	किराडू (जोधपुर-राज्य)	जयसिंह-सिद्धराज तथा सोमेश्वर	अष्टनवतौ वर्षे विक्रम-भूपतेः ।
252	1199	झालरापाटन (झालावाड़-राज्य)	नरवर्मदेव तथा यशो-वर्मदेव	विक्रमांक-संवत् 1199 फाल्गुण शुदि...।

विक्रम की ऐतिहासिकता

☐ डॉ॰ राजबली पाण्डेय

जनश्रुति

मर्यादा-पुरुषोत्तम राम और कृष्ण के पश्चात् भारतीय जनता ने जिस शासक को अपने हृदय-सिंहासन पर आरूढ़ किया है वह विक्रमादित्य हैं। उनके आदर्श, न्याय और लोकाराधन की कहानियां भारतवर्ष में सर्वत्र प्रचलित हैं, और आबाल-वृद्ध सभी उनके नाम और यश से परिचित हैं। उनके सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध जनश्रुति है कि वे उज्जयिनीनाथ गन्धर्वसेन के पुत्र थे। उन्होंने शकों को परास्त करके अपनी विजय के उपलक्ष में संवत् का प्रवर्तन किया था। वे स्वयं काव्य-मर्मज्ञ तथा कालिदासादि कवियों के आश्रयदाता थे। भारतीय ज्योतिष-गणना से भी इस बात की पुष्टि होती है कि ईसा से 57 वर्ष पूर्व विक्रमादित्य ने विक्रम-संवत् का प्रचार किया था।

अनुश्रुति

भारतीय-साहित्य में अंकित अनुश्रुति ने भी उपर्युक्त जनश्रुति को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। इनमें से कुछ का उल्लेख नीचे किया जाता है—

1. अनुश्रुति के अनुसार विक्रमादित्य का प्रथम उल्लेख 'गाथासप्तशती' में इस प्रकार मिलता है—

संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खम्।
चलणेण विक्कमाइत्तचरिअं अणुसिक्खिअं तिस्सा॥ 5-64॥

इसकी टीका करते हुए गदाधर लिखते हैं—'पक्षे संवाहणं संबंधनम्। लक्खं लक्षम्। विक्रमादित्योऽपि भृत्यकर्तृकेन शत्रुसंबाधनेन तुष्टः सन् भृत्यस्य करे लक्षं ददा[illegible]:।' इससे यह प्रकट होता है कि गाथा के रचना-काल में यह बात प्रसि[illegible] कि विक्रमादित्य नामक एक प्रतापी तथा उदार शासक थे, जिन्होंने

शत्रुओं के ऊपर विजय के उपलक्ष में भृत्यों को लाखों का उपहार दिया था। 'गाथासप्तशती' का रचयिता सातवाहन राजा हाल प्रथम शताब्दी ई० पश्चात् में हुआ था। अतः इसके पूर्व विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता सिद्ध होती है। इस ऐतिहासिक तथ्य का प्रतिपादन महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने अच्छी तरह से किया है (एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द 12, पृ० 320)। इसके विरुद्ध डॉ० देवदत्त रामकृष्ण भाण्डारकर ने 'गाथासप्तशती' में आए हुए ज्योतिष के संकेतों के आधार पर कुछ आपत्तियां उठाई थीं (भाण्डारकर-स्मारक-ग्रन्थ, पृ० 187-189), किन्तु इसका निराकरण म० म० पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने भली भांति कर दिया है (प्राचीन लिपिमाला, पृ० 168)।

2. जैन पंडित मेरुतुंगाचार्य-रचित पट्टावली में लिखा है कि नभोवाहन के पश्चात् गर्दभिल्ल ने उज्जयिनी में तेरह वर्ष तक राज्य किया। इसके अत्याचार के कारण कालकाचार्य ने शकों को बुलाकर उसका उन्मूलन किया। शकों ने उज्जयिनी में चौदह वर्ष तक राज्य किया। इसके बाद गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने शकों से उज्जयिनी का राज्य वापिस करा लिया। यह घटना महावीर-निर्वाण के 470वें वर्ष (527—470=57 ई० पू०) में हुई। विक्रमादित्य ने साठ वर्ष तक राज्य किया। उनके पुत्र विक्रमचरित उपनाम धर्मादित्य ने 40 वर्ष तक राज्य किया। तत्पश्चात् भैल्ल, नैल्ल तथा नाहद ने क्रमशः 11, 14 और 10 वर्ष तक शासन किया। इस समय वीर-निर्वाण के 605 वर्ष पश्चात् (605—527=78 ई० पू०) शक-संवत् का प्रवर्तन हुआ।

3. प्रबन्धकोश के अनुसार महावीर-निर्वाण के 470 वर्ष बाद (527—470 =57 ई० पू०) विक्रमादित्य ने संवत् का प्रवर्तन किया।

4. धनेश्वर सूरि विरचित शत्रुंजयमाहात्म्य में इस बात का उल्लेख है कि वीर-संवत् के 466 वर्ष बीत जाने पर विक्रमादित्य का प्रादुर्भाव होगा। उनके 477 वर्ष पश्चात् शिलादित्य अथवा भोज शासन करेगा। इस ग्रन्थ की रचना 477 विक्रम-संवत् में हुई, जबकि वल्लभि के राजा शिलादित्य ने सुराष्ट्र से बौद्धों को खदेड़कर कई तीर्थों को उनसे वापस लिया था। (देखिये, डॉ० भाउदाजी, जर्नल ऑफ बाम्बे एशियाटिक सोसायटी, जिल्द 6, पृ० 29-30)।

5. सोमदेव भट्ट विरचित कथासरित्सागर (लम्बक 18, तरंग 1) में भी विक्रमादित्य की कथा आती है। इसके अनुसार ये उज्जयिनी के राजा थे। इनके पिता का नाम महेन्द्रादित्य तथा माता का नाम सौम्यदर्शना था। महेन्द्रादित्य ने पुत्र की कामना से शिव की आराधना की। इस समय पृथ्वी म्लेच्छ[illegible] थी। अतः इसके त्राण के लिए देवताओं ने भी शिव से प्रार्थना की। [illegible]

अपने गण माल्यवान्[1] को बुलाकर कहा कि पृथ्वी का उद्धार करने के लिए तुम मनुष्य का अवतार लेकर उज्जयिनीनाथ महेन्द्रादित्य के यहां पुत्र-रूप से उत्पन्न हो। पुत्र उत्पन्न होने पर शिवजी के आदेशानुसार महेन्द्रादित्य ने उसका नाम विक्रमादित्य तथा उपनाम (शत्रु-संहारक होने के कारण) विषमशील रखा। बालक विक्रमादित्य पढ़-लिखकर सब शास्त्रों में पारंगत हुआ, और प्राज्य-विक्रम होने पर उसका अभिषेक किया गया। वह बड़ा ही प्रजावत्सल राजा हुआ। इसके बारे में लिखा है—

स पिता पितृहीनानामबंधूनां स बान्धवः।
अनाथानां च नाथः सः प्रजानां कः स नाभवत् ॥18-1-66॥

(वह पितृहीनों का पिता, बन्धु-रहितों का बन्धु और अनाथों का नाथ था। प्रजा का तो वह सर्वस्व ही था।) इसके अनन्तर विक्रमादित्य की विस्तृत विजयों और अद्भुत कृत्यों का अतिरंजित वर्णन है।

कथासरित्सागर अपेक्षाकृत अर्वाचीन ग्रन्थ होते हुए भी क्षेमेन्द्रलिखित बृहत्कथामंजरी और अन्ततोगत्वा बृहत्कथा (गुणाढ्यरचित) पर अवलंबित है। गुणाढ्य सातवाहन हाल का समकालीन था, जो विक्रमादित्य से लगभग 100 वर्ष पीछे हुआ था। अतः सोमदेव द्वारा कथित अनुश्रुति विक्रमादित्य के इतिहास से सर्वथा अनभिज्ञ नहीं हो सकती। सोमदेव के सम्बन्ध में एक और बात ध्यान देने की है। वे उज्जयिनी के विक्रमादित्य के अतिरिक्त एक-दूसरे विक्रमादित्य को भी जानते थे, जोकि पाटलिपुत्र का राजा था—'विक्रमादित्य इत्यासीद्राजा पाटलिपुत्रके (लम्बक 7, तरंग 4)।' इसलिए जो आधुनिक ऐतिहासिक मगधाधिप पाटलिपुत्रनाथ गुप्त सम्राटों को उज्जयिनीनाथ विक्रमादित्य से अभिन्न समझते हैं, वे अपनी परम्परा और अनुश्रुति के साथ बलात्कार करते हैं।

6. द्वात्रिंशत्पुत्तलिका, राजावली आदि ग्रन्थों तथा राजपूताने में प्रचलित (टॉड्स राजस्थान में संकलित) अनुश्रुतियों में उज्जयिनीनाथ शकारि विक्रमादित्य की अनेक कथाएं मिलती हैं।

साधारण जनता की जिज्ञासा इन्हीं अनुश्रुतियों से तृप्त हो जाती है और वह परम्परा से परिचित लोक-प्रसिद्ध विक्रमादित्य के सम्बन्ध में अधिक गवेषणा करने की चेष्टा नहीं करती। किन्तु आधुनिक ऐतिहासकों के लिए केवल अनुश्रुति का प्रमाण पर्याप्त नहीं है। वे देखना चाहते हैं कि अन्य साधनों द्वारा ज्ञात इतिहास से परम्परा और अनुश्रुति की पुष्टि होती है या नहीं। विक्रमादित्य की

---

1. कथा की पौराणिक शैली में 'गण' से गणतंत्र और 'माल्यवान' से मालव [जा]ति का आभास मिलता है।

ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में वे निम्नलिखित प्रश्नों का समाधान करना चाहते हैं—

(1) विक्रमादित्य ने जिस संवत् का प्रवर्तन किया था, उसका प्रारम्भ कब से होता है ?

(2) क्या प्रथम शताब्दी ई० पू० में कोई प्रसिद्ध राजवंश अथवा महापुरुष मालव प्रान्त में हुआ था या नहीं ?

(3) क्या उस समय कोई ऐसी महत्त्वपूर्ण घटना हुई थी; जिसके उपलक्ष में संवत् का प्रवर्तन हो सकता था ?

इन प्रश्नों को लेकर अब तक प्रायः जो ऐतिहासिक अनुसन्धान होते रहे हैं, उनका सारांश संक्षेप में इस प्रकार दिया जाता है—

(1) यद्यपि ज्योतिषगणना के अनुसार विक्रम-संवत् का प्रारम्भ 57 ई० पू० में होता है किन्तु ईसा की प्रथम कई शताब्दियों तक साहित्य तथा उत्कीर्ण लेखों में इस संवत् का कहीं प्रयोग नहीं पाया जाता। मालव प्रान्त में प्रथम स्थानीय संवत् मालवगण-स्थिति-काल था, जिसका पता मन्दसौर प्रस्तर-लेख से लगा है—मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये (फ्लीट : गुप्त उत्कीर्ण लेख सं. 18)। यह लेख पांचवीं शताब्दी ई० पू० का है।

(2) प्रथम शताब्दी ई० पू० में किसी प्रसिद्ध राजवंश अथवा महापुरुष का मालव प्रान्त में पता नहीं।

(3) इस काल में कोई ऐसी क्रान्तिकारी घटना मालव प्रान्त में नहीं हुई, जिसके उपलक्ष में संवत् का प्रवर्तन हो सकता था।

उपर्युक्त खोजों से यह परिणाम निकाला गया है कि प्रथम शताब्दी ई० पू० में विक्रमादित्य नामक कोई शासक नहीं हुआ। तत्कालीन विक्रमादित्य कल्पना-प्रसूत है। संभवतः मालव-संवत् का प्रारम्भ ई० पू० प्रथम शताब्दी में हुआ था। पीछे से 'विक्रमादित्य' उपाधिधारी किसी राजा ने अपना विरुद इसके साथ जोड़ दिया। इस प्रकार संवत् के प्रवर्तक विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता बहुत से विद्वानों के मत में असिद्ध हो जाती है। इस प्रक्रिया का फल यह हुआ कि कतिपय प्राच्यविद्याविशारदों ने प्रथम शताब्दी ई० पू० के लगभग इतिहास में प्रसिद्ध राजाओं को विक्रम-संवत् का प्रवर्तक सिद्ध करने की चेष्टा प्रारम्भ की।

आनुमानिक मत

(1) फर्गुसन ने एक विचित्र मत का प्रतिपादन किया। उनका कथन है कि जिसको 57 ई० पू० में प्रारम्भ होने वाला विक्रम-संवत् कहते हैं, वह वा[illegible]ंव में 544 ई० प० में प्रचलित किया गया था। उज्जयिनी के राजा विक्र[illegible] ने

544 ई० में म्लेच्छों (शकों) को कोरूर के युद्ध में हराकर विजय के उपलक्ष्य में संवत् का प्रचार किया। इस संवत् को प्राचीन और आदरणीय बनाने के लिए इसका प्रारम्भ काल 6 × 100 (अथवा 10 × 60) = 600 वर्ष पीछे फेंक दिया गया। इस तरह 56 ई० पू० में प्रचलित विक्रम-संवत् से इसको अभिन्न मान लिया गया। किन्तु क्यों 600 वर्ष पहले इसका प्रारम्भ ढकेल दिया गया, इसका समाधान फर्गुसन के पास नहीं है। इसके अतिरिक्त 544 ई० प० के पूर्व के मालव-संवत् 529 (मन्दसौर प्रस्तर अभिलेख, फ्लीट : गुप्त उत्कीर्ण लेख सं० 18) तथा विक्रम-संवत् 430 (कावी अभिलेख, इण्डियन ऐण्टिक्वेरी वर्ष 1876, पृ० 152) के प्रयोग मिल जाने से फर्गुसन के मत का भवन ही धराशायी हो जाता है (फर्गुसन के मत के लिए देखिये, इण्डियन ऐण्टिक्वेरी वर्ष 1876, पृ० 182)।

(2) डॉ० फ्लीट का मत था कि 57 ई० पू० में प्रारम्भ होने वाले विक्रम-संवत् का प्रवर्तन कनिष्क के राज्यारोहण-काल से शुरू होता है (जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी, वर्ष 1907, पृ० 169)। अपने मत के समर्थन में उनकी दलील यह है कि कनिष्क भारतीय इतिहास का एक प्रसिद्ध विजयी राजा था। उसने अन्तर्राष्ट्रीय साम्राज्य की स्थापना की। बौद्ध धर्म के इतिहास में भी अशोक के बाद उसका स्थान था। ऐसे प्रतापी राजा का संवत् चलाना बिलकुल स्वाभाविक था। किन्तु यह मत डॉ० फ्लीट के अतिरिक्त और किसी विद्वान को मान्य नहीं है। प्रथम तो कनिष्क का समय ही अभी अनिश्चित है। दूसरे, एक विदेशी राजा के द्वारा देश के एक कोने से प्रवर्तित संवत् देश-व्यापी नहीं हो सकता था। तीसरे, यह बात प्रायः सिद्ध है कि कुषाणों ने काश्मीर तथा पंजाब में जिस संवत् का व्यवहार किया था, वह पूर्व प्रचलित सप्तर्षि-संवत् था, जिसमें सहस्र तथा शत के अंक लुप्त थे। यदि यह बात अमान्य भी समझी जाय तो भी कुषण-संवत् वंशगत था और कुषणों के बाद पश्चिमोत्तर भारत में इसका प्रचार नहीं मिलता।

(3) श्री वेंलडे गोपाल अय्यर ने अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारत का तिथिक्रम' (क्रोनोलॉजी आफ एजेण्ट इण्डिया, पृ० 175) में इस मत का प्रतिपादन किया है कि विक्रम-संवत् का प्रवर्त्तक सुराष्ट्र का महाक्षत्रप चष्टन था। विक्रम-संवत् में मालव-संवत् है। मन्दसौर प्रस्तर-लेख में स्पष्ट बतलाया गया है कि मालव जाति के संगठन-काल से इसका प्रचलन हुआ (मालवानां गणस्थित्या याते शत-चतुष्टये—फ्लीट : गुप्त उत्कीर्ण लेख, सं० 18)। कुषाणों द्वारा इस संवत् का प्रवर्त्तन नहीं हो सकता था। एक तो कनिष्क का समय विक्रमकालीन नहीं, दूसरे यह [illegible] सिद्ध नहीं कि उसका राज्य कभी मथुरा और बनारस के आगे भी फैला था। [illegible]पों के अतिरिक्त अन्य किसी दीर्घजीवी राजवंश का पता नहीं, जिसका

मालव-प्रान्त पर आधिपत्य रहा हो और जिसको संवत् का प्रवर्त्तक माना जा सके। जब हम इन बातों को ध्यान में रखते हुए रुद्रदामन के गिरनार के लेख में पढ़ते हैं कि 'सब वर्णों ने अपनी रक्षा के लिए उसको अपना अधिपति चुना था' (सर्व वर्णैरभिगम्य पतित्वे वृतेन—एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द 80, पृ० 47) तब हम यह बात स्वीकार करते हैं कि मालवा और गुजरात की सब जातियों ने उसको अपना राजा निर्वाचित किया था, जिस तरह कि इसके पूर्व उन्होंने रुद्रदामन के पिता जयदामन् और उसके पितामह चष्टन को चुना था। प्राचीन ग्रन्थ ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि 'पश्चिम के सभी राजाओं का अभिषेक स्वराज्य के लिए होता था और उनकी उपाधि स्वराट् होती थी।' इन स्वतन्त्र जातियों ने एकता में शक्ति का अनुभव करते हुए और आवश्यकता के सामने सिर झुकाते हुए अपने ऊपर विजयी चष्टन के आधिपत्य में अपने को एकत्र करके संगठित किया। यही महान् घटना, एक बड़े शासक के आधिपत्य में मालव जातियों का संगठन 57 ई० पू० में संवत् के प्रवर्त्तन से उपलक्षित हुई। तब से यह संवत् मालवा में प्रचलित है। चष्टन और रुद्रदामन् ने मालवा के पड़ोसी प्रान्तों में भी शासन किया, इसलिए संवत् का प्रचार विंध्यपर्वत के उत्तर के प्रदेशों में भी हो गया।

अय्यर महोदय का यह कथन कि विक्रम-संवत् वास्तव में मालव-संवत् है, स्वतः सिद्ध है। कनिष्क के विक्रम-संवत् के प्रवर्त्तक होने के विरोध में उनका तर्क भी युक्तिसंगत है। किन्तु कनिष्क से कहीं स्वल्प शक्तिशाली प्रान्तीय विदेशी क्षत्रप, जिसके साथ राष्ट्रीय जीवन का कोई अंग संलग्न नहीं था, संवत् के प्रवर्त्तन में कैसे कारण हो सकता था, यह बात समझ में नहीं आती। रुद्रदामन् के अभिलेख में सब वर्णों द्वारा राजा के चुनाव का उल्लेख केवल प्रशस्तिमात्र है। प्रत्येक शासक अपने अधिकार को प्रजासम्मत कहने की नीति का प्रयोग करता है। इसके अतिरिक्त रुद्रदामन् लोकप्रिय हो भी गया हो तो भी उसका यह गुण दो पीढ़ी पहले चष्टन में, संघर्ष की नवीनता तथा तीव्रता के कारण, नहीं आ सकता था। श्री अय्यर की यह युक्ति अत्यन्त उपहासनीय मालूम होती है कि मालवादि जातियों ने चष्टन के आधिपत्य में अपना संगठन किया और इसके उपलक्ष में संवत् का प्रवर्त्तन किया। राजनीति का यह साधारण नियम है कि कोई भी विदेशी शासक विजित जातियों को तुरन्त संगठित होने का अवसर नहीं देता। फिर अपने पराजय-काल से मालवों ने संवत् का प्रारम्भ किया हो, यह बात भी असाधारण मालूम पड़ती है।

(4) स्व० डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने जैन अनुश्रुतियों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि 'जैन-गाथाओं और लोकप्रिय कथाओं का विक्रमादित्य गौतमीपुत्र शातकर्णि था। प्रथम शताब्दी ई० पू० में मालवा में मालवगण वर्तमान

था, जैसाकि उसके प्राप्त सिक्कों से ज्ञात होता है। शातकर्णि और मालवगण की संयुक्त शक्ति ने शकों को पराजित किया। इसलिए शकों की पराजय में मुख्य भाग लेने वाले शातकर्णि 'विक्रमादित्य' के विरुद से विक्रम-संवत् का प्रवर्तन हुआ। मालवगण ने भी उसके साथ संधि के विशेष ठहराव (स्थति, आम्नाय) के अनुसार अपना इस समय संगठन किया और इसी समय से मालवगण-स्थितिकाल भी प्रारम्भ हुआ (जर्नल ऑफ बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, जिल्द 16 वर्ष 1930)।

उपर्युक्त कथन में मालव-सातवाहन-संघ का बनना तो स्वाभाविक जान पड़ता है (यदि इस समय साम्राज्यवादी सातवाहनों का अस्तित्व होता), किन्तु शातकर्णि विक्रमादित्य (?) के विजय से मालवगण गौरवान्वित हुआ और उसके साथ सन्धि करके मालव-संवत् का प्रवर्त्तन किया, यह बात बिलकुल काल्पनिक और असंगत है। इसके साथ ही यह ध्यान देने की बात है कि गौतमीपुत्र शातकर्णि ने न केवल शकों को हराया, किन्तु शक, छहरात, अवन्ति, आकरादि अनेक प्रान्तों पर अपना आधिपत्य स्थापित किया (नासिक उत्कीर्ण लेख, एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द 8, पृ० 60)। अतः उसके दिग्विजय की घटना मालवगण-स्थिति के काफी बाद ही जान पड़ती है। साहित्य और उत्कीर्ण लेख, किसी से भी इस बात का प्रमाण नहीं मिलता कि कभी किसी सातवाहन राजा ने 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की थी। सातवाहन राजाओं का तिथिक्रम अभी तक अनिश्चित है। अपने मतों को सिद्ध करने के लिए विद्वानों ने उसे घपले में डाल रखा है। किन्तु बहुसम्मत सिद्धान्त यह है कि काण्वों के पश्चात् साम्राज्यवादी सातवाहनों का प्रादुर्भाव प्रथम-शताब्दी ई० पू० के अपरार्द्ध में हुआ। इसलिए आन्ध्रवंश का तेईसवां राजा गौतमीपुत्र शातकर्णि प्रथम शताब्दी ई० पू० में नहीं रखा जा सकता। सातवाहन राजाओं के लेखों में जो तिथियां दी हुई हैं वे उनके राज्यवर्षों की हैं। उनमें विक्रम-संवत् या किसी अन्य क्रमबद्ध संवत् का उल्लेख नहीं है। जायसवाल के इस मत के सम्बन्ध में सबसे अधिक निर्णायक गाथासप्तशती का प्रमाण मिलता है। आन्ध्रवंश के सत्रहवें राजा हाल के समय में लिखित गाथासप्तशती विक्रमादित्य के अस्तित्व और यश से परिचित है, अतः इस वंश का तेईसवां राजा गौतमीपुत्र शातकर्णि तो किसी भी अवस्था में विक्रमादित्य नहीं हो सकता।

सीधा ऐतिहासिक प्रयत्न

इस तरह विक्रमादित्य के अनुसंधान में प्राच्यविद्याविशारदों ने अपनी उर्वर कल्पनाशक्ति का परिचय दिया है। किन्तु इस प्रकार के प्रयत्न से विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता की समस्या हल नहीं होती। यदि परम्परा के समुचित आदर के

साथ सीधी ऐतिहासिक खोज की जाय तो संवत्-प्रवर्त्तक विक्रमादित्य का पता सरलता से लग जाता है। वास्तविक विक्रमादित्य के लिए निम्नलिखित शर्तों का पूरा करना आवश्यक है—

(1) मालव प्रदेश और उज्जयिनी राजधानी;

(2) शकारि होना;

(3) 57 ई० पू० में संवत् का प्रवर्त्तक होना; और

(4) कालिदास का आश्रयदाता।

अनुशीलन

(1) यह बात अब ऐतिहासिक खोजों से सिद्ध हो गई है कि प्रारम्भ में मालव-प्रदेश में प्रचलित होने वाला संवत् मालवगण का संवत् था। सिकन्दर के भारतीय आक्रमण के समय मालव जाति पंजाब में रहती थी। मालव-क्षुद्रक-गण संघ ने सिकन्दर का विरोध किया था, किन्तु पारस्परिक फूट के कारण मालव-गण अकेला लड़कर यूनानियों से हार गया था। इसके पश्चात् मौर्यों के कठोर नियंत्रण से मालवजाति निष्प्रभ-सी हो गई थी। मौर्य-साम्राज्य के अन्तिम काल में जब पश्चिमोत्तर भारत पर बाख्त्रियों के आक्रमण प्रारम्भ हुए तब उत्तरापथ की मालवादि कई गण जातियां वहां से पूर्वी राजपूताने होते हुए मध्य-भारत पहुंचीं और वहां पर उन्होंने अपने नये उपनिवेश स्थापित किये। समुद्रगुप्त के प्रयाग-प्रशस्ति-लेख से सिद्ध होता है कि चौथी शताब्दी ई० पू० के पूर्वार्द्ध में उसके साम्राज्य की दक्षिण-पश्चिम सीमा पर कई गण-राष्ट्र वर्तमान थे, किन्तु इससे भी पहले प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई० पू० में मालवजाति अवन्ति-आकर (मालव-प्रान्त) में पहुंच गई थी, यह बात मुद्राशास्त्र से प्रमाणित है। यहां पर एक प्रकार के सिक्के मिले हैं, जिन पर ब्राह्मी अक्षरों में 'मालवानां जय:' लिखा है(इण्डियन म्यूजियम कॉइन्स, जिल्द 1, पृ० 162; कनिंघम ऑर्कआलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, जिल्द 60, पृ० 165-74)।

(2) ई० पू० प्रथम शताब्दी के मध्य में मगध-साम्राज्य का भग्नावशेष काण्वों की क्षीण शक्ति के रूप में पूर्वी भारत में बचा हुआ था। बाख्त्रियों के पश्चात् पश्चिमोत्तर भारत शकों द्वारा आक्रान्त होने लगा। शक जाति ने सिन्ध प्रान्त के रास्ते भारतवर्ष में प्रवेश किया। यहां से उसकी एक शाखा सुराष्ट्र होते हुए अवन्ति-आकर की ओर बढ़ने लगी। इस बढ़ाव में शकों का मध्य-भारत के गण-राष्ट्रों से संघर्ष होना बिलकुल स्वाभाविक था। बाहरी आक्रमण के समय गण जातियां संघ बनाकर लड़ती थीं। इस संघ का नेतृत्व मालवगण ने लिया और शकों को पीछे ढकेलकर सिन्ध-प्रान्त के छोर पर कर दिया। कालकाचार्य की

कथा में शकों को निमन्त्रण देना, अवन्ति के ऊपर उनका स्थायी आधिपत्य तथा अन्त में विक्रमादित्य द्वारा उनका निर्वासन आदि सभी घटनाओं का मेल इतिहास की उपर्युक्त धारा से बैठ जाता है।

(3) शकों को पराजित करने के कारण मालवगण मुख्य का शकारि एक विरुद हो गया। यद्यपि इस घटना से शकों का आतंक सदा के लिए दूर नहीं हुआ, तथापि यह एक क्रान्तिकारी घटना थी, और इसके फलस्वरूप लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक भारतवर्ष शकों के आधिपत्य से सुरक्षित रहा। इसलिए इस विजय के उपलक्ष में संवत् का प्रवर्त्तन हुआ और मालवगण के दृढ़ होने से इसका गण-नाम मालवगण-स्थिति या मालवगण-काल पड़ा।

(4) अब यह विचार करना है कि क्या मालवगण-मुख्य कालिदास के आश्रय-दाता हो सकते हैं या नहीं ? अभिज्ञान शाकुन्तल की कतिपय प्राचीन प्रतियों में नान्दी के अन्त में लिखा मिलता है कि इस नाटक का अभिनय विक्रमादित्य की परिषद् में हुआ था। (सूत्रधार—आर्ये, इयं हि रसभावविशेषदीक्षागुरोः विक्रमादित्यस्य अभिरूपभूयिष्ठा परिषत्, अस्यांच कालिदासप्रथितवस्तुना नवेन अभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नाटकेन उपस्थातव्यम् अस्माभिः, तत् प्रतिपात्रम् आधीयतां यत्नः। नान्द्यन्ते। —जीवानन्द विद्यासागर संकरण, कलकत्ता, 1914 ई०)। प्रायः अभी तक विक्रमादित्य एक तांत्रिक राजा ही समझे जाते रहे हैं, किन्तु काशी विश्व विद्यालय में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष पं० केशवप्रसाद मिश्र के पास सुरक्षित अभिज्ञानशाकुन्तल की एक हस्तलिखित प्रति (प्रतिलेखन काल—अगहन सुदी 5 संवत् 1699 वि०) ने विक्रमादित्य का गण से सम्बन्ध व्यक्त कर दिया है। इसके निम्नांकित अवतरण ध्यान देने योग्य हैं—

(अ) आर्ये, रसभावशेषदीक्षागुरोः श्री विक्रमादित्यस्य साहसांकस्याभिरूप-भूयिष्ठेयं परिषत्।
अस्यांच कालिदासप्रयुक्तेनाभिज्ञानशाकुन्तलनवेन नाटकेनोपस्थातव्यम-स्माभि। (नाद्यन्ते)

(आ) भवतु तव विडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु,
त्वमपि विततयज्ञो वज्रिणं भावयेथाः।
गणशतपरिवर्तैरेवमन्योन्यकृत्यै-
र्नियतमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः ॥ (भरतवाक्य)।

उपर्युक्त अवतरणों में मोटे टाइप में छपे पदों से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि जिस विक्रमादित्य का यहां निर्देश है, उनका व्यक्तिवाचक नाम विक्रमादित्य और उपाधि साहसांक है। भरतवाक्य का 'गण' शब्द राजनीतिक अर्थ में 'गण-राष्ट्र' का द्योतक है। 'शत' संख्या गोल और अतिरंजित है और 'गणशत' का अर्थ कई गणों का गण-संघ है। 'गण' शब्द के अर्थ की संगति अवतरण (अ) के

रेखांकित पद से बैठती है। विक्रमादित्य के साथ कोई राजतांत्रिक उपाधि नहीं लगी है। यदि यह अवतरण छन्दोबद्ध होता तो कहा जा सकता था कि छन्द की आवश्यकतावश उपाधियों का प्रयोग नहीं किया गया है, किन्तु गद्य में इसका अभाव कुछ विशेष अर्थ रखता है। निश्चय ही विक्रमादित्य सम्राट् या राजा नहीं थे, अपितु गणमुख्य थे। कौटिल्य के *अर्थशास्त्र* के अनुसार गणराष्ट्र कई प्रकार के थे—कुछ वार्ताशस्त्रोपजीवी, कुछ आयुधजीवी और कुछ राजशब्दोपजीवी। ऐसा जान पड़ता है कि मालवगण वार्ताशस्त्रोपजीवी था, इसलिए विक्रमादित्य के साथ राजा या अन्य किसी राजनीतिक उपाधि का व्यवहार नहीं हुआ है।

इन अवतरणों के सहारे यही निष्कर्ष निकलता है कि विक्रमादित्य मालव-गण मुख्य थे। उन्होंने शकों को उनके प्रथम बढ़ाव में पराजित करके इस क्रांति-कारी घटना के उपलक्ष में मालवगणस्थिति नामक संवत् का प्रवर्तन किया, जो आगे चलकर विक्रम्-संवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ। विक्रमादित्य स्वयं काव्यमर्मज्ञ तथा कालिदासादि कवियों और कलाकारों के आश्रयदाता थे।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि मालवगणस्थिति अथवा मालव-संवत् का विक्रम-संवत् नाम किस प्रकार से पड़ा? इसका समाधान यह है कि संवत् का नाम प्रारम्भ में गणपरक होना स्वाभाविक था, क्योंकि लोकतांत्रिक राष्ट्र में गण की प्रधानता होती है, व्यक्ति की नहीं। पांचवीं शताब्दी ई० पू० के पूर्वार्द्ध में चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने भारत में अन्तिम बार गणराष्ट्रों का संहार किया था। तब से गण-राष्ट्र भारतीय प्रजा के मानसिक क्षितिज से ओझल होने लगे थे और आठवीं-नौवीं शताब्दी ई० पू० तक, जबकि सारे देश में निरंकुश एकतंत्र की स्थापना हो गई थी, गणराष्ट्र की कल्पना भी विलीन हो गई। अतः मालव-गण का स्थान उसके प्रमुख व्यक्ति विशेष विक्रमादित्य ने ले लिया और संवत् के साथ उनका नाम जुट गया। साथ ही साथ मालवगण मुख्य विक्रमादित्य राजा विक्रमादित्य हो गये। राजनीतिक कल्पना की दुर्बलता का यह एकाकी उदाहरण नहीं है। आधुनिक ऐतिहासिक खोजों से अनभिज्ञ भारतीय प्रजा में कौन जानता है कि भगवान् श्रीकृष्ण और महात्मा बुद्ध के पिता गण-मुख्य थे। अर्वाचीन साहित्य तक में वे राजा करके ही माने जाते हैं। यह भी हो सकता है कि राज-शब्दोपयोगी गणमुख्यों की 'राजा' उपाधि; राजनैतिक भ्रम के युग में विक्रमादित्य को राजा बनाने में सहायक हुई हो।

प्रथम शताब्दी ई० पू० में विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता प्रमाणित करने के साथ यह भी आवश्यक जान पड़ता है कि उन स्थापनाओं का संक्षेप में विवेचन किया जाय, जिनके आधार पर कालिदास के साथ विक्रमादित्य को भी गुप्तकाल में घसीटा जाता है और 'विक्रमादित्य' उपाधिधारी गुप्त सम्राटों में से किसी

एक से अभिन्न सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है। वे स्थापनाएं निम्नलिखित विवेचनों पर अवलम्बित हैं—

(1) कुछ ऐतिहासिकों की धारणा है कि तथाकथित बौद्धकाल में वैदिक (हिन्दू) धर्म, संस्कृत और साहित्यसंकटापन्न हो गये थे। अतः ईसा के एक-दो शताब्दी आगे-पीछे संस्कृत काव्य का विकास नहीं हो सकता था। गुप्तों के आगमन के बाद हिन्दू-धर्म के पुनरुत्थान के साथ संस्कृत-साहित्य का भी पुनरुत्थान हुआ। तभी संस्कृत-साहित्य में कालिदास जैसे कुशल तथा परिष्कृत काव्यकार का होना संभव था। 'पुनरुत्थान' मत के मुख्य प्रवर्त्तक मैक्समूलर थे। पीछे की ऐतिहासिक खोजों से यह मत असिद्ध हो गया है (विस्तृत विवेचन के लिए देखिए, डॉ० जी० ब्यूलर, इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, वर्ष 1913)। 'बौद्ध-काल' में न तो वैदिक धर्म लुप्त हुआ था और न संस्कृत-साहित्य ही। गुप्तकाल के पहले ईसा की दूसरी शताब्दी में सुराष्ट्र के महाक्षत्रप रुद्रदामन के गिरनार अभिलेख में गद्यकाव्य का बड़ा ही सुन्दर उदाहरण मिलता है (···पर्जन्येनैकार्णवभूतायामिथ पृथिव्यां कृतायां······युगनिधनसदृशपरमघोरवेगेन वायुना प्रमथितसलिलविक्षिप्तजर्जरीकृताव······एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द 8, पृ० 47)। राजकीय व्यवहार का यह गद्यकाव्य अवश्य ही उस युग में वर्तमान पद्यकाव्य के अनुकरण पर लिखा गया होगा। ई० पू० शुंगकाल में रचित पातंजल महाभाष्य में उद्धृत उदाहरणों में काव्यों की शैली और छन्द पाये जाते हैं (कीलहार्न : महाभाष्य का संस्करण)। इसके अतिरिक्त रामायण तथा महाभारत जैसे महाकाव्यों के अधिकांश भाग ई० पू० के लिखे गये हैं। मनु तथा याज्ञवल्क्य स्मृतियां ईसा की पार्श्ववर्ती शताब्दियों में लिखी गई हैं। काव्य की उपर्युक्त धारा के प्रकाश में प्रथम शताब्दी ई० पू० में कालिदास के नाटकों और काव्यों की रचना बिलकुल असंभव नहीं जान पड़ती।

(2) कालिदास के काव्यों और बौद्ध पण्डित अश्वघोष के बुद्धचरित नामक काव्य में अत्यधिक साम्य है। कथानक की सृष्टि और विकास, वर्णन-शैली, अलंकारों का प्रयोग, छन्दों का चुनाव, शब्दविन्यासादि में दोनों कलाकारों में से एक-दूसरे से अत्यन्त प्रभावित है। इसका एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

रघुवंश	बुद्धचरित
ततस्तदालोकन तत्पराणां	ततः कुमारः खलु गच्छतीति
सौधेषु चामीकरजालवत्सु।	श्रुत्वा स्त्रियः प्रेष्यजनात्प्रवृत्तिम्॥
बभूवुरित्थं पुर सुन्दरीणां	दिदृक्षया हर्म्यतलानि जग्मुः
त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि॥७-५॥	जनेन मान्येन कृताभ्यनुज्ञाः॥३-१३॥

यह तो प्रायः सभी विद्वान् मानते हैं कि कालिदास की रचना दोनों में से

श्रेष्ठ है, किन्तु उनमें से कतिपय यह भी मान लेते हैं कि संस्कृत काव्य के विकास में अश्वघोष पहले हुए। कालिदास ने उनका अनुकरण कर अपनी शैली का विकास और परिमार्जन किया। अश्वघोष कुषाण सम्राट् कनिष्क के समकालीन थे, जिनका समय प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी ई० पू० है। इसलिए कालिदास का काल तीसरी शताब्दी के पश्चात् संभवतः गुप्तकाल में होना चाहिए (ई० बी० कावेल : अश्वघोष का बुद्धचरित, भूमिका)। विचार करने पर यह युक्ति-परम्परा बिलकुल असंगत मालूम पड़ती है। यह बात विदित है कि प्रारम्भिक बौद्ध-साहित्य पालि प्राकृत में लिखा गया था। पीछे संस्कृत-साहित्य के प्रभाव और उपयोगिता को स्वीकार कर बौद्ध लेखकों ने संस्कृत को अपने साहित्य और दर्शन का माध्यम बनाया। इसलिए संस्कृत की काव्यशैली के प्रचलित और परिष्कृत हो जाने पर उन्होंने उसका अनुकरण किया। अतः स्पष्ट है कि अश्वघोष ने कालिदास की शैली का अनुकरण किया। यदि उनकी कला अपेक्षाकृत हीन है, तो यह अनुकरण का दोष है। प्रायः अनुकरण करने वाले अपने आदर्श की समता नहीं कर पाते।

(3) कालिदास को पांचवीं या छठी शताब्दी ई० पू० में खींच लाने में एक प्रमाण यह भी दिया जाता है कि उनके ग्रन्थों में यवन, शक, पह्लव, हूणादि जातियों के नाम आते हैं। हूणों ने 500 ई० प० में भारतवर्ष पर आक्रमण शुरू किए अतः इनका उल्लेख करने वाले कालिदास का समय इनके पश्चात् होना चाहिए (लिटरेरी रिमेन्स ऑफ डॉ० भाउदाजी, पृ० 49), परन्तु ध्यान देने की बात तो यह है कि रघुवंश में हूणों अथवा अन्य जातियों का वर्णन विदेशी विजेता के रूप में नहीं आता। रघु ने अपने दिग्विजय में उनको भारत की सीमा के बाहर पराजित किया था। अतः कालिदास के समय में हूणों को भारत की पश्चिमोत्तर सीमा के पास कहीं होना चाहिए। चीन तथा मध्य एशिया के इतिहास से प्रमाणित हो गया है कि ई० पू० पहली या दूसरी शताब्दी में हूण पामीर के पूर्वोत्तर में आ चुके थे (गुल्ड्ज लॉक : चीन का इतिहास, जिल्द 1, पृ० 220)।

(4) ज्योतिष के बहुत से संकेत कालिदास के ग्रन्थों में आये हैं। कई एक विद्वानों का यह मत है कि कुषाण काल के बाद भारतीयों ने ज्योतिष के बहुत से सिद्धान्त यूनान और रोम से सीखे थे। इसलिए कालिदास का समय इनके काफी पीछे होना चाहिए। किन्तु इस बात के मानने वाले इस सत्य को भूल जाते हैं कि स्वयं यूनानियों ने कई शताब्दी ई० पू० में बैबिलोनिया के लोगों से ज्योतिष-शास्त्र सीखा था। (मैक्समूलर : इण्डिया, व्हाट कैन इट टीच अस ? पृ० 361)। भारतवर्ष चौथी-पांचवीं शताब्दी ई० पू० में पारसीक सम्पर्क में अच्छी तरह आ गया था। अतः वह बैबिलोनिया और चाल्डिया का ज्योतिष सीखे आसानी से

सीख सकता था (प्रो० एस० बी० दीक्षित : भारतीय ज्योतिष का प्राचीन इतिहास, पृ० 157)। ई० पू० रचित रामायण में ज्योतिष के सिद्धान्तों का काफी प्रयोग किया गया है (1-18-9-15;-2-15-3 आदि)।

(5) वराहमिहिर की तथाकथित समकालीनता से भी कालिदास का समय पांचवीं शताब्दी ई० पू० में निश्चित किया जाता है। ज्योतिर्विदाभरण में निम्नलिखित उल्लेख हैं—

धन्वंतरिःक्षपणकोमरसिंहशंकुवेतालभट्टघटखर्पर कालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानिवै वररुचिर्नव विक्रमस्य॥

इस अवतरण के सम्बन्ध में प्रथमतः यह कहना है कि इस अनुश्रुति का जिस ग्रन्थ में उल्लेख है वह कालिदास की रचना नहीं है। दूसरे, एक-दो को छोड़कर यहां जितने रत्न एकत्रित किए गये हैं, वे समकालीन नहीं। तीसरे, यह अनुश्रुति पीछे की ओर बिलकुल अकेली है, अन्यत्र कहीं भी इसकी चर्चा नहीं। अतः वराहमिहिर की कालिदास से समकालीनता कल्पनाजन्य मालूम होती है, जिस प्रकार से कि कालिदास और भवभूति के एक सभा में एकत्र होने की किंवदन्ती।

इस प्रकार कालिदास को गुप्तकालीन और इस कारण से विक्रमादित्य को गुप्त-सम्राट् सिद्ध करने की उक्तियां तर्कसिद्ध नहीं मालूम पड़ती हैं। विक्रमादित्य के गुप्त-सम्राट् होने के विरुद्ध निम्नलिखित कठोर आपत्तियां हैं—

(1) गुप्त-सम्राटों का अपना वंशगत संवत् है। उनके किसी भी उत्कीर्ण लेख में मालव अथवा विक्रम-संवत् का उल्लेख नहीं है। जब उन्होंने ही विक्रम-संवत् का प्रयोग नहीं किया तो पीछे से उनके गौरवास्त के बाद, जनता ने उनका सम्बन्ध विक्रम-संवत् से जोड़ दिया, यह बात समझ में नहीं आती।

(2) गुप्त-सम्राट् पाटलिपुत्रनाथ थे, किन्तु अनुश्रुतियों के विक्रमादित्य उज्जयिनीनाथ थे। यद्यपि उज्जयिनी गुप्तों की प्रान्तीय राजधानी थी, किन्तु वे प्रधानतः पाटलिपुत्राधीश्वर और मगधाधिप थे। मुगल-सम्राट् दिल्ली के अतिरिक्त आगरा, लाहौर और श्रीनगर में भी रहा करते थे। फिर भी वे दिल्लीश्वर ही कहलाते थे। इसके अतिरिक्त सोमदेवभट्ट ने अपने कथासरित्सागर में स्पष्टतः दो विक्रमादित्यों का उल्लेख किया है—एक उज्जयिनी के विक्रम तथा दूसरे पाटलिपुत्र के। उनके मन में इस सम्बन्ध में कोई भी भ्रम नहीं था।

(3) उज्जयिनी के विक्रम का नाम विक्रमादित्य था, उपनाम नहीं। कथासरित्सागर में लिखा है कि उसके पिता ने जन्मदिन को ही उनका नाम शिवजी के आदेशानुसार विक्रमादित्य रखा, अभिषेक के समय यह नाम अथवा विरुद के रूप में पीछे नहीं रखा गया। इसके विरुद्ध किसी गुप्त-सम्राट् का नाम विक्रमादित्य नहीं था। द्वितीय चन्द्रगुप्त तथा स्कन्दगुप्त के विरुद क्रमशः विक्रमादित्य और क्रमादित्य (कहीं-कहीं विक्रमादित्य) थे। समुद्रगुप्त ने तो कभी

यह उपाधि धारण नहीं की[1]। कुमारगुप्त की उपाधि महेन्द्रादित्य थी, नाम नहीं। उपाधि प्रचलित होने के लिए यह आवश्यक है कि उस नाम का कोई लोकप्रिय तथा लोकप्रसिद्ध व्यक्ति हुआ हो, जिसके अनुकरण पर पीछे के महत्त्वाकांक्षी लोग उस नाम की उपाधि धारण करें। रोम में 'सीजर' उपाधिधारी राजाओं के पहले सीजर नामक सम्राट् हुआ था। इसी प्रकार विक्रम उपाधिधारी गुप्त नरेशों से पूर्व विक्रमादित्य नामधारी शासक अवश्य ही हुआ होगा, और यह महापराक्रमी मालवगण मुख्य विक्रमादित्य साहसांक ही था।

1. इन्दौर राज्यान्तर्गत बमनाला ग्राम में प्राप्त 'पराक्रम' एवं 'श्री विक्रमः' उपाधि अंकित समुद्रगुप्त की मुद्राओं का अभी समुचित प्रचार न होने के कारण विद्वान् लेखक ने यह मत प्रकट किया है। —सं०

विक्रम-संवत्

□ डॉ० विश्वेश्वरनाथ रेउ

भारतवर्ष में विक्रमादित्य एक बड़ा प्रतापी राजा माना जाता है। इसके विषय में कहा जाता है कि यह मालवा का प्रतापी राजा था और शक (सीदियन) लोगों को हराने के कारण 'शकारि' के नाम से प्रसिद्ध हो गया था।

अपनी इस विजय की यादगार में इसने 'विक्रम-संवत्' के नाम से अपना संवत् प्रचलित किया था, जो आज तक बराबर चला आता है। यह राजा स्वयं विद्वान् और कवि था तथा इसकी सभा में अनेक प्रसिद्ध विद्वान् और कवि रहा करते थे। इसकी राजधानी उज्जैन नगरी थी। परन्तु डॉक्टर कीलहार्न की कल्पना के अनुयायी पाश्चात्य विद्वान् इस बात को स्वीकार करने में संकोच करते हैं। उनका कहना है कि विक्रमादित्य नाम का कोई राजा नहीं हुआ है और न उसका चलाया कोई संवत् ही है। आजकल जो संवत् विक्रम के नाम से प्रसिद्ध है, वह पहले 'मालव-संवत्' के नाम से प्रचलित था। और पहले-पहल विक्रम का नाम इस संवत् के साथ धौलपुर से मिले चौहान चण्डमहासेन के वि० सं० 898 (ई० सन् 841) के लेख में जुड़ा मिला है।[1] उसमें लिखा है—

'वसु नवअष्टौ वर्षागतस्य कालस्य विक्रमाख्यस्य'।

इससे पूर्व के जितने लेख और ताम्रपत्र इस संवत् के मिले हैं। उनमें इसका नाम 'विक्रम-संवत्' के बजाय 'मालव-संवत्' लिखा मिलता है। जैसे—

'श्रीर्मालवगणाम्नाते प्रशस्तेकृतसंज्ञिते
एकषष्ट्यधिके प्राप्ते समाशचतुष्टये[2]।'

अर्थात्—मालव-संवत 461 में।

'कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेष्वेकाशीत्युत्तरेष्वस्यां मालव पूर्वायां'[3]

---

1. इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, भाग 19, पृ० 35।
2. एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 12, पृ० 320।
3. यह लेख अजमेर के अजायबघर में रखा है।

अर्थात्—मालव-संवत् 481 में।

मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये त्रिनवत्यधिकेऽब्दानां'[1]

अर्थात्—मालव-संवत् 493 में।

'पञ्चसु शतेषु शरदां यातेष्वेकान्नवतिसहितेषु
मालवगणस्थितिवशात्कालज्ञानाय लिखितेषु।'[2]

अर्थात्—मालव-संवत् 589 में।

'संवत्सरशतैर्यातैः सपंचनवत्यर्गलैःसप्तभिर्म्मालवेशानां'[3]

अर्थात्—मालव-संवत् 795 बीतने पर।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थानों से मिले उपर्युक्त लेखों के अवतरणों से पाठकों को विदित हो जायगा कि उस समय तक यह संवत् विक्रम-संवत् के बजाय मालव-संवत् कहलाता था।

यद्यपि धिनिकी (काठियावाड़) से मिले 794 के दानपत्र में संवत् के साथ विक्रम का नाम जुड़ा मिला है, तथापि उसमें लिखा रविवार और सूर्यग्रहण एक ही दिन न मिलने से डॉक्टर फ्लीट और कीलहार्न उसे जाली बतलाते हैं।

कर्कोटक (जयपुर) से कुछ सिक्के मिले हैं। उन पर 'मालवानां जयः' पढ़ा गया है। विद्वान् लोग उन सिक्कों को ई० सन् पूर्व 250 से ई० सन् 250 के बीच का अनुमान करते हैं। इससे प्रकट होता है कि शायद मालव जातिवालों ने अपनी अवन्ति देश' की विजय की यादगार में ये सिक्के चलाये हों और उसी समय उक्त संवत् भी प्रचलित किया हो, तथा इन्हीं लोगों के अधिकार में आने से उक्त प्रदेश भी मालव देश कहलाया हो। इसी से समुद्रगुप्त के इलाहाबाद वाले लेख में अन्य जातियों के साथ-साथ मालव जाति के जीतने का भी उल्लेख मिलता है।

इन्हीं सब बातों के आधार पर डॉक्टर कीलहार्न ने कल्पना की है कि ईसवी सन् 544 में मालवे के प्रतापी राजा यशोधर्मन् (विष्णुवर्धन) ने करूर (मुलतान के पास) में हूण राजा मिहिरकुल को हराकर विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी और उसी समय प्रचलित मालव-संवत् का नाम बदलकर 'विक्रम-संवत्' कर दिया था तथा साथ ही इसमें 56 वर्ष जोड़कर इसे 600 वर्ष पुराना भी घोषित कर दिया था। परन्तु इस कल्पना का कोई आधार नहीं दिखाई देता, क्योंकि एक तो यशोधर्मन् के 'विक्रमादित्य' उपाधि ग्रहण करने का

1. कॉर्पस इन्सक्रिपशन इण्डिकेरं, भाग 3, पृ० 83 और 154।
2. इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, भाग 19, पृ० 59।
3. इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, भाग 12; पृ० 155

कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है; दूसरे, एक प्रतापी राजा का अपना निज का संवत् न चलाकर दूसरे के चलाये संवत् का नाम बदलना और साथ ही उसे 600 वर्ष पुराना सिद्ध करने की चेष्टा करना भी सम्भव प्रतीत नहीं होता। तीसरे, श्रीयुत सी० वी० वैद्य का कहना है कि डॉक्टर हार्नले और कीलहार्न का यह लिखना कि ई० सन् 544 में करूर में यशोधर्मन् ने मिहिरकुल को हराया था, ठीक नहीं है। उन्होंने इस विषय में अलबेरूनी के लेख से जो प्रमाण दिया है, उससे अनुमान होता है कि उक्त करूर का युद्ध 544 ईसवी के बहुत पहले ही हुआ था।

डॉक्टर फ्लीट राजा कनिष्क को विक्रम-संवत् का चलाने वाला मानते हैं, परन्तु यह भी उनका अनुमान ही है।

मि० स्मिथ और सर भाण्डारकर का अनुमान है कि उक्त मालव-संवत् का नाम बदलने वाला गुप्तवंशी राजा चन्द्रगुप्त द्वितीय था, जिसकी उपाधि 'विक्रमादित्य' थी। परन्तु यह अनुमान भी ठीक नहीं जंचता; क्योंकि एक तो जब उस समय गुप्तों का निज का चलाया संवत् विद्यमान था, तब उसे अपने पूर्वजों के संवत् को छोड़कर दूसरों के चलाये संवत् को अपनाने की क्या आवश्यकता थी। दूसरे, चन्द्रगुप्त द्वितीय के सौ वर्ष से भी अधिक बाद के ताम्रपत्रों में मालव-संवत् का उल्लेख मिलता है।

पुराणों में आन्ध्रवंशी नरेश हाल का नाम मिलता है। इसी हाल (सातवाहन) के समय 'गाथासप्तशती' नाम की पुस्तक बनी थी। इसकी भाषा प्राचीन मराठी है। इसके 65वें श्लोक में विक्रमादित्य की दानशीलता का उल्लेख इस प्रकार है—

संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खम्।
चलणेण विक्कमाइच्चचरिअमणुसिक्खिअं तिस्सा॥
(उक्त गाथा का संस्कृतानुवाद।)
संवाहन-सुखरसतोषितेन, ददता तव करे लक्षम्।
चरणेन विक्रमादित्यचरितमनुशिक्षितं तस्याः॥

मि० विंसैण्ट स्मिथ हाल का समय ईसवी सन् 68 (वि० सं० 125) अनुमान करते हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि उक्त समय के पहले ही विक्रमादित्य हो चुका था और उस समय भी कवियों में वह अपने दान के लिए प्रसिद्ध था।

यद्यपि कल्हण की 'राजतरंगिणी' में विक्रमादित्य उपाधि वाले दो राजाओं को आपस में मिला दिया है, तथापि उसमें के शकारि विक्रमादित्य से इसी विक्रमादित्य का तात्पर्य है। इसको प्रतापादित्य का सम्बन्धी लिखा है।

इसी प्रकार सातवाहन (हाल) के समय के महाकवि गुणाढ्य रचित पैशाची (काश्मीर की ओर की प्राकृत) भाषा के 'बृहत्कथा' नामक ग्रन्थ से भी उक्त समय

से पूर्व ही विक्रमादित्य का होना पाया जाता है। यद्यपि यह ग्रन्थ अब तक नहीं मिला है, तथापि सोमदेवभट्ट रचित इसके संस्कृतानुवादरूप 'कथासरित्सागर' (लंबक 6, तरंग 1) में उज्जैन के राजा विक्रमादित्य की कथा मिलती है।

ईसवी सन् से 150 वर्ष पूर्व उत्तर-पश्चिम से शक लोग भारत में आये थे। यहां पर उनकी दो शाखाओं का पता चलता है। एक शाखा के लोगों ने मथुरा में अपना अधिकार स्थापित किया और वहां पर वे 'सत्रप' नाम से प्रसिद्ध हुए। उनके सिक्कों से उनका ईसवी सन् से 100 वर्ष पूर्व तक पता चलता है। दूसरी शाखा के लोग काठियावाड़ की तरफ गये और वे पश्चिमी 'क्षत्रप' कहलाये। इन्हें चन्द्रगुप्त द्वितीय ने परास्त किया था। परन्तु इन शकों की पहली शाखा का, जो कि मथुरा की तरफ गई थी, ईसा के पूर्व की पहली शताब्दी के प्रारम्भ के बाद क्या हुआ, इसका कुछ भी पता नहीं चलता। सम्भवतः इन्हें ईसवी सन् से 58 वर्ष पूर्व के निकट इसी शकारि विक्रमादित्य ने हराया होगा और इसी घटना की यादगार में उसने अपना संवत् भी प्रचलित किया होगा।

पेशावर के पास तख्तेबाही नामक स्थान से पार्थियन राजा गुडूफर्स (गोण्डो-फरस) के समय का एक लेख मिला है। यह राजा भारत के उत्तर-पश्चिमांचल का स्वामी था। इस लेख में 103 का अंक है, पर संवत् का नाम नहीं है। डॉ० फ्लीट और मि० विन्सैण्ट स्मिथ ने इस 103 को विक्रम-संवत् सिद्ध किया है। ईसा की तीसरी शताब्दी में लिखी हुई यहूदियों की एक पुस्तक में राजा गुडूफर्स का नाम आया है। इससे प्रतीत होता है कि उस समय भी यह संवत् बहुत प्रसिद्ध हो चुका था और इसका प्रचार मालवा से पेशावर तक हो गया था। अतः विक्रमादित्य का इस समय से बहुत पहले होना स्वतः सिद्धः हो जाता है, परन्तु अभी तक यह विषय विवादास्पद ही है।

विक्रम-संवत् का प्रारम्भ कलियुग संवत् के 3044 वर्ष बाद हुआ था। इसमें से (56 या) 57 घटाने से इसवी सन् और 135 घटाने से शक्-संवत् आ जाता है। उत्तरी हिन्दुस्तान वाले इसका प्रारम्भ चैत्र शुक्ला 1 से और दक्षिणी हिन्दुस्तान वाले कार्तिक शुक्ला 1 से मानते हैं। अतः उत्तर में इस संवत् का प्रारम्भ दक्षिण से सात महीने पहले ही हो जाता है।

इसके महीनों में भी विभिन्नता है। उत्तरी भारत में महीनों का प्रारम्भ कृष्णपक्ष की 1 से और अन्त शुक्लपक्ष की 15 को होता है। परन्तु दक्षिण भारत में महीनों का प्रारम्भ शुक्लपक्ष की 1 से और अन्त कृष्णपक्ष की 30 को होता है। इसीलिए उत्तर में विक्रम-संवत् के महीने पूर्णिमान्त और दक्षिण में अमान्त कहलाते हैं। इससे यद्यपि उत्तर और दक्षिण में प्रत्येक मास का शुक्ल-पक्ष तो एक ही रहता है, तथापि उत्तरी भारत का कृष्णपक्ष दक्षिणी भारत के कृष्ण पक्ष से एक मास पूर्व होता है। अर्थात् जब उत्तरी भारत वालों का चैत्रकृष्ण

होता है तो दक्षिणी भारत वालों का फाल्गुनकृष्ण रहता है। परन्तु दक्षिणवालों का महीना शुक्लपक्ष की 1 से प्रारम्भ होने के कारण शुक्लपक्ष में दोनों का चैत्र शुक्ल हो जाता है।

पहले काठियावाड़, गुजरात और राजपूताने के कुछ भागों में इस संवत् का प्रारम्भ आषाढ़ शुक्ला 1 से भी माना जाता था, जैसाकि निम्नलिखित प्रमाणों से सिद्ध होता है—

अड़ालित (अहमदाबाद) से मिले लेख में लिखा है—

'श्रीमन्नृपविक्रमसमयातीत आषाढ़ादि संवत् 1555 वर्षे शाके 1420 माघमासे पंचम्यां।'

इसी प्रकार—डूंगरपुर के पास से मिले लेख में लिखा है—

'श्रीमन्नृपविक्रमार्कराज्यसमयातीत संवत् 16 आषाढ़ादि 23 वर्षे (1623) शाके 1488।'

इसके अतिरिक्त जोधपुर आदि में सेठ लोग इस संवत् का प्रारम्भ श्रावण कृष्णा 1 से मानते हैं।

संवत्-प्रादुर्भाव

□ आ० ने० उपाध्ये

अन्य साधनों की अपेक्षा, विक्रम-संवत् ने ही विक्रमादित्य का नाम आज तक जीवित रखा है। यह संवत् आजकल भारतवर्ष के अनेक भागों में प्रचलित है। जहां तक गुजरात और मध्य देश के जैन लेखकों का सम्बन्ध है, उन सबने अपनी प्रशस्तियों में किसी ग्रन्थ विशेष के निर्माण अथवा प्रतिलिपि की तिथि का उल्लेख करते हुए मुख्यतः इसी संवत् का उपयोग किया है। कभी-कभी वीरनिर्वाण-संवत् के निर्णय करने के सम्बन्ध में भी इसका उपयोग किया है; कुछ ग्रन्थकारों ने तो शक-काल और विक्रम-काल दोनों का ही उल्लेख किया है; और कुछ स्थानों पर तो 'विक्रम-शक' जैसे वाक्यांश का प्रयोग मिलता है। उक्त विस्तृत विवेचन में न पड़कर यहां कुछ सम्बन्धित एवं स्पष्ट उद्धरण दिये जाते हैं, जिनमें विक्रम-संवत् विक्रमादित्य की मृत्यु से प्रचलित हुआ, ऐसा कहा गया है।

(1) देवसेन जिसने अपना दर्शनसार धारा में संवत् 990 में समाप्त किया था (देखिये जैन हितैषी, भाग 13; भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टीच्यूट विवरण का भाग 15, खण्ड 3-4) कुछ जैन संघों के उत्पत्ति की तिथि निम्न प्रकार से देता है—

(1) एक्क-सए छत्तीसे विक्कम-रायस्स मरण-पत्तस्स।
सोरट्ठे वलहीए उप्पण्णो सेवड़ो संघो ॥ 11 ॥

(2) पंच-सए छत्तीसे विक्कम-रायस्स मरण-पत्तस्स।
दक्खिण-महुरा जादो दाविड़-संघो महा-मोहो ॥ 28 ॥

(3) सत्त-सए तेवण्णे विक्कम-रायस्स मरण-पत्तस्स।
णंदियड़े वरगामे कट्ठो संघो मुणेयव्वो ॥ 38 ॥

(2) वही लेखक अपने भावसंग्रह (माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, नं० 20 बम्बई संवत् 1978) में श्वेतपट संघ के जन्म का उल्लेख इस प्रकार करता है—

(1) छत्तीसे वरिस-सए विक्कम-रायस्स मरण-पत्तस्स।
सोरट्ठे उप्पण्णो सेवड़-संघो हु वलहीए ॥ 137 ॥

इसी छन्द का वामदेव (जो विक्रम-संवत् की 15वीं अथवा 16वीं शताब्दी के लगभग थे) ने अपने संस्कृत भावसंग्रह में आधार लेकर निम्नलिखित श्लोक लिखा है—

सषट्त्रिंशे शतेऽब्दानां मृते विक्रमराजनि ।
सौराष्ट्रे वलभीपुर्यामभूत्तत्कथ्यते मया ॥ 188 ॥

(3) अमितगति अपने सुभाषितरत्न सन्दोह (निर्णय-सागर-संस्करण) की निर्माण-तिथि इस प्रकार देता है—

समारूढे पूतत्रिदिशवर्सात ('वसतिविक्रम') विक्रम नृपे ।
सहस्रे वर्षाणां प्रभवति हि पञ्चाशदधिके ।
समाप्तं (समाप्ते) पञ्चम्यामवति धरणीं मुञ्जनृपतौ ।
सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम् ॥ 922 ॥

अपनी धर्मपरीक्षा में वह केवल इस प्रकार उल्लेख करता है—

संवत्सराणां विगते सहस्रे ससप्ततौ विक्रमपार्थिवस्य ।

(4) रत्ननन्दी अपने भद्रबाहु-चरित्र में इस प्रकार लिखता है—

मृते विक्रमभूपाले सप्तविंशतिसंयुते ।
दशपञ्चशतेऽब्दानामतीते शृणुतापरम् ॥ 157 ॥

देवसेन धारा में रहता था और अमितगति मुंज का समकालीन था । उपर्युक्त कथनों से सन्देहातीत रूप से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये ग्रन्थकार किसी गणना-विशेष का सहारा नहीं ले रहे थे, वरन् वास्तविक रूप से उनका विश्वास था कि विक्रम-संवत् उसी तिथि से प्रारम्भ हुआ जिस दिन अमितगति के शब्दों में विक्रम 'देवों के पूत निवास' को प्रस्थान कर गये ।

संवत् और संस्थापक

☐ जगनलाल गुप्त

आज संसार का पंचमांश विक्रम-संवत् के प्रवर्त्तक जिस महापुरुष की द्विसहस्राब्दी का उत्सव मना रहा है, उसी के अस्तित्व को योरप के विद्वानों ने (और स्कूल-कॉलेजों में पठन-पाठन के लिए इतिहास-पुस्तक लिखने वाले भारतीयों ने भी) शंकास्पद बना दिया है, यह केवल काल की विडम्बना है। विक्रम-संवत् का प्रचार भारतवर्ष के वणिक् समाज के द्वारा संसार के कोने-कोने में पाया जाता है, इसके लिए भारत का राष्ट्र सदैव उसका ऋणी रहेगा, क्योंकि विक्रम-संवत् की रक्षा करके उस अंग्रेजी से अनभिज्ञ, अर्ध-शिक्षित और गंवार समझे जाने वाले इस भारतीय वणिक् ने उन ग्रेज्युएटों से बढ़कर देश और राष्ट्र की सेवा की है जो सम्राट् विक्रमादित्य के अस्तित्व को शंकास्पद ही नहीं बना रहे, प्रत्युत उनके अस्तित्व को मिटा रहे हैं। चीन, अरब, अफ्रीका, योरप, जापान या अमेरिका, सब जगह भारतवर्ष के व्यापारी और ज्योतिषी सदैव विक्रम-संवत् का उपयोग करके अपना काम चलाते हैं, और भारतवर्ष भर में तो प्रत्येक हिन्दू ही इसका उपयोग करता है। अतः हमें कहना पड़ता है कि यदि इस संवत् का इतना अधिक प्रचार न होता तो कदाचित् इस संवत् के अस्तित्व को भी विवाद का विषय इन महानुभावों की कृपा से बनना पड़ता। तो भी यह प्रश्न तो उठाया ही जा रहा है कि इस संवत् का प्रचार अधिक पुराने समय से नहीं रहा है, एवं इसका सम्बन्ध विक्रमादित्य से नहीं है क्योंकि प्राचीन उल्लेखों में इसके साथ विक्रम का नाम उल्लिखित नहीं पाया जाता। दूसरी शंका यह है कि विक्रमादित्य नामक कोई सम्राट् उज्जयिनी में आज से दो सहस्र वर्ष पूर्व ऐसा नहीं हुआ जिसके द्वारा इस प्रचलित विक्रम-संवत् की स्थापना की गई हो।

प्रथम, हम विक्रम-संवत् के प्राचीनत्व पर विचार करेंगे। आईने-अकबरी के लेखक ने तो इस संवत् का उल्लेख किया ही है, किन्तु उससे भी पहले अब्रूरेहां ने इसका उल्लेख अपने यात्रा-विवरण में स्पष्ट रूप से किया है और इन दोनों विद्वानों ने विक्रमादित्य तथा उसकी विजय के साथ इसका सम्ब[illegible] बताया

है। किन्तु इससे भी पूर्व अनेक शिलालेखों में इस संवत् का प्रयोग किया गया है। विक्रमादित्य के नाम से इस संवत् का पुराना उल्लेख श्रीएकलिंगजी के शिलालेख में संवत् 1028 (सन् ईसवी 971) का प्राप्त होता है (जर्नल ऑफ बॉम्बे रॉयल एशियाटिक सोसायटी ब्रांच, भाग 22, पृ० 166), किन्तु इससे भी पूर्व धौलपुर के शिलालेख में विक्रम-काल के नाम से संवत् 898 (सन् 841) में इसका उल्लेख किया गया है—

वसुनवाष्टौ वर्षा गतस्य कालस्य विक्रमाख्यस्य।
वैशाखस्य सितायां रविवारयुतद्वितीयायां ॥

(Indian Antiquary, Vol 20, p. 406).

इससे पहले इस संवत् को 'मालवकाल' ग्यारसपुर के एक शिलालेख में कहा गया है—

मालवकालाच्छरदां षट्त्रिंशतसंयुतेष्वतीतेषु नवसु शतेषु ।

यह संवत् 936 (सन् 879 ई०) का उल्लेख है। 'मालवेश' के नाम से भी कहीं-कहीं इसे लिखा गया है, और इस मालवेश पद का अर्थ केवल विक्रमादित्य ही हो सकता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। यह उल्लेख मैनालगढ़ के शिलालेख में संवत् 1226 (सन् 1170 ई०) का है—

मालवेश गतवत्सरैः शतैः द्वादशैश्च षड्विंशपूर्वकैः॥

किन्तु इससे भी पूर्व इस संवत् का व्यवहार शिलालेखों में किया गया है और वहां इसका नाम 'मालवगण-संवत्' है। इस प्रकार के एक उल्लेख में मालवगणों को मालवेश भी (बहुवचन) कहा है—

पञ्चेसु शतेषु शरदां यातेष्वेकानवतिसहितेषु
मालवगणस्थितिवशात् कालज्ञानाय लिखितेषु ।
संवत्सरशतैर्यातैः सपञ्चनवत्यैर्गतैर्सप्तभिर्मालवानाम् ॥

यह संवत् 795 (सन् 729 ई०) का उल्लेख है। इससे भी पहले के उल्लेख ये हैं—

मालवानांगणस्थित्या यातेशतचतुष्टये
त्रिनवत्यधिकेऽब्दानमृतौ सेव्यघनस्तने ॥

संवत् 493 (सन् 436 ई०)।

श्रीमालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसंज्ञिते ।
एकषष्ट्यधिके प्राप्ते समाशतचतुष्टये ॥

यह संवत् 461=सन् 404 ई० का उल्लेख है। इसमें मालवगणों के साथ इसे कृत-संवत् भी कहा है। इससे अपेक्षाकृत पुराने लेखों में इसका नाम केवल 'कृत' ही मिलता है—

कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेऽष्टाविंशेषु फाल्गुणबहुलस्य पंचदश्यामेतस्यां पूर्वायां।

यह संवत् 428=372 ईसवी का उल्लेख है;

यातेषु चतुषु कृतेषु सौम्येष्वसित चोत्तरपदेषु 33 वत्सरेषु।
शुक्ले त्रयोदश दिने भुवि कार्तिकस्य मासस्य सर्वजनचित्तसुखावहस्य ॥

इसमें संवत् 400=सन् ई० 343 का उल्लेख भी 'कृत' नाम से ही किया गया है। इससे भी पूर्व—

कृतयोर्द्वयोर्वर्षशतयोर्द्व यशीतयोः।

संवत् 282=सन् 225 के नान्दसा-स्तंभ-लेख में शक्तिगुणगुरु के षष्ठिरात्रि यज्ञ का उल्लेख प्राप्त होता है और यहां भी इस संवत् का नाम 'कृत' ही दिया है।

ये सभी उद्धरण फ्लीट के 'गुप्त-इन्सक्रिप्शन्स' नाम ग्रन्थ से भिन्न-भिन्न विद्वान् लेखकों ने उद्धृत किये हैं। इस विवरण से यह स्पष्ट है कि विक्रमादित्य का नाम इस संवत् के साथ नवीं शती में लग चुका था, इससे पूर्व मालवेश कहे जाने वाले मालवगण इस संवत् के प्रवर्तक माने जाते थे। कालान्तर में गण-राज्य पद्धति सम्बन्धी बातें सर्व-साधारण की दृष्टि से लोप हो जाने पर 'माल-वेशानां गणानां' के स्थान में केवल मालवेश या विक्रम ही लिखा जाने लगा। किन्तु 'मालवगण' का जब उल्लेख किया जाता था तो साथ ही यह भी कहा जाता था कि मालव-गणों की स्थिति (कायमी, Establishment of the Malava-gans) से प्रारम्भ होने वाला संवत्। इसी ऐतिहासिक घटना के आधार पर इसे मालव-काल (मालव-युग, Malava Period) भी कहा गया था। किन्तु इन नामों से भी पुराना नाम कृत-संवत् है। हमारा विचार है कि इसे कृत न पढ़कर 'कृत्त' या 'कृत्य' पढ़ना अधिक उचित है। इस पर आगे लिखा जायगा।

यहां यह महत्त्वपूर्ण घटना भी स्मरण रखने योग्य है कि संवत् 386 और उसके पश्चात् इस संवत् का व्यवहार नेपाल जैसे एकान्त प्रान्त में भी यथेष्ट होने लगा था जैसा कि डॉ० भगवानलालजी इन्द्र ने नेपाल के शिलालेखों के सम्बन्ध में लिखते समय सिद्ध किया है। (Indian Antiquary, Vol XIII, pp. 424-26)

तो भी पाठकों को आश्चर्य होना संभव है कि इन प्राचीन उद्धरणों में जहां विक्रम के नाम का उल्लेख नहीं पाया जाता वहां विक्रम के शकारि होने एवं शकों की पराजय के सम्बन्ध में इस संवत् के प्रारम्भ होने का संकेत भी कहीं नहीं है। किन्तु चाहे यहां शकों का स्पष्ट उल्लेख न भी किया गया हो तो भी मालव-गण स्थिति शब्दों का ठीक अर्थ यही है कि मालवगणों की सत्ता आरम्भ होने का संवत्। मालवों ने अपनी सत्ता किस प्रकार स्थापित की, यह

इतिहास से स्पष्ट होने की बात है। इस नाम से पुराना नाम 'कृत' है जिसे हम 'कृत' या 'कृत्य' पढ़ना उचित समझने हैं। 'कृत' शब्द का अर्थ 'कत्ल', 'वध' या 'शत्रु का नाश' है। राजनीति में शत्रु-वध के लिए कृत्या (स्त्रीलिंग) शब्द प्राचीन ग्रन्थों में सर्वत्र व्यवहृत किया गया है, उसी का रूप 'कृत्य' और 'कृत' हो सकता है। जो विद्वान् इस पद को कृत्ययुग या सत्ययुग के अर्थ में पढ़ते हैं, वे कदाचित् यह भूल जाते हैं कि युगवाचक शब्द 'कृत्' है 'कृत' नहीं, फिर इस भ्रम का एक परिणाम या कुपरिणाम यह होता है कि इस शब्द के आधार पर इसके संस्थापक को अश्वमेध आदि वैदिक कृत्यों का प्रवर्तक मानकर जैनों और बौद्धों का द्रोही सिद्ध करने के लिए पुष्यमित्र को विक्रमादित्य सिद्ध करना पड़ता है। सत्य बात तो यह है कि भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास में साम्प्रदायिक उत्पीड़न अथवा धार्मिक मतभेद या दार्शनिक सिद्धान्तों की विभिन्नता के आधार पर रक्तपात की बात नितान्त अश्रुत थी। भारतवर्ष की संस्कृति इस सम्बन्ध में अत्यन्त उच्च एवं सहिष्णु रही है। यदि यहां विचारों की स्वतंत्रता की रक्षा विद्वानों ने न की होती, ज़ो एक प्रकार से उनके लिए वैयक्तिक प्रश्न भी था, तो यहां अनेक प्रकार के दर्शनों का प्रादुर्भाव कैसे सम्भव होता? ज्योतिषशास्त्र सम्बन्धी अनेक सिद्धान्त-ग्रन्थ कैसे निर्माण हो सकते थे? तंत्रवाद, द्वैतवाद, अद्वैतवाद, कर्मवाद, ज्ञानवाद, निराकार वाद, साकारवाद आदि अगणित वादों की सृष्टि कैसे होती? संक्षेप में भारतवर्ष के विषय में 'नैको मुनिर्यस्य मतिर्न भिन्नः' जैसी लोकोक्ति का जन्म कदापि नहीं हो सकता था। साम्प्रदायिक उत्पीड़न की उपस्थिति में बौद्ध और जैन धर्म के आचार्यों और संस्थापकों को पुराणों में अवतार और महापुरुष के रूप में उल्लिखित क्यों किया जाता? महात्मा बुद्ध को पुराणों में विष्णु का अवतार कहा है और भागवत में ऋषभदेव का सविस्तार इतिहास लिखा गया है। फलतः विक्रम-संवत् की स्थापना भी धर्म के नाम पर किये गये रक्तपात पर करने का विचार नितान्त अ-भारतीय, भारतीय सभ्यता और संस्कृति के विरुद्ध है। पुष्यमित्र की ही बात लीजिए। कुछ बौद्ध लेखों के आधार पर, जो विदेशी बौद्धों ने राजनीतिक हेतुओं से उसी प्रकार प्रेरित होकर लिखे हैं, जैसे आजकल के विदेशी विद्वान् लिखते रहते हैं, पुष्यमित्र के विषय में कहा जाता है कि इसने जैन और बौद्धों का दमन बड़ी निर्दयता से किया था एवं इनके मठों को सम्पूर्ण भारतवर्ष में जलाकर नष्ट कर डाला था। इसने वैदिक धर्म की पुनः स्थापना करके फिर से वैदिक युग ला दिया था, इसीलिए इस कृतयुग या कृत-संवत् की सृष्टि की गई थी। किन्तु तनिक विचारने से ही यह स्पष्ट हो सकेगा कि पुष्यमित्र के सम्बन्ध में पुराणकारों तथा अन्य भारतीय प्राचीन विद्वानों ने कभी ऐसी धारणा नहीं बनाई। कम से कम उसे धर्म के रक्षक एवं विधर्मियों के नष्ट करने वाले के रूप में भारत के विद्वत्समाज ने कभी भी

उल्लिखित नहीं किया। वह उसे ऐसा जानते, मानते और समझते ही नहीं थे। इसके लिए यहां एक प्रमाण देना ही बस होगा। हर्षचरित के प्रसिद्ध विद्वान् लेखक गद्य के आचार्य बाण से हमारे विज्ञ पाठक परिचित हैं। जिस कट्टर शैव कुल में इस सारस्वत का जन्म हुआ था, यहां पुत्रों के नाम तक 'अच्युत' 'ईशान' 'हर' और 'पाशुपत' जैसे सम्प्रदाय-भावपूर्ण रखे जाते थे। 'कृतोपनयनादि-क्रिया-कलाप' बाण के पिता चित्रभानु के एक भाई का नाम त्र्यक्ष था। महाराज हर्ष का निमंत्रण-पत्र पाकर 'कृतसंध्योपासनः' बाण ने उस पर विचार किया था और 'भगवान् पुराराति' में दृढ़ भक्तिपूर्वक विश्वास करके उसने हर्ष के दरबार में जाना निश्चय किया था। 'गृहीताक्षमाल' बाण 'देवदेवस्य विरूपाक्षस्य क्षीरस्नपनपुरःसरां' पूजा करके राजद्वार पर पहुंचा। कहने का अभिप्राय यह है कि बाण साम्प्रदायिक दृष्टि से कट्टर शैव था और उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि वह किसी जैन या बौद्ध धर्म के उत्पीड़क वैदिक सम्राट् के लिए कोई निन्दापूर्ण वाक्य लिखेगा। प्रत्युत् उससे तो यही आशा है कि वह पुष्यमित्र जैसे वैदिकयज्ञ-यागों के पुनः प्रचलित करने वाले सम्राटों का प्रशंसापूर्वक अभिनन्दन ही करेगा। वही क्या, जैन और बौद्ध विद्वानों को छोड़कर ऐसे सम्राटों की प्रशंसा तो प्रत्येक विद्वान् के द्वारा साधारणतः होनी चाहिए। किन्तु हम देखते हैं कि बाण ने ही पुष्यमित्र को अनार्य तक लिखा है और वह उसी कार्य के लिए जो उसने वैदिक धर्म के उद्धार के लिए किया था—उसने जैन या बौद्ध मौर्य महाराज बृहद्रथ को मारकर मगध का सिंहासन स्वयं हस्तगत करके ही तो, योरोपियन विद्वानों के कथनानुसार, बौद्ध-धर्म का नाश एवं वैदिक धर्म का पुनरुत्थान किया था, इसी पर बाण ने लिखा है—

प्रतिज्ञादुर्बलञ्च बलदर्शनव्यपदेशदर्शिताशेषसैन्यः सेनानीरनार्यो मौर्यंबृहद्रथं पिपेश पुष्यमित्रः स्वामिनम्।

अभिप्राय यह है कि भारतवर्ष के ऐतिहासिक विद्वानों की दृष्टि में साम्प्रदायिक उत्पीड़क नरेशों का न कभी कुछ मान था और न यह कार्य प्रतिष्ठा-जनक समझा जाता था। फलतः सेनापति पुष्यमित्र (जो अग्निमित्र का पिता एवं मौर्यवंश का अन्तक था) भी न तो साम्प्रदायिक अत्याचार करने वाला सम्राट् था और न उसको इस कार्य के लिए भारतवर्ष में कोई सार्वजनिक सम्मान प्राप्त हो सकता था, फिर नये संवत् की स्थापना का स्वागत तो इस प्रकार के रक्त-पात के उपलक्ष्य में भारतवासी कब स्वीकार कर सकते थे।

'मालवगणस्थित्यब्द' के साथ आरम्भ से ही मालवेश विक्रमादित्य के नाम का सम्बन्ध न होने का एक कारण कदाचित् यह भी है कि मालवा की राज्य-

शासन-प्रणाली गण-शासन पद्धति थी जो एक प्रकार की प्रजातंत्र या प्रतिनिधि-तंत्र की प्रणाली थी। ऐसी सामूहिक राज्य-प्रणाली में किसी विशेष सार्वजनिक राज-कार्य जैसे जय-पराजय, संधिविग्रह का यश किसी एक व्यक्ति को देने में संघ में फूट पड़ने का भय बना रहता है। महाभारत, शान्तिपर्व के 81वें अध्याय में इस फूट पड़ने के भय को लेकर, तथा संघ-शासन की कठिनताओं पर बहुत स्पष्ट रूप से भगवान् कृष्ण के द्वारा ही कहलाया गया है। उन्हीं कठिनताओं को विचार कर मालवगण की विजय के उपलक्ष्य में स्थापित संवत् के यश को संघ ही मूलतः प्राप्त कर सकता था। केवल संघपति, फिर चाहे वह विक्रम हो अथवा कोई और हो, नहीं अपना सकता था। यह भी हो सकता है कि संघपति ने स्वयं फूट पड़ने की आशंका से उस यश को संघ के ही अर्पण कर दिया हो और इस प्रकार संघपति विक्रम की उदारता से वह संवत् मालव-गण-संघ के नाम से ही प्रसिद्ध किया गया हो। किन्तु शकों का पराभव एक अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण घटना थी, इस महान् कृत्य या कृत्या के वीर सेनापति का नाम किसी प्रकार भी नहीं भुलाया जा सकता था, अतः इतिहास ने शकों के इस कृत्य के करने वाले (जिसे अलंकार की भाषा में युद्ध-यज्ञ का होता कहना उचित होगा) सेनापति विक्रम का नाम विशेष रूप से याद रखा, वह श्रुति और उपश्रुति तथा व्याख्यानादि के द्वारा सर्वसाधारण में क्रमानुगत प्रसिद्ध होता चला गया, और जब गण-शासन सम्बन्धी बातें भूल गईं तो संवत् के इतिहास को स्पष्ट रखने के लिए उसके साथ सेनापति या संघपति का नाम मिला दिया गया।

किन्तु प्रश्न तो यह है कि क्या वस्तुतः प्राचीनकाल में कोई विक्रम नामक व्यक्ति संवत् का संस्थापक हुआ भी था और यदि ऐसा व्यक्ति कोई हुआ था तो कब? इस पर हमारा नम्र निवेदन है कि यदि कोई व्यक्ति हुआ ही नहीं था तो फिर यह नाम आ कहां से गया? विक्रम को स्पष्ट रूप से 'शकारि' कहा जाता है, जिसका अर्थ यही है कि संवत्कार विक्रम ने शकों का घोर पराभव किया था। मालवगण ने किस व्यक्ति की अधिनायकता में शकों का यह सर्वनाश किया था; अन्ततः कोई व्यक्ति तो उनका मुख्य नायक या सेनापति रहा होगा। बिना सेनापति के युद्ध चल ही किस प्रकार सकता था। बस जो भी व्यक्ति शकों के विरुद्ध अभियान करने में मालवगण-राष्ट्र का अधिनायक था, वही विक्रम था।

किन्तु प्राचीन लेखों में भी विक्रम-संवत्कार के नाम का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। बृहत्कथामंजरी में इस विक्रम की दिग्विजय का विवरण इस प्रकार दिया गया है—

ततो विजित्य समरे कलिंगनृपतिं विभुः।
राजा श्रीविक्रमादित्यः स्त्रीप्रायः विजयश्रियम्।

अथ श्री विक्रमादित्यो हेलया निर्जिताखिलः।
म्लेच्छान् काम्बोजयवनान् नीचान् हूणान् सबर्बरान्।
तुषारान् पारसीकांश्च त्यक्ताचारान् विशृंखलान्।
हत्वाभ्रूभंगमात्रेण भुवो भारमवारयत्।
तं प्राह भगवान् विष्णुस्त्वं ममांशो महीपते।
जातोसि विक्रमादित्य पुरा म्लेच्छशशांकतः।

यहां विक्रमादित्य को इसकी शूरवीरता के कारण विष्णु का अंशावतार तक कहा गया है।

बृहत्कथामंजरी का मूल आधार गुणाढ्य का पैशाची भाषा का ग्रन्थ बृहत्कथा रहा था। गुणाढ्य प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन के आश्रित और समकालीन थे—

ततः स मर्त्यवपुषा माल्यवान् विचरन् वने।
नाम्ना गुणाढ्यः सेवित्वा सातवाहनभूपतिम्॥ (कथासरित्सागर।)

इसका अर्थ यह है कि गुणाढ्य विक्रम-संवत् के थोड़े समय पश्चात् ही हुए थे, इसीलिए कथासरित्सागर के सम्पादक विद्वद्वर श्री दुर्गाप्रसाद शास्त्री ने इस विद्वान् का समय 78 ई० के आसपास स्वीकार किया है। इसी गुणाढ्य के पैशाची भाषा के मूलग्रन्थ बृहत्कथा को लेकर संस्कृत में दो ग्रन्थ लिखे गये थे—(1)बृहत्कथामंजरी, और (2) कथासरित्सागर। कथासरित्सागर से ज्ञात होता है कि विक्रमादित्य के अनुकरण पर आंध्र सम्राट् कुन्तल सातकर्णि ने भी दिग्विजय की एवं उसी के अनुकरण पर अपना विरुद विक्रम रखकर शालिवाहन का प्रसिद्ध शक-संवत् चलाया था। अपने नाम की पृथकता प्रकट करने के लिए उसने अपने विरुद के साथ विषमशील (क्रोधी या असहिष्णु) और जोड़ा था। यह शालिवाहन 16वें आंध्र नरेश महेन्द्र-मृगेन्द्र सातकर्णि का पुत्र था जिसे भागवत में शिवस्वस्ति एवं ब्रह्माण्ड पुराण में मृगेन्द्र स्वातिकर्ण लिखा है। पार्जीटर की सूची में इसे 12वीं संख्या पर उल्लिखित किया है और यूनानियों द्वारा इसका नाम माम्बरस सरगनस (Mambaras Saraganas Senior) लिखा गया है। कुन्तल सातकर्णि भागवत का गौतमीपुत्र पार्जीटर की सूची में 13वां आंध्र नरेश है, किन्तु पुराणों की सूची में इसका क्रम 17वां है और यूनानियों ने इसे युवक सरगनस (Junior Saraganas) लिखा है। शालिवाहन शकाब्द का संस्थापक यही कुन्तल सातकर्णि है, जिसके विषय में कथासरित्सागर में लिखा है—

नाम्ना तं विक्रमादित्यं हरोक्तेनाकरोत्पिता।
तथा विषमशीलं च महेन्द्रादित्यभूपतिः॥

इसके पिता ने शिव के कहने से इस पुत्र का नाम विक्रम भी रखा था। इसने—

सापरान्तच्छदेवेन निर्जितो दक्षिणापथः।
मध्यदेशः ससौराष्ट्रः सबंगांगा च पूर्वदिक्।
सकश्मीरा च कौवेरी काष्ठा च करदीकृता।
तानितान्यपि च दुर्गाणि द्वीपानि विजितानि च।
म्लेच्छसंघाश्च निहिताः शेषाश्च स्थापितावशे।
ते ते विक्रमशक्तेश्च प्रविष्टाः कटके नृपाः।

दिग्विजय के पश्चात् राजधानी को लौटने पर सम्राट् कुन्तल सातकर्णि विषमशील विक्रमादित्य का जिस प्रकार स्वागत किया गया था, उसका भी कुछ वर्णन देखिए—

जय विजितसकलपार्थिव विनत शिरोधारि तात गुर्वाज्ञ।
जय विषमशील विक्रमवारिनिधे विक्रमादित्य।
जय जय तेजःसाधितभूतगणम्लेच्छविपिनदावाग्ने।
जय देव सप्तसागरसीम्यमही मानिनीनाथ।

इस शालिवाहन शकाब्द के संस्थापक के विषय में यह ऐतिहासिक तत्त्व सदैव स्मरण रखने योग्य है कि इस महान् विजेता ने भी विक्रम-संवत् के संस्थापक की नाईं शकों का पराभव किया था और उसी की स्मृति में यह शकाब्द भी विक्रमाब्द से 135 वर्ष पश्चात् चलाया गया था। इसके शकों से युद्ध करने का वृत्तान्त जैन ग्रन्थों से जिस प्रकार ज्ञात होता है, उसे यहां विस्तार में न देकर उस सम्बन्ध के मूल-वाक्यों को ही उद्धृत किया जाता है—

भरुकच्छपुरेऽत्रासीद् भूपतिर्नरवाहनः।
ससमृद्धात्मकोषस्य श्रीमदप्यवमन्यते ॥ 1 ॥

इतः प्रातिष्ठानपुरे पार्थिवः शालिवाहनः।
बलेनापि समृद्धः स रुरोध नरवाहनम् ॥ 2 ॥

आनयत्परिशीर्षाणि यस्तस्याऽऽदान्महाधिकः।
लक्षं विलक्षं तत्तस्य नित्यं घ्नन्ति तद्भटाः ॥ 3 ॥

हा तस्यापि भटाः केप्यानिन्युः सोदाम्नकिञ्चन।
सोऽथ क्षीणजनो नष्ट्वा पुनरेति समान्तरे ॥ 4 ॥

पुनर्नष्ट्वा तथैवेति नाभूद् तद्ग्रहणक्षमः।
अथैके मायया हालं सचिवो निरवास्यत ॥ 5 ॥

स परम्परयाज्ञासीद् भरुकच्छनराधिपः।
अपास्तोऽल्पापराधोऽपि निजामात्यस्ततः कृतः ॥ 6 ॥

ज्ञात्वा विश्वस्तं सोऽवक्तं राज्यं प्रायेण लभ्यते।
तदन्यस्य भवस्यार्थे पाथेयं कुरु पार्थिव ॥ 7 ॥
धर्मस्थानविधानाद्यं द्रव्यप्रायाय तत्ततः।
आगान्मन्त्रिगिरा हालः पार्थिवोऽथाह मन्त्रिणं ॥ 8 ॥
मिलितोऽसि किमस्य त्वं सोऽवदन्नमिलाम्यहम्।
अथान्तःपुरभूषादि द्रविणैस्तं तदाक्षिपत् ॥ 9 ॥
हालेऽथ पुनरायाते निर्द्रव्यत्वान्ननाश सः।
नगरं जगृहे हालो द्रव्यप्रणधिरेषिका ॥ 10 ॥

य श्लोक जिनमें शक नरेश नरवाहन या नहपान की पराजय का वृत्तान्त दिया है, श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के आवश्यक सूत्र के उत्तरार्द्ध की 1304वीं गाथा के भाष्य में भद्रबाहु ने नियुक्ति भाष्य में लिखे हैं, जिस पर हरिभद्रसूरि की वृत्ति भी है।

शकों को हराकर विक्रम या विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने की प्रथा ही, जान पड़ता है, भारतवर्ष में पड़ गई थी, इसी से विक्रमादित्य के शकारि नाम होने का भी विशेष महत्त्व प्रतीत होता है। ऊपर किस प्रकार शालिवाहन ने शकों को परास्त करके विक्रमादित्य की उपाधि ग्रहण की, यह प्रमाणित किया गया है। इसके पश्चात् इतिहास में गुप्तवंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त प्रथम ने इस उपाधि को ग्रहण किया था, ऐसी सम्भावना अनेक ऐतिहासिक विद्वान् करते हैं, किन्तु स्मिथ इसे विश्वसनीय स्वीकार नहीं करते (The Early History of India, p. 347)। चन्द्रगुप्त प्रथम के उपलब्ध सिक्कों से भी उसके विक्रम-पद ग्रहण करने की घटना सिद्ध नहीं होती। उसने शकों पर कोई विजय भी प्राप्त नहीं की थी। उसके पश्चात् समुद्रगुप्त महान् के पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय ने विक्रमादित्य का पद ग्रहण किया था। एक प्रकार के उसके सिक्कों पर लिखा मिलता है, 'श्रीविक्रमः' और इस लेख के बाईं ओर लक्ष्मी की बैठी मूर्ति है; दूसरी ओर इस सोने के सिक्के पर 'देवश्री-महाराजाधिराज-श्रीचन्द्रगुप्तः' अंकित है। एक और प्रकार के सिक्कों पर एक ओर 'देवश्री-श्री चन्द्रगुप्तस्य विक्रमादित्यस्य' भी लिखा पाया जाता है। चन्द्रगुप्त के एक प्रकार के सिक्के अग्निकुण्ड के सामने खड़े हुए राजा की मूर्ति वाले हैं, जिनके दूसरी ओर पद्म पर खड़ी लक्ष्मी की मूर्ति है। इस मूर्ति के दाहिनी ओर 'विक्रमादित्यः' लिखा है। ऐसे प्रकार के सिक्कों में से कुछ पर तो—

'क्षितिमवजित्यसुचरितैर्दिवं जयति विक्रमादित्यः।'

उपगीति छन्द भी लिखा पाया जाता है। इससे भी अधिक सिंह को मारते हुए राजा के भी चन्द्रगुप्त के कुछ सिक्के हैं, जिन पर एक ओर सिंह पर बैठी

अम्बिका देवी की मूर्ति है, और दूसरी ओर तीरकमान से सिंह को मारते हुए राजा की मूर्ति। राजमूर्ति की ओर वंशस्थ छन्द में राजा को 'भुविसिंह-विक्रम' लिखा है—

'नरेन्द्रचन्द्रप्रथित (गुण) दिवं जयत्यजेयो भुविसिंहविक्रमः।'

और दूसरी ओर 'सिंहविक्रमः' ही लिखा है। एक प्रकार के सिक्कों पर राजा की उपाधि 'श्रीसिंह-विक्रमः' है, और एक और प्रकार के सिक्कों पर 'अजित-विक्रमः'। इस प्रकार की कोई साक्षी चन्द्रगुप्त प्रथम के सम्बन्ध में प्राप्त नहीं होती। इसलिए यही कहना पड़ता है कि प्रथम चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में विक्रमा-दित्य-पदवी ग्रहण करने की कल्पना ऐतिहासिक आधार से रहित है, और द्वितीय चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में निस्सन्देह कहा जा सकता है कि उसने यह पद धारण किया था। किन्तु उसने शकों को भी पराजित किया था, तब ही उसने यह पद ग्रहण किया था। स्मिथ ने अपने इतिहास के पृ० 307 पर लिखा है—

'The greatest military achievment of Chandrgupta Vikrama-ditya was his advance to the Arabian Sea through Malwa and Gujrat and his subjugation of the peninsula of Saurashtra or Kathiawar, which had been ruled for centuries by the Saka dynasty, of foreign origin, known to European scholars as the western Satraps.'

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का उत्तराधिकारी कुमारगुप्त प्रथम था और इसके शासनकाल में हूण लोगों के आक्रमण फिर भारत पर होने लगे थे। भारतवर्ष के इतिहास में इनको भी शकों के साथ गिना गया है और कुमारगुप्त ने अवश्य इन्हें मारकर भगाया था, तब ही उसने भी 'विक्रम' पद ग्रहण किया था, क्योंकि उसके कुछ सिक्कों पर वंशस्थ छन्द में 'कुमारगुप्तो युधि सिंहविक्रमः' लिखा पाया जाता है। कुछ सिक्कों पर तो 'कुमारगुप्तो युधिसिंह विक्रमः' ही लिखा है। एक प्रकार के सिक्कों पर 'श्रीमान् व्याघ्रबलपराक्रमः' भी लिखा है। किन्तु इसके पुत्र स्कन्दगुप्त ने तो इन हूणों को बड़ी करारी पराजय दी थी जिसके कारण बहुत समय तक इन्होंने भारत की ओर मुंह नहीं किया था और इसीलिए स्कन्दगुप्त ने भी विक्रमादित्य की पदवी स्वीकार की थी (स्मिथ का इतिहास पृ० 326) 'महाराजाधिराज प्रथम कुमारगुप्त के मृत्यु के उपरान्त उनका बड़ा बेटा स्कन्दगुप्त सिंहासन पर बैठा। स्कन्दगुप्त ने युवराज रहने की अवस्था में पुष्यमित्र और हूण लोगों को परास्त करके, अपने पिता के राज्य की रक्षा की थी। कहा जाता है कि युवराज्य भट्टारक स्कन्दगुप्त ने अपने पितृकुल की विचलित राजलक्ष्मी को स्थिर रखने के लिए तीन रातें भूमि पर सोकर बिताई थीं' (बांगलार इतिहास प्रथम भाग, पृ० 62-63)। इस महान् वीर सम्राट के एक

प्रकार के सिक्कों पर एक ओर 'जयति दिवं श्रीक्रमादित्य:' और दूसरी ओर 'क्रमादित्य' लिखा है। स्कन्दगुप्त के मालवा वाले सिक्कों में उसे स्पष्ट ही 'परमभागवतमहाराजाधिराजश्रीस्कन्दगुप्त विक्रमादित्य:' पढ़ा जाता है। उसके ऐसे ही एक प्रकार के चांदी के सिक्कों पर भी 'परमभागवतश्रीविक्रमादित्यस्कन्द-गुप्त:' तथा अन्य प्रकार के सिक्कों पर भी यही लेख उपलब्ध होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शक, हूण आदि म्लेच्छ जातियों को परास्त करने के उपलक्ष्य में विक्रमादित्य का पद भारतवर्ष के राजा स्वीकार करते थे और विक्रमादित्य का शकारि नाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। राजनीतिक भाषा में यों कहना उचित होगा कि विदेशी विजेताओं से स्वदेश की दासता का जुआ हटाने वाले महापुरुष ही विक्रम नाम से प्रसिद्ध होते थे एवं वे अपने नाम से संवत् भी चला लेते थे, और विक्रमाब्द भी, शकाब्द के समान भारतवर्ष में से एक विदेशी सत्ता को नष्ट करके उसे स्वतन्त्र बनाने की स्मृति का संवत् है। यह एक राष्ट्रीय संवत् है, साम्प्रदायिक नहीं, तभी इसकी रक्षा वैदिक और अवैदिक सब प्रकार के साहित्य में की गई है।

किन्तु हमको यहां वह तर्क भी देखना उचित है, जिसके आधार पर योरोपियन विद्वान विक्रम नाम के किसी व्यक्ति के अस्तित्व को भी नहीं मानते तथा यह भी कहते हैं कि जिस समय से आजकल इसकी गणना की जाती है, उससे कई सौ वर्ष पश्चात गणना करने के ज्योतिष सम्बन्धी कार्यों के लिए इस संवत् की स्थापना की गई थी।

आरम्भ में ही हम यह स्मरण करा देना उचित समझते हैं कि ज्योतिष सम्बन्धी कार्यों के लिए करण ग्रन्थों में सामान्यतः और प्रायः सर्वत्र शकाब्द का प्रयोग किया गया है क्योंकि वह वर्ष चैत्र से सर्वत्र आरम्भ होता है, विक्रम-वर्ष का उपयोग ज्योतिष के करण ग्रन्थों में नहीं के बराबर है, अतः यह युक्ति नितान्त निर्बल है। तो भी डॉ० फर्गुसन ने सर्वप्रथम कहा था कि इस संवत् की स्थापना सन् 544 ई० में हुई थी और तब ही गणना करके इसका आरम्भ 57 ई० पू० से माना गया था। स्मिथ का मत ऊपर दिया है। डॉ० वीबर और होल्ट्जमैन का मत भी फर्गुसन से मिलता है। किन्तु डॉक्टर पिटर्सन और डॉक्टर ब्युहलर संवत्कार विक्रम-पदधारी व्यक्ति का अस्तित्व ईसा के 57 ई० पू० में ही स्वीकार करते थे फिर चाहे उस व्यक्ति का नाम कुछ भी रहा हो।

ऐसा जान पड़ता है कि ग्रेगरी के संशोधित पंचांग (Calendar) का इतिहास योरोप के फर्ग्युसन और उनका अनुकरण करने वाले विद्वानों की दृष्टि में था। वर्तमान ईसवी संवत् का मूल जूलियस सीजर का स्थापित और संशोधित पंचांग था, और जूलियस सीजर ने स्वयं रोमन संवत् में संशोधन करके अपना संवत् चलाया था। रोमन संवत् का आरम्भ रोमन अनुश्रुतियों के अनुसार

रोम के प्रथम शासक नूमा के समय से माना जाता था और वह 355 दिन का गिना जाता था जो एक प्रकार से चान्द्रवर्ष की मोटी गणनामात्र थी, क्योंकि चान्द्रवर्ष का मान 354 दिन 8 घंटे 48 मिनट 36 सेकिण्ड होता है। इस हिसाव से रोमन संवत् में प्रति वर्ष सौरवर्ष से 10 और 11 दिन के मध्यवर्ती अन्तर पड़ता था। उधर रोम के पुरोहित और ऋत्विजों को अपने धार्मिक और राष्ट्रीय कृत्य ऋतुओं की समानता का ध्यान रखकर भी कराने पड़ते थे, और वे इसी हेतु से कभी-कभी फरवरी मास की 23 तारीख के पश्चात् 27 दिन का एक अधिक मास गिनकर वर्ष में 13 मास गिन लेते थे, और अपने चान्द्र वर्ष को स्थूल रूप से सौर वर्ष के निकट ले आते थे। किन्तु इस विधि से चान्द्र और सौर वर्षों का पारस्परिक अन्तर कभी भी पूर्णतया दूर नहीं होता था तथा जूलियस सीजर के समय में यह अन्तर 90 दिन का हो गया था, अर्थात् जो घटना 25 जुलाई को घटी गिनी जाती थी, वस्तुतः वह 25 अप्रैल की घटना होती थी। कहने का अभिप्राय यह है कि उक्त अन्तर के कारण 25 अप्रैल को 25 जुलाई गिना और समझा जाता था। यह अन्तर बहुत अधिक था, और ऋतुओं के आधार पर मनाये जाने वाले रोमन लोगों के उत्सवों में बड़ी विच्छृंखलता उत्पन्न हो गई थी—वसन्त के पर्व और उत्सव शीतऋतु में पड़ने लगे थे। सीजर ने अपने समय के सर्वोत्तम गणितज्ञ ज्योतिषियों से सम्मति ली और 23 फरवरी के पश्चात् 23 दिन का एक मास तथा 67 दिन का एक और महीना इस प्रकार 90 दिन के दो अधिक मास गिनकर सीजर ने जुलाई ईसवी सन् से पूर्व 46 वर्ष में रोमन संवत् का संशोधन किया। 67 दिन का महीना नवम्बर के अन्त में और दिसम्बर आरम्भ होने से पूर्व बढ़ाया गया था, और इस प्रकार उस वर्ष में दिसम्बर जो दसवां मास गिना जाता था 12वां मास गिना गया और आगे से वर्ष का आरम्भ भी प्रथम जनवरी से गिना जाने लगा, किन्तु इससे पूर्व वर्ष का आरम्भ 1 मार्च से होता था। इस प्रकार 46 ई० पू० का वर्ष 445 दिन का एवं 'अन्धाधुन्धी' का वर्ष समाप्त हो जाने पर 45 ई० पू० की प्रथम जनवरी से रोमन संवत् की गणता सौर मास से होने लगी। किन्तु केवल इस संशोधन से ही रोमन संवत् की गणना ज्योतिष या ऋतुचक्र की दृष्टि से बिलकुल ठीक नहीं हो गई थी। सीजर ने अपने प्रचलित वर्ष को 365-1/4 दिन का नियत किया था; और इस प्रकार प्रति चतुर्थ वर्ष में फरवरी में 29 दिन गिनकर इस 1/4 की गणना को पूर्ण किये जाने का नियम उसने बनाया था। किंतु वास्तविक गणना से इस मान में कुछ मिनट अधिक गिने जाते थे, लगभग 11 मिनट 10 सेकिण्ड। सन् 1582 ईसवी (संवत् 1639 विक्रम) में पोप ग्रेगरी ने इस भूल का संशोधन भी किया और वर्ष का मान 365 दिन 5 घण्टा 49 मिनट 12 सेकिण्ड निश्चय करके उस वर्ष की गणना में 11 दिन कम कर

दिये, 12 सितम्बर के स्थान में 11 सितम्बर के पश्चात एकदम 23 सितम्बर गिना गया। इस सुधरे हुए मान के संवत् को ईसवी सन् माना गया और इसी के आधार पर गणना करके ईसाई धर्म की पिछली घटनाओं का क्रम स्थापित किया गया एवं ईसाई संवत् का आरम्भकाल निश्चय किया गया था। इस प्रकार जो ईसाई संवत् का आरम्भकाल निश्चित किया गया था वह एक प्रकार से महात्मा ईसा का जन्मकाल भी था, किन्तु यह निश्चय किया हुआ जन्मकाल वास्तविक जन्मकाल से 4 वर्ष पीछे है। अस्तु। इस ईसाई संवत् को पोप ग्रेगरी ने संवत् 1639 में गणना करके पीछे की डेढ़ सहस्र वर्ष की घटनाओं का निर्धारण भी इसी के आधार पर किया था और इस तरह पाठकों की दृष्टि में यह बात वैठती है कि ग्रेगरी के संवत् का आरम्भ ईसवी सन् के आरम्भ से होता है, अतः ग्रेगरी का समय या जन्मकाल भी ईसा की प्रथम शती में ही होना चाहिए। किन्तु यह बात वास्तविकता से दूर है, तो भी यह ऐतिहासिक सत्य है कि उसने लगभग डेढ़ सहस्र से भी अधिक वर्ष पीछे अपने संवत् की स्थापना करके (जिसे संवत् की स्थापना न कहकर पंचांग का संशोधन कहना ही अधिक उचित है) पिछली घटनावली को भी उसी के आधार पर गिना और उसका समय निर्धारण किया। फर्ग्युसन और फ्लीट आदि योरोपियन विद्वान ग्रेगरी के पंचांग संशोधन की समानता को ध्यान में रखकर उसी मानदण्ड से विक्रम-संवत् के विषय में भी यह तर्क लगाते हैं कि 500 या 700 वर्ष पीछे इस संवत् की स्थापना करके इसी के आधार पर पिछली घटनावली को अंकित किया गया होगा एवं इस संवत् को भी, इसी कारण से कि 57 ई० पू० तक की घटनाएं इसके आधार पर गणित की गई थीं, तभी से आरम्भ हुआ स्वीकार कर लिया गया होगा।

किन्तु वस्तुतः यह तर्क नितान्त निराधार और हेत्वाभास मात्र है। प्रथम तो ग्रेगरी और जूलियस सीजर के सम्मुख एक संवत् पहले से वर्तमान था जिसका उक्त दोनों सुधारकों ने संशोधन मात्र किया था; फिर उनका संशोधन भी केवल पंचांग का संशोधन था, संवत् के वास्तव आरम्भ काल के विषय में उन्होंने कुछ भी निर्णय नहीं किया था। यहां विक्रम-संवत् के सम्बन्ध में यह कहना नितान्त असत्य है कि इसके पंचांग का संशोधन किसी चन्द्रगुप्त आदि गुप्त नरेश या हर्ष यशोधर्मन् आदि सम्राट ने किया था। पंचांगसंशोधन को बतलाने वाली कोई भी अनुश्रुति इस संवत् के साथ उक्त सम्राटों के सम्बन्ध में भारतीय इतिहास को ज्ञात नहीं है, वह बिलकुल अश्रुतपूर्व है। यदि पंचांग-संशोधन किया गया हो तो उसके विषय में दो कल्पनाओं में से कोई एक स्वीकार करनी होगी, अर्थात् (1) विक्रम-संवत् किसी अशुद्ध पंचांग के साथ पहले से प्रचलित था जिसमें अशुद्धि इतनी अधिक बढ़ गई थी कि रोमन पंचांग की

भांति पर्वों और उत्सवों का ऋतु-विपर्यय भी होने लगा था, उसी को दूर करने के लिए यह प्रयास किया गया था। इस तर्क में हम विक्रम-संवत् और उसके अशुद्ध पंचांग की सत्ता पहले से ही स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु इस संवत् के अशुद्ध पंचांग का तो कोई भी इतिहास उपलब्ध नहीं होता, अतः यह कल्पना विद्वत्समाज में स्वीकार कदापि नहीं की जा सकती, (2) दूसरी कल्पना यह हो सकती है कि संवत् की स्थापना-मात्र उनका कार्य था, और उसी समय जब (चन्द्रगुप्त आदि जिस किसी के द्वारा भी यह स्थापित किया गया था). इसके संस्थापक ने इसे आरम्भ किया था वर्तमान प्रचलित पंचांग के साथ इसे प्रारम्भ किया था। किन्तु इसमें प्रश्न यह उठता है कि प्रारम्भ करने वाले इन सम्राटों को इसकी क्या आवश्यकता पड़ी थी कि वे इस संवत् को चलाकर भी इसका श्रेय किसी कल्पित व्यक्ति को देने के लिए व्यग्र थे ? उन्होंने किस आधार पर, किसके अनुकरण पर शकारि विक्रमादित्य का नाम इसके साथ जोड़ा ? मालवा, मालव-गण आदि से इसका सम्बन्ध क्यों मिलाया ? इसी प्रकार के और भी अनेक तर्क इस विषय में उपस्थित होंगे। वस्तुतः जब डॉक्टर ब्यूहलर और डॉक्टर कीलहार्न ने यह सिद्ध कर दिया है, एवं ऐसे शिलालेख आदि प्राचीन लिखित प्रमाण भी उपलब्ध हो चुके हैं, जिनका उल्लेख इस निबन्ध के आरम्भ में ही किया गया है, कि यह संवत् 544 ईसवी से बहुत पहले से व्यवहार में आ रहा था, तो इस तर्क का मूल्य कुछ भी नहीं रह जाता।

ससंवत् का उल्लेख भारतवर्ष के राष्ट्रीय साहित्य में, चाहे वह जैन हो या अजैन, बौद्ध हो या अबौद्ध, वैदिक हो या अवैदिक, सर्वरूपेण राष्ट्रीय ढंग से किया गया है। इसे राष्ट्र को अत्याचारपूर्ण विदेशी शासन से स्वतन्त्रता प्राप्त होने की तिथि माना जाता रहा है। यह किसी भारतीय नरेश के साम्प्रदायिक उत्पीड़न का इतिहास नहीं है, किन्तु उस स्वतन्त्रता के युद्ध का इतिहास इसमें अनुप्राणित है जिसके लिए संसार भर के सभ्य राष्ट्र सदैव व्याकुल रहते हैं, जिसका समादर हमारी संस्कृति में सर्वोपरि है, एवं जिसे स्मरण करके हम आज भी स्वतन्त्रता प्राप्त करने की आशा करते हुए जीवित हैं। भारतवासी इस स्वतन्त्रता प्राप्त करने की प्राचीन तिथि को किसी प्रकार भी भुला नहीं सकते। उस तिथि को, जिसके संस्थापक ने अपना सर्वस्व, अपना अस्तित्व, अपना व्यक्तित्व, अपना निजी नाम और गोत्र उसके ऊपर निछावर कर दिया, किसी प्रकार भी नहीं भुलाया जा सकता; भले ही ये पाश्चात्य विद्वान कितने ही तर्काभास इसके विरुद्ध उपस्थित करें।

एक बात और; कुछ विद्वान् नहपान (नरवाहन) को इस संवत् का प्रवर्तक मानते हैं। ऐसे विद्वानों में श्री राखालदास बनर्जी मुख्य हैं। डॉक्टर फ्लीट महोदय की सम्मति में कनिष्क ने इसका आरम्भ किया था और सर जान मार्शल तथा

रैप्सन के मत में अजेस या अय नामक सम्राट् ने इसे चलाया था। इन सबके उत्तर में हमें एक ही बात कहनी है और वह यह कि ये सब सम्राट् शक अर्थात् विदेशी थे। यदि इन्होंने कोई संवत् भारतवर्ष में चलाया होगा (या चलाया होता) तो वह भारतवर्ष की गुलामी के आरम्भ का संवत् हो सकता था। कौन बुद्धिमान् ऐसा है जो यह स्वीकार करेगा कि बौद्धिक और आत्मिक ज्ञान में भारतवर्ष जैसा समृद्ध देश अपनी गुलामी की तिथि को, सार्वजनिक रूप से, सदा के लिए, स्वीकार कर सका होगा। फिर इन सभी विद्वानों के मत सर्व-सम्मत या निर्भ्रान्त भी नहीं हैं और गणना से वे शकाब्द के अधिक निकट आते हैं, किन्तु शकाब्द के निर्णय का प्रश्न यहां नहीं उठाया जा सकता। यह स्वीकार किया जा सकता है, (और ऐसा उचित भी है) कि इन सम्राटों ने अपने स्वतंत्र संवत् लगभग उसी समय में चलाए हों जब उन्होंने उनकी गणना आरम्भ की थी, किन्तु उपरोक्त हेतु के कारण उनके संवत् का अस्तित्व तो उन्हीं के वंश की सत्ता के साथ-साथ समाप्त हो जाना स्वाभाविक और अनिवार्य था। राष्ट्र उनके संवतों को अपनी संस्कृति में किसी प्रकार भी स्थान नहीं दे सकता था। प्राच्यविद्यामहार्णव स्वर्गीय श्री काशीप्रसादजी जायसवाल ने विक्रमादित्य का व्यक्तित्व गौतमीपुत्र शातकर्णि में स्वीकार किया है और उनका मत श्री हरितकृष्णदेव को भी मान्य है। किन्तु इस आंध्र-सम्राट् की शकविजय का तो दूसरा शकाब्द भारत में प्रचलित है। उनका ऐसा परिणाम किसी ऐतिहासिक गणना की भूल के आधार पर भी हो सकता है। कुछ भी हो, इस प्रश्न का निर्णय विक्रमादित्य के व्यक्ति के साथ ही किया जा सकता है।

योरोपियन विद्वानों में डॉक्टर स्टेन कोनो के विचार सबसे अधिक स्पष्ट और पुष्ट हैं, जिन्होंने इस संवत् का प्रवर्तक उज्जयिनी के महाराज सम्राट् विक्रमादित्य को स्वीकार और सिद्ध किया है। यही बात निम्नलिखित प्राचीन जैन गाथा में भी कही गई है—

> कालान्तरेण केणाइ उप्पाविद्ठा संगाण तंबंसम् ।
> जावो मालवराया नामेण विक्कमाइच्च ॥65॥
>
> तथा
>
> नियवो संवच्छरो जेण ॥68॥ (कालकाचार्यकथानक)

गुर्जर-देश-भूपावली में भी इस सम्राट् के सम्बन्ध में कुछ श्लोक दिए हैं, जिन्हें यहां उद्धृत करना आवश्यक है—

> वीरमोक्षाच्च सत्पृन्तायुते वर्षचतुःशते ।
> व्यतीते विक्रमादित्यः उज्जयिन्यामभूवितः ॥12॥

सत्वसिद्धाग्निवेताल - प्रमुखानेकदैवतः ।
विद्यासिद्धो मंत्रसिद्धः सिद्धसौवर्णपूरुषः ॥13॥
धैर्यादिगुणविख्यातः स्थाने स्थाने नरापरैः ।
परीक्षाकषपाषाण-निघृष्टः सत्त्वकञ्चनः ॥14॥
स सम्मानैः श्रियां दानैः नराणामखिलामिलाम् ।
कृत्वासंवत्सराणां स आसीत् कर्ता महीतले ॥15॥
षडशीतिमितं राज्यं वर्षाणांतस्य भूपतेः ।
विक्रमादित्यपुत्रस्य ततो राज्यं प्रवर्तितम् ॥16॥
पञ्चत्रिंशद्यु ते भूपवत्सराणां शते गते ।
शालिवाहन भूपोऽभवद्वत्सरे शककारकः ॥17॥

विक्रम-कला

☐ डॉ० मोतीचन्द्र

भारतीय इतिहास के दो-चार अत्यन्त विवादग्रस्त प्रश्नों में एक प्रश्न विक्रम-संवत् की ई० प० पहली शताब्दी में स्थापना भी है। एक पक्ष प्रथम शताब्दी ई० पू० में विक्रम के ऐतिहासिक अस्तित्व को स्वीकार करता है तो दूसरा पक्ष चन्द्रगुप्त द्वितीय को ही भारतीय इतिहास तथा अनुश्रुति का विक्रम मानता है। विक्रम-संवत् पहले मालवा तथा उसके आसपास के देशों में मालव तथा कृत-संवत् के नाम से ख्यात था, इस प्रश्न को लेकर भी ऐतिहासिकों में काफी चर्चा रही है। विक्रम-संवत् का जटिल प्रश्न तब तक उनकी चर्चा की एक विशेष सामग्री रहेगा जब तक कोई ऐसा ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं होता, जिससे निःसन्दिग्ध भाव से एक शकोच्छेदक विक्रम की ऐतिहासिक स्थापना प्रथम शताब्दी ई० पू० में हो सके। विक्रम-संवत् का प्रश्न कितना भी जटिल क्यों न हो, एक बात तो जैन अनुश्रुतियों के आधार पर कही ही जा सकती है कि विक्रम की प्रथम शताब्दी ई० पू० में ऐतिहासिक स्थिति वास्तविक है। ये विक्रम कौन थे ? इस विवादग्रस्त प्रश्न पर इस छोटे से लेख में विचार करना सम्भव नहीं। हमें तो इस लेख में केवल यही दिखलाना है कि विक्रमकाल में भारतीय कला की कितनी उन्नति हुई।

विक्रम के ऐतिहासिक रूप को अगर हम थोड़ी देर के लिए अलग रखकर केवल विक्रम के शाब्दिक अर्थ पर विचार करें तो पता चलता है कि वैदिककाल में विक्रम शब्द का प्रयोग आगे बढ़ने के अर्थ में हुआ है तथा बाद में यही शौर्य तथा बल का द्योतक हो जाता है। विक्रम के इन शाब्दिक अर्थों से यही बोध होता है कि विक्रम-युग भारतीय इतिहास में उस युग को कहते थे, जिसमें सभ्यता के धीमे पड़ते हुए स्रोत में एक ऐसी बाढ़ आए जिससे युग-युगान्तर से जमी हुई कीच-काई बहकर आप्लावित भूमि पर नयी मिट्टी की एक ऐसी तह जम जावे जिसमें पैदा हुई अपार आत्मिक अन्नराशि मानव वर्ग का मानसिक पोषण कर सके तथा जिसमें उत्पन्न हुए रंग-बिरंगे सुगन्धित सांस्कृतिक पुष्प अपनी सुरभि से दिशाओं को भर दें। विक्रम-युग में एक ऐसे पुरुषश्रेष्ठ राजा का जन्म होता है

जो अपनी भुजाओं के बल से विदेशी सत्ता को उखाड़ फेंकता है तथा उस सार्वभौम राज्य की स्थापना करता है, जिसका उद्देश्य प्रजापालन, व्यापारवृद्धि, कला की उन्नति इत्यादि होता है। वैदिक तथा पौराणिक युग में जिन उद्देश्यों को लेकर चक्रवर्ती सम्राट् की कल्पना की गई है, विक्रम-युग भी करीब-करीब उन्हीं भावनाओं का प्रतीक है। जिस प्रकार चक्रवर्तियों के रथों के अप्रतिहत पहिए देश के एक कोने से दूसरे कोने तक घूम सकते थे, उसी प्रकार विक्रम-युग के राजाओं के रथों के पहिये भी। पर विक्रम-युग की एक और विशेषता थी। सांस्कृतिक उत्तेजना से लोकाराधन तथा लोककल्याण की भावनाओं को इस युग में इतना अधिक प्रोत्साहन मिलता है जिससे मनुष्य की अन्तर-चेतनाओं के तार समस्वर होकर बजने लगते हैं, जिससे भावनाओं के सागर में प्रबल तरंगें उठने लगती हैं। जिनमें डूबकर कला और साहित्य एक नये रंग में रंगकर एक नयी अनुभूति से आलोड़ित होकर हमारे सामने आते हैं। इस दृष्टि-कोण से विक्रम-युग केवल राजनीतिक उथल-पुथल से स्वराज्य की पुण्यमयी भावना को ही हमारे सामने नहीं रखता, उसका उद्देश्य तो हम सबमें उस मानसिक स्फूर्ति का प्रजनन है जो सब साहित्य और कलाओं की जननी है। प्रथम शताब्दी ई० पू० में साहित्य-क्षेत्र की विशेष उथल-पुथल का तो हमें ज्ञान नहीं है पर कला के क्षेत्र में तो एक नवीन धारा बही, जिसके प्रतीकस्वरूप आज भी सांची के तोरण तथा नासिक और कारले की बौद्ध लेणें खड़ी हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के युग ने कवि सम्राट् कालिदास को हमारे सामने रक्खा तथा कला में उस रस की धारा बहाई जिससे गुप्त कला अमर हो गई। यह इसी युग की प्रेरणात्मक शक्ति का फल है जिससे अनुप्राणित होकर भारतीय कला तथा साहित्य के अमर सिद्धान्त देश की चारदीवारी लांघते हुए अफगानिस्तान, मध्य-एशिया, चीन, जापान, कोरिया, बरमा, लंका, मलाया इत्यादि में जा पहुंचे।

विक्रम-युग में एक ओर तो राजनीतिक प्रगति हो रही थी। शकों को हरा कर विक्रमादित्य देश को एकता के सूत्र में बाँधने का प्रयत्न कर रहे थे, दूसरी ओर कला के क्षेत्र में भी एक क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहा था। पिछले मौर्यकाल तथा शुंगकाल की कला सादृश्यवाद के सिद्धान्त से अनुप्राणित थी। इस कला का सम्बन्ध न तो रसशास्त्र से था न आध्यात्मिकता इसे छू गई थी। इस कला का उद्देश्य जीवन की वास्तविकताओं का, आमोद-प्रमोद का सीधा-सादा अलंकरण था। जिस तरह जातक की प्राचीन कथाएं जीवन के साधारण से साधारण पहलू को हमारे सामने बिना किसी बनावट के या शृंगार के रख देती हैं, उसी प्रकार भरहुत के अर्धचित्र (relief) हमें भारत के तात्कालिक जीवन के अनेक पहलुओं को किसी आदर्श से रंगे बिना हमारे सामने रख देते हैं। नाच-रंग, खेल-कूद, आपानक, वस्त्र, आभूषण तथा भारतीय जीवन के और बहुत से पहलुओं का

चित्रण इस कला का विशेष उद्देश्य है। शुंगकालीन कलाजीवन के कितने निकट थी, इसका पता हमें शुंगकाल की मूर्तियों से मिलता है। बसाढ़ भीटा, कौशाम्बी इत्यादि जगहों से मिली हुई मिट्टी के अर्धचित्रों की यह एक खास विशेषता है कि उनमें देवी-देवताओं को छोड़कर शुंगकालीन स्त्री-पुरुषों के चित्र अंकित हैं, जिनसे हम तत्कालीन जीवन की बहुत-सी बातें जान सकते हैं। भरहुत की कला में अलंकारिक उपकरणों का प्रयोग भी केवल चित्रों की शोभा बढ़ाने के लिए ही किया गया है। फर्गुसन ने इन अर्धचित्रों के अलंकारों के बारे में जो लिखा है, वह आज भी सत्य है—

'Some animals such as elephants, deer and monkeys are better represented than any sculpture known in any part of the world, so too are some trees and the architectural details are cut with an elegance and precision that are very admirable. The human figures too, though very different from our standard of beauty and grace, are truthful to nature, and where grouped together combine to express the action intended with singular felicity.'

(फर्गुसन, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, पृ० 36)

'कुछ पशु जैसे हाथी, हिरन तथा बन्दरों का चित्रण ऐसा हुआ है जैसा संसार की और किसी मूर्तिकला में नहीं हो पाया है। कुछ पेड़ों तथा वस्तु की सूक्ष्मताओं का चित्रण ऐसी सुन्दरता तथा खूबी के साथ हुआ है जिससे हमारा चित्त उनकी ओर खिचता है। मनुष्य-मूर्ति की बनावट भी, गोकि उनकी बनावट हमारी सुन्दरता के मापदण्ड से भिन्न है, सादृश्य लिये हुए है। तथा जहां उनकी कल्पना समूह में होती है वहां वह बड़ी खूबसूरती तथा सरलता से अपनी योजना के उद्देश्यों को भली-भांति प्रकट कर देती है।'

भरहुत की इस कला का प्रसार एक स्थानिक न होकर भारतवर्ष में बहुत दूर तक फैला हुआ था। पूना के पास भाजालेण के अर्धचित्र इसी युग के कुछ विकसित अवस्था के चित्र हैं। बेदसा, कोन्दाने, पीतलखोरा तथा अजण्टा की दस नम्बर की गुफाएं भी इसी समय बनीं। सांची के 1 तथा 2 नम्बर के स्तूप भी इसी युग में बने हैं। उड़ीसा में उदयगिरि तथा खंडगिरि की गुफाएं भी इसी युग की देन हैं।

लगभग 70 ई० पू० शुंग-राज्य का अन्त हुआ तथा काण्व या सातवाहनों ने विजित राज्य पर अपना अधिकार जमाया। सातवाहन इसके बहुत पहले से ही पश्चिम तथा दक्खिन में अपना राज्य जमाए हुए थे। ईसवी सदी के लगभग पचास वर्ष पहले उन्होंने पूर्वी मालवा (आकर) पर अपना अधिकार जमाया।

शातकर्णि राजाओं की छत्रच्छाया में भरहुत की अर्धविकसित कला उस पूर्णता को प्राप्त हुई जिसको लेकर हम आज के दिन भी सांची की कला पर गौरव करते हैं। सांची के बड़े स्तूप के चारों तोरण तथा स्तूप नम्बर 3 का तोरण करीब 50 वर्षों के अन्तर में बने। इस बात का ठीक-ठीक पता नहीं चलता कि ये तोरण किस सातवाहन राजा के समय में बने। सांची के बड़े स्तूप के दक्खिनी तोरण पर एक लेख है जिसमें श्री शातकर्णि का उल्लेख है, पर शातकर्णि नाम के आन्ध्र-वंश में बहुत से राजे हो गए हैं, इसलिए सांची-स्तूपवाले शातकर्णि की पहचान ठीक-ठीक नहीं हो सकती थी। बूलर इत्यादि विद्वानों का मत था कि वे ई० पू० दूसरी शताब्दी के श्री शातकर्णि ही हैं जिनका उल्लेख नानाघाट तथा हाथीगुंफा के अभिलेखों में आया है (मार्शल, दी मॉनुमेण्ट्स् ऑफ सांची, जिल्द 1, पृ० 5)। पर मार्शल का मत है कि सांची की उन्नत कला को देखते हुए यह बात अमान्य है। सांची के श्री शातकर्णि पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार या तो श्री शातकर्णि द्वितीय थे जिन्होंने 56 साल राज्य किया और जिनका समय ई० पू० प्रथम शताब्दी में था अथवा महेन्द्र शातकर्णि तृतीय अथवा कुन्तल शातकर्णि थे। अभाग्यवश मालवा के सातवाहन-युग का आरम्भिक इतिहास अभी अन्धकारमय है। दूसरी शताब्दी ई० में जब इस अन्धकार में कुछ प्रकाश की आभा मिलती है तब हम गौतमीपुत्र शातकर्णि को आकर-अवन्ति का राजा पाते हैं। जैन अनुश्रुतियों के अनुसार, जिनमें कालकाचार्य की कथा प्रसिद्ध है, 61-57 ई० पू० उज्जयिनी पर शकों का अधिकार था। यह भी पता चलता है कि प्रथम शताब्दी ई० के अन्त में आकर-अवन्ति पर क्षहरातों का कुछ दशकों तक अधिकार था। इस अधिकार का अन्त 125 ई० में श्रीगौतमीपुत्र शातकर्णि ने आकर-अवन्ति को जीतकर किया। लेकिन मालवा बहुत दिनों तक आन्ध्रों के हाथ में न टिक सका, लगभग 150 ई० के महाक्षत्रप रुद्रदामा ने विजित देशों को पुन: अपने अधिकार में कर लिया।

उपर्युक्त विवरण से सांची के बड़े स्तूप के तोरणों के समय के बारे में दो बातें प्रकट होती हैं। एक तो यह कि ये तोरण ई० पू० प्रथम शताब्दी में बने; और दूसरे यह कि आकर उस समय आंध्रवंश के शातकर्णि नाम के किसी राजा के अधिकार में था। जैन तथा ब्राह्मण अनुश्रुतियों के अनुसार इसी काल में उज्जयिनी के विक्रमादित्य की स्थापना होती है। अब प्रश्न यह उठता है कि ये विक्रमादित्य कौन थे और उनका प्रतिष्ठान के शातकर्णि राजाओं से क्या सम्बन्ध था ? इस लेख का विषय विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता प्रमाणित करना नहीं है। पर जहां तक कला का सम्बन्ध है, यह निर्विवाद है कि इसी युग में भारतीय कला में एक ऐसी नूतनता और ओज का समावेश हुआ जैसा पहले कभी नहीं हुआ था। यह तो ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि किन-किन कारणों से

प्रेरित होकर कला अपने पुराने तथा जीर्ण आवरण को छोड़कर नवीनता की ओर झुकने लगती है, पर इतिहास इस बात का साक्षी है कि किसी महान् राजनीतिक उथल-पुथल के साथ ही साथ कलाकारों के दृष्टिकोण में भी अन्तर आने लगता है। उनके हृदय के कोनों में छिपे हुए जीर्णशीर्ण कला के सिद्धान्त नयी स्फूर्ति से उत्प्रेरित होकर युग की कला को एक नये सांचे में ढालते हैं। राजा तथा प्रजा की रक्त-प्रणालियों में बहते हुए सांस्कृतिक ओज को ये कलाकार मूर्त रूप देते हैं। उदाहरणार्थ गुप्त-युग को लीजिए। कुषाण-साम्राज्य के अन्तिम दिनों की ओजहीन कला उस टिमटिमाते हुए दीपक के समान है जिसका तेल जल चुका है फिर भी उसकी बत्ती उकसाई जाती है जिससे उस दीप का प्रकाश, चाहे वह कितना ही धीमा क्यों न हो, थोड़ी देर तक ढहते हुए महल में उजाला रख सके। लेकिन गुप्तयुग की कला को लीजिए तो मालूम पड़ता है कि दीपक तो वही पुराना है लेकिन नवीन तेल-बत्ती से सुशोभित होकर अपने जाज्वल्यमान स्निग्ध प्रकाश से वह दिशाओं को आपूरित करने लगता है। गुप्तों की साम्राज्य स्थापना भारतीय इतिहास की एक महान् घटना है। उस साम्राज्य का उद्देश्य भारतीय संस्कृति तथा ब्राह्मण-धर्म को पुनरुज्जीवन देना था। विदेशियों के संसर्ग से दूषित कला, धर्म तथा संस्कृति को पुनः उसके प्राचीन पथ पर आसीन करना ही गुप्त-युग की विशेषता है। अब हम देख सकते हैं कि एक महान् राजनीतिक-घटना का कला की उन्नति से क्या सम्बन्ध है? आगे चलकर हम देखेंगे कि विक्रम काल की कला भी गुप्तकालीन कला के समान पथकृत् थी और अगर हम विक्रम की ऐतिहासिक सत्ता स्वीकार करते हैं तो सांची इस बात की साक्षी है कि विक्रम-युग जिसकी कथा हम आज के दिन भी शहरों में, देहातों में, अपने बड़े-बूढ़ों से सुनते हैं, केवल राजा की न्याय-परायणता तथा कवियों के समादर के लिए ही विख्यात नहीं था, उस काल में कलाकारों को भी वही आदर मिला जिसके फलस्वरूप उन्होंने भारतीय कला को एक नये रास्ते पर चलाया।

साँची की पहाड़ी, जिस पर स्तूप बने हुए हैं, भोपाल रियासत में जी०आई० पी० रेलवे के सांची स्टेशन के बहुत पास स्थित है। पहाड़ी 300 फीट से भी कम ऊंची है तथा उसके ढालों पर झाड़-झंखाड़ों से काफी हरियाली रहती है। खिरनी के हजारों पेड़ अपनी सघन छाया से पथिकों और चरवाहों को आराम पहुंचाते रहते हैं। वसन्त में ढाक के फूल पहाड़ी पर आग-सी लगा देते हैं। प्रकृति देवी के इस सुन्दर उद्यान में आत्मचिन्तनरत बौद्धों ने सांची के स्तूपों की कल्पना की। प्राचीन लेखों में सांची का नाम काकणाव या काकणाय आता है लेकिन चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में इसका नाम काकनाद बोट पड़ा। सातवीं शताब्दी में इसका नाम बदलकर बोटश्री पर्वत हो गया (मॉनुमेण्ट्स् ऑफ़ सांची, जि० 1, पृ० 12)।

इस बात का ठीक-ठीक पता नहीं चलता कि बौद्ध सांची में अशोक के समय

में आए या उसके पहले। महावंश में लिखा है कि अशोक की रानी देवी अपने पुत्र महेन्द्र को विदिशा के पास चेतियगिरि के विहार में महेन्द्र की लंका-यात्रा के पहले ले गई। कुछ विद्वान् चेतियगिरि को ही सांची का पुराना नाम मानते हैं, पर इस बात की सत्यता की परख अभी तक नहीं हो पायी है।

सांची का बड़ा स्तूप अण्डाकार है, जिसका सिर कटा हुआ है। यह अण्ड चारों ओर एक मेधि से घिरा हुआ है जिसका मुतक्का प्राचीन काल में प्रदक्षिणा पथ का काम देता था। इस पर चढ़ने के लिए दक्षिण की तरफ दोहरी सीढ़ियां बनी हुई हैं। जमीन की सतह पर इस स्तूप को घेरे हुए एक दूसरा प्रदक्षिणा पथ है जो वेदिका से घिरा हुआ है। वेदिका की बनावट बिलकुल सादी है लेकिन उसके चारों ओर चारों दिशाओं को लक्ष्य करते हुए चार तोरण हैं। पहले विद्वानों की धारणा थी कि इस स्तूप का आकार अशोक के समय से ज्यों का त्यों बना हुआ है तथा तोरण द्वितीय शताब्दी ई० पू० में बनाए गए। बाद की खोज से ये धारणाएं भ्रमात्मक साबित हुई हैं। असल में बात यह है कि अशोक के समय में स्तूप सादे ईंटों का था, बाद में उसमें भव्यता लाने के लिए भक्तों ने इसे आवरणों से ढक दिया। सर जॉन मार्शल के कथनानुसार स्तूप पर आवरण चढ़ाने के पहले किसी ने उसे तोड़-फोड़ दिया था और शायद यह काम पुष्यमित्र शुंग की आज्ञा से किया गया था। स्तूप इस बुरी तरह से तोड़ा गया है कि यह कहना मुश्किल है कि अशोक के समय में इसका क्या रूप था। लेकिन जांच करने से पता चलता है कि आरम्भ में इसका अण्ड नीचे से 60 फीट चौड़ा था। इसके चारों ओर एक चबूतरा था और सिरे पर छत्रावलियों से युक्त वेदिका से घिरी हुई एक हर्मिका थी। इसके दोनों प्रदक्षिणा पथों की वेदिकाएं शायद लकड़ी की बनी हुई होंगी और स्तूपों की तरह बुद्ध का कोई अस्थिचिह्न इस स्तूप में भी गाड़ा गया होगा, जो स्तूप के तोड़े जाने पर गायब हो गया (वही, पृ० 24-25)।

अशोक के बाद जब हम इस स्तूप के इतिहास पर ध्यान देते हैं तो पता चलता है कि दूसरी शताब्दी ई० पू० में किसी शुंग राजा के राज्यकाल में ही इसकी इतनी अच्छी तरह से मरम्मत हुई जिससे वह बिलकुल नया-सा हो गया। पत्थर के आवरण से पूरा स्तूप, प्रदक्षिणा-पथ, वेदिका इत्यादि ढक दिए गए और उन पर बढ़िया चूने का फलस्तर कर दिया गया। स्तूप तैयार हो जाने पर उसके सिरे पर वेदिका सहित छत्र चढ़ाया गया। बाद में स्तूप को घेरे हुए पत्थर की वृहदाकार वेदिका बनी, जिन पर दाताओं के नाम खुदे हैं। संक्षेप में शुंगकाल में सांची के बड़े स्तूप की यही अवस्था रही होगी।

सातवाहन-युग में स्तूप के चारों ओर चार तोरण बनाए गए जो अपनी विशालता तथा सुन्दर गढ़न के लिए भारतीय कला में अद्वितीय हैं। सबसे पहले

दक्षिण का तोरण बना और इसके बाद क्रमशः उत्तरी, पूर्वी और पश्चिमी तोरण बने। इन तोरणों की कला की क्रमिक उन्नति से ऐसा पता लगता है कि ये सब तोरण 20 या 30 वर्षों के अन्तर में बने होंगे। इन चारों तोरणों की बनावट एक-सी है। हर एक तोरण में दो स्तम्भ हैं, जिनकी खुंभियों (Capital) पर तीन-तीन सूचियां अवलम्बित हैं। खुंभियों पर सटे पेट वाली सिंह मूर्तियां या बौनों की मूर्तियां, और उन्हीं खुंभियों से निकलती हुई यक्षिणियों, वृक्षिकाओं और शाल-भंजिकाओं की मूर्तियां सबसे निचली सूची के बाहर निकले हुए कोनों को संभाले हुए थीं। सूचियों के अन्तरालों में भी यक्षिणियों इत्यादि की मूर्तियां थीं और सूचियों के घुमटेदार अंशों पर हाथी या सिंह की मूर्तियां थीं। बाकी बचे हुए अन्तर स्थान में हाथीसवार और घुड़सवारों की मूर्तियां थीं। इन सवारों की बनावट में एक विशेषता यह थी कि ये दो मुंहवाले थे। दक्षिणी तोरण की सूचियों के अन्त से निकलती हुई गंधर्व मूर्तियां हैं। उत्तरी तोरण में ऐसी ही गंधर्व मूर्तियां सबसे पहले निचले सूची के छोरों से निकलती दिखलाई गई हैं। शेष दोनों तोरणों में ये मूर्तियां नहीं पाई जातीं। तोरणों के सिरे पर हाथी या सिंह पर चढ़े हुए धर्मचक्र की आकृति तथा उसके बगल में त्रिरत्न अंकित थे। स्तम्भ इत्यादि जातक कथाओं तथा नाच-रंग, आपानक इत्यादि के दृश्यों से भरे हैं। इनमें चैत्र-वृक्षों तथा स्तूपों के, जो गौतम बुद्ध तथा और मानुषी बुद्धों के चिह्नस्वरूप थे, काल्पनिक पशु-पक्षियों और गंधर्वों के तथा और भी बहुत से चित्र-विचित्र अलंकरणों से अंकित हैं।

सांची के स्तूप नम्बर दो पर बने हुए अर्धचित्रों की जांच-पड़ताल से हमें इस बात का पता चलता है कि अधिकतर चित्र भरहुत की पुरानी परिपाटी के अनुसार बने थे, लेकिन उनमें कुछ ऐसे भी चित्र हैं जिनसे कला के विकसित सिद्धान्तों का आभास मिलता है। कारीगरी की यह असमानता भरहुत की कला में भी पाई जाती है। इस अनैक्यता का कारण भरहुत की कला का प्राचीन दासकला के बन्धनों से निकलकर प्रस्तर को अपना आलम्बन बनाना भी हो सकता है। नवीन आलम्बन के लिए शिल्पियों का धीरे-धीरे तैयार होना स्वाभाविक था। इस तैयारी के युग में कुछ शिल्पी अधिक ग्रहणशील रहे होंगे और कुछ कम। इसीलिए कुछ चित्र अच्छे बन पड़े हैं और कुछ बुरे। भरहुत के करीब 100 वर्ष बाद जब सांची के तोरण बने तब कला कहीं अधिक उन्नतशील हो चुकी थी लेकिन फिर भी इसमें पुरानी कला के रूढ़िगत सिद्धान्त अपना सिर बीच-बीच में ऊपर उठाते दीख पड़ते हैं। प्राचीनता की इस झलक को कलाकारों की धार्मिक कट्टरता नहीं कहा जा सकता। असल में बात यह है कि भारतीय कला सदा से प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित रूढ़िगत सिद्धान्तों के पक्ष में रही है। लेकिन प्रगतिशीलता की भी उसमें कमी नहीं थी। जब-जब ऐसे अवसर आए जिनमें

कला को एक नया रास्ता ग्रहण करना पड़ा तब-तब भारतीय कलाकारों ने सहर्ष नयी कला का स्वागत किया। लेकिन बाप-दादों के समय से चली आई हुई कला को एकदम से भूल जाना असम्भव था और इसलिए हम सातवाहन-युग की विकसित कला में भी कभी-कभी पुरानेपन की झलक पा जाते हैं। कारीगरी की असमानता का एक दूसरा कारण हो सकता है कि सब कारीगर विशेषकर मूर्तिकार अथवा चित्रकार एक ही सांचे में ढले हुए नहीं होते। इनमें कुछ अच्छे होते हैं, कुछ मध्यम और कुछ कामचलाऊ। एक ऐसे बड़े काम में जहां ऐसे सैकड़ों कारीगर लगे हों यह अवश्यम्भावी है कि थोड़े-से मामूली कारीगर भी काम में लग गए हों, जिनके घटिया काम से पूरे अलंकार में कहीं-कहीं विषमता आ गई हो। उदाहरणार्थ, भरहुत के अजातशत्रुवाले स्तंभ (कनिंघम, स्तूप ऑफ भरहुत, प्ले०, 17) की तुलना सांची के उसी प्रकार के दृश्य से कीजिए (मार्शल, वही जि० 3, प्ले० 34 सी और 35 ए) तो पता चलता है कि इस फलक में भरहुत-युग से गढ़न अच्छी है, रेखाएं भी सुस्पष्ट हैं, फिर भी कलाकार कुछ प्राचीन रूढ़ियों को छोड़ने में असमर्थ-सा दीख पड़ता है। मनुष्य एक-दूसरे से सटे हुए एक के ऊपर दूसरी कतार में प्राचीन परिपाटी के अनुसार खड़े किए गए हैं। लेकिन साथ ही साथ प्राचीन मुद्राओं के प्रदर्शन का यत्न यहां नहीं दीख पड़ता। शुंग-काल में सम्मुख चेहरा, उलटा चेहरा तथा एक-चश्मी शबीह का अधिक प्रयोग होता था, तीन-चौथाई चेहरा तो कभी-कभी ही दिखलाया जाता था। पर सांची के प्राचीन रूढ़िगत अर्धचित्रों में चेहरे अधिकतर तीन चौथाई अंग में दिखलाए गए हैं। भरहुत के चित्रों में दूरी दिखलाने के लिए मूर्तियाँ एक-दूसरे के ऊपर कतारों से सजा दी गई हैं लेकिन उनकी नाप ज्यों की त्यों रक्खी गई है, दूर होने से उनमें छुटाई-बड़ाई नहीं आने पायी है। सांची के पुराने अर्धचित्र में मूर्तियां एक ही सतह पर रखी गई हैं, लेकिन दूरी दिखलाने के लिए पिछली कतारों में मूर्तियां कद में कुछ छोटी दिखला दी गई हैं। सांची के अर्धचित्रों में एक बात मान ली गई-सी दीख पड़ती है कि सबसे निचली पंक्ति दर्शक से सबसे पास वाली है और सिरे की पंक्ति सबसे दूर।

सांची के रूढ़िगत चित्रों का विवरण समाप्त करने के पहले हम उनकी बारीकियों का संक्षेप नीचे दे देते हैं। सबसे पहले इन अर्धचित्रों में हम प्राचीन प्रथा के अनुसार मूर्तियों की समानान्तर पंक्ति-बद्धता देखते हैं। इनमें दूरी दिखाने की प्रथा नहीं-सी है। भरहुत की तरह चित्र कठपुतली की तरह न होकर उनमें भाव की योजना है, जिससे उनमें एक स्फूर्ति तथा जीवन का उद्भास होता है। लेकिन एक बात मार्के की है कि इन चित्रों में व्यक्तिगत सादृश्य की कमी है।

सांची के बाकी अर्धचित्र, जिनकी संख्या 90 प्रतिशत से कम नहीं है, रूढ़िवाद से प्रायः परे हैं। कहीं-कहीं प्राचीन रूढ़ियां कलाकार के मार्ग में रोड़े अटकाने

का प्रयत्न करती हैं। पर उनसे इन चित्रों का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। जैसा पहले कहा जा चुका है, इन तोरणों के बनाने में बहुत से कारीगर लगे होंगे, इनमें कुछ अच्छे होंगे और कुछ बुरे। इस बात का पता सांची के अच्छे-बुरे चित्रों से मिलता है। 'बुद्ध चिह्न के लिए लड़ाई' (मार्शल, वही, जि० 1, पृ० 112) वाले अर्धचित्र में सांची की कला उच्चतम शिखर पर पहुंच गई। इसमें बाएँ तरफ एक नगर है जिसके फाटक की ओर नागरिक सिपाही, राजे-महराजे कुछ हाथी तथा घुड़सवार, कुछ रथी, घंटा, शंख तथा बंशी के तुमुल निनाद से आपूरित भीड़भाड़ के साथ आगे बढ़ रहे हैं। संसार में शायद कोई भी ऐसा अर्धचित्र नहीं जहां भीड़भाड़ का, जिसमें राजे-महाराजे गरीबों से कन्धा सटाकर चल रहे हों, जिनमें प्राचीन सभ्यता के बाह्य आवरण रूप शान-शौकत तथा आगे बढ़ते हुए जनसमूह की गति का इतना सुन्दर चित्रण हो। 'मार-विजय' (वही, पृ० 114) भी सांची की कला के उत्कृष्ट उदाहरणों में है। मध्य में बुद्ध का सिंहासन पीपल के नीचे लगा हुआ है। दाहिनी ओर मार की पराजित सेना अस्तव्यस्त होकर भाग रही है तथा बाईं ओर देवगण बाजे बजाते हुए तथा झंडे हिलाते हुए सिंहासन की वन्दना करते हुए आगे बढ़ रहे हैं। प्राचीन अनुश्रुतियों के आधार पर देव-मूर्तियों का अंकन एक-सा हुआ है, लेकिन मार-सेना का अंकन बहुत ही ओजपूर्ण है। भागती हुई सेना में जिसमें पशु, दानव इत्यादि हैं, एक गति लक्षित होती है, इसमें शान्त तथा रौद्र का अपूर्व सामंजस्य होते हुए भी थोड़ा-सा हास्य का पुट है। भागता हुआ एक दानव अपने गिरे हुए साथी को त्रिशूल से गोदकर उठा रहा है। मालूम पड़ता है हड़बड़ाहट में वह अपना-पराया भूल गया है, अथवा इस गड़बड़ी में अलक्षित भाव से शायद वह अपनी पुरानी शत्रुता का बदला निकाल रहा है। जो कुछ भी हो, इस अंकन में दानवता के प्रति एक व्यंग्य है।

सांची के अर्धचित्रों में कला की दृष्टि से सुन्दर चित्र इतने अधिक हैं कि उनका वर्णन इस छोटे से लेख में नहीं हो सकता। केवल इन चित्रों के विषयमात्र का उल्लेख हो सकता है। (1) इन चित्रों में बुद्ध-जीवन से सम्बन्ध रखने वाले यथा जन्म, महाभिनिष्क्रमण, सम्बोधि, धर्मचक्र-प्रवर्तन तथा महापरिनिर्वाण के बहुत से चित्र हैं, जो दुहराए भी गए हैं। जातकों से सम्बन्धित भी बहुत से चित्र हैं। (2) दूसरी श्रेणी में यक्ष और यक्षिणियों की मूर्तियां आती हैं। सांची के चारों तोरणों के निचले भाग में उभारदार यक्ष मूर्तियां खुदी हुई हैं। शायद ये लोकपाल हों। (3) तीसरी श्रेणी में पशु-पक्षियों की मूर्तियां आती हैं। चित्रों में इनका अंकन प्रायः जोड़ों में है। पशुओं की योजना अधिकतर 'नकली खुंभियों' पर की गई हैं। पशुओं में कुछ तो वास्तविक हैं और कुछ काल्पनिक। कभी-कभी पशु सजे हुए और वाहकयुक्त हैं, और कभी सादे। पशुओं में बकरे, घोड़े, बैल, भैंसें, हिरन, ऊंट, हाथी, सिंह तथा सिंह-शार्दूलों की अधिकता है। सिंह-

शार्दूल तथा पक्ष-युक्त सिंह भारतीय कला में पश्चिम एशिया की कला से आए। मयूर का उपयोग कभी-कभी सूचियों के आगे बढ़े हुए अंश को सजाने के लिए हुआ है।

सांची के तोरण अपने भिन्न-भिन्न प्रकार के पुष्प-अलंकरणों के लिए प्रसिद्ध हैं। सांची में अंकित आलंकारिक पुष्प और पौधे सादृश्य लिये हुए तो हैं ही, पर साथ ही साथ भारतीय कलाकारों ने अपनी आलंकारिक प्रवृत्ति से उनके अंकन में एक नया चमत्कार पैदा कर दिया है। अधिकतर पुष्प-अलंकरण भारतीय हैं तथा उनके नक्शे भारतीय कलाकारों के सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण के द्योतक हैं। पुष्पों में सबसे अधिक उपयोग कमल का हुआ। कमल भारतीय सभ्यता में अष्ट-निधियों में एक माना गया है तथा सब वरों के दायक तथा कल्पद्रुम और कल्प लता से इसका सम्बन्ध है। निधि का द्योतक और वरदायक होने से ही सम्भवतः यह बौद्धधर्म और संघ में बुद्ध का प्रतीक स्वरूप हो गया। सांची में कहीं-कहीं इसका अंकन सीधा और ज्यामितिक है, और कहीं-कहीं इसकी योजना गोमूत्रिकाओं में हुई है। कमल के लचीले बल खाते हुए डंठल अलंकार में एक अपूर्व माधुरी का समावेश करते हैं। सांची में ऐसी गोमूत्रिकाएं सीधेसादे गढ़े हुए पत्थर के रूखेपन को बहुत अंश तक हटाने में समर्थ होती हैं। सांची में एक जगह अंगूर की लता का भी आलंकारिक प्रयोग है। यह अलंकार बाहर से लिया गया मालूम पड़ता है। लेकिन इस अलंकरण के अन्तरालों में अंकित खिले हुए कमल तथा पशुद्वयों की मूर्तियां इस अलंकार को शुद्ध भारतीय रूप देने में समर्थ होती हैं।

सांची में जिस कला का परिवर्द्धन और संस्कार हुआ, उस कला का प्रसार सारनाथ तक हुआ। सारनाथ में सांची काल के बारह उत्कीर्ण स्तम्भ पाए जाते हैं। भीटा से एक मिट्टी की बनी हुई एक गोल तख्ती मिली है, जिस पर की कारीगरी सांची के अर्धचित्रों से बहुत मिलती है। ऐसा लगता है, मानो किसी हाथी-दांत के बने छापे से यह नक्शा छाप दिया गया हो।

दक्षिण में इस काल की कला का सबसे उत्कृष्ट उदाहरण गुडिमल्लं का शिवलिंग है। परशुरामेश्वर नाम से उत्तरी आरकट जिले में रेणुगुंट के पास गुडिमल्लं में आज के दिन भी शिव की इस भव्य मूर्ति की पूजा होती है। लिंग पांच फीट ऊंचा है और उसके निचले भाग में दो भुजाओं वाले शिव की मूर्ति अंकित है। मूर्ति के हाथों में अंकस्वरूप मेढ़ा, परशु तथा पूर्ण घट हैं। मूर्ति एक जमीन पर पड़े हुए यक्ष पर स्थित है। पत्थर पर बड़ी अच्छी पालिश है तथा मूर्ति भरहुत और सांची की यक्ष-मूर्तियों से बहुत कुछ मिलती है, लेकिन कारीगरी और सच्ची अभिव्यक्ति की दृष्टि से सांची और भरहुत के अर्धचित्रों से कहीं बढ़कर है।

महाराष्ट्र में विक्रम-युग में या इससे थोड़ा हट बढ़कर लेणों की बनावट में तथा सजावट में उन्नति हुई। नासिक के पाण्डुलेण में चैत्य-गृह तथा नहपान-विहार इस युग की देन हैं। चैत्य-गृह का बाहरी रुख दो खण्डों में विभाजित है। निचले हिस्से में एक महराबदार दरवाजा है तथा दूसरे खण्ड में बड़ा 'गवाक्ष' एक (चन्द्रशाला वातायन) है। द्वार पर यक्ष-मूर्ति की योजना है। नहपान-विहार में खम्भों के पाये घटाकार हैं तथा खुंभियाँ घंटाकार। यह अलंकार कार्ले के चैत्यगृह में अधिक विकसित अवस्था में पाया जाता है। कार्ले की लेण भारतीय वस्तुकला के उत्कृष्टतम उदाहरणों में एक है और शायद इसका समय विक्रम के समय में हो या कुछ हटकर। इस लेण का नाप 124× 45 फीट है। स्तूप दो वेदिकाओं से परिवेष्टित है तथा ऊपर का लकड़ी का पुराना छत्र अब भी सुरक्षित है। नासिक की तरह चैत्यगृह का मुखड़ा दो खंडों में विभाजित है। निचले खण्ड में तीन द्वार हैं तथा ऊपरी सहन में एक बड़ा चन्द्रशाला वातायन है। चैत्य-गृह के दोनों ओर गलियारे छोड़ते हुए स्तम्भों की पंक्तियां हैं। इनके सिरे से उठती हुई काठ की तिल्लियां अण्डाकार छत को छाती थीं। नीचे के खण्ड में द्वारों के अन्तरालों में मूर्तियां अंकित हैं। दाताओं की अपनी धर्मपत्नियों के साथ वृहदाकार मूर्तियाँ तो प्रथम शताब्दी ई० पू० की हैं, लेकिन बुद्ध की उत्कीर्ण मूर्तियां गुप्तकाल की बनी मालूम पड़ती हैं। निचले दरवाजों के आगे निकलता हुआ एक दूसरा द्वार है जिसके बगल में कई खण्ड तक वास्तु-अलंकरण (इमारती लिखावट) अंकित हैं। इनमें सबसे निचली इमारती लिखावट को हाथियों की मूर्तियां अपनी पीठों पर संभाले हुए हैं। पत्थर में बहुत से गड्ढे इस बात के साक्षी हैं कि सिंहद्वार के पहले कोई लकड़ी का दरवाजा या पोल रही होगी। चैत्य के बाहर एक धर्मचक्र से मंडित ध्वज-स्तम्भ है। इस कला की ओर भी बहुत-सी छोटी-मोटी गुफाएं हैं जिनका विस्तार भय से यहां वर्णन नहीं किया जा सकता। उसकी कला के क्षेत्र में विशेष महत्ता भी नहीं है।

अजन्ता की नौवीं और दसवीं गुफाओं से इस बात का पता चलता है कि विक्रम-युग में चित्रकला कितनी उन्नत अवस्था को पहुंच चुकी थी। इन गुफाओं के चित्रों में सांची की तरह साफे बांधे हुए आदमी तथा लम्बे तथा बहुंगीवाले चोगे पहने हुए शिकारी तथा सिपाही दिखलाए गए हैं। इस काल की चित्रकला में वह तरलता तथा भावयोजना जिनसे गुप्तकाल में अजन्ता के चित्रों को अमरत्व मिला नहीं है, फिर भी उनमें एक ओज और गुरुता है। रंगों के सवाल-जवाब से इस काल के चित्रकार अवगत थे, तथा रंगों के भारी और हलकेपन से पोल (modelling) दिखलाने में भी वे समर्थ थे। सांची में, जैसा कहा जा चुका है, मानव-आकृति के अंकन में सादृश्य की कमी है लेकिन अजन्ता के चित्रों की आकृतियों में अपनापन है।

विक्रम-काल की कला के उपरोक्त विवरण से यह पता चल गया होगा कि देश की राजनीतिक प्रगति से हाथ से हाथ मिलाकर कला किस तरह आगे बढ़ रही थी। भारतीय दृष्टिकोण से तो कला की यह उन्नति विक्रम-युग के सर्वांगीण सांस्कृतिक अभ्युत्थान की एक अंग-मात्र थी। लेकिन कुछ विदेशी विद्वानों के मतानुसार इस उन्नति का कारण भारतीय कला पर पंजाब तथा बाह्लीक की ग्रीक कला का प्रभाव है। यह एक अजीब-सी बात है। अनेक युगों में जब-जब भारतीय संस्कृति अथवा कला ने आगे कदम उठाया है तब-तब यूरोपीय विद्वानों ने यह दिखलाने की भरपूर चेष्टा की है कि यह उन्नति विदेशी छाप को लेकर हुई, मानो भारतीयों में स्वतः उन्नत होने की शक्ति का विकास ही नहीं हुआ था। इस सम्बन्ध में एक ध्यान देने योग्य बात है। संसार में कला की उन्नति तथा अवनति का इतिहास देखने से हमें उस नैसर्गिक नियम का पता चलता है जिसके अप्रतिहत चक्र की अनुगामिनी होकर कला एक समय आगे बढ़ती हुई उच्चतम आदर्शों तक पहुँच जाती है और फिर उसी कला के रूढ़िगत सिद्धान्त धीरे-धीरे स्वतंत्र अभिव्यक्ति का गला घोंटकर उसे गहरे खड्ड में गिरा देते हैं। यह नियम संसार की सब कलाओं के लिए लागू रहा है और भारतीय कला भी इस नियम का अपवाद नहीं है। इसलिए यह कहना कि समय-समय से विदेशी सिद्धान्त ही गिरती हुई भारतीय कला को स्फूर्ति प्रदान करते रहे हैं, गलत होगा। इस बात को मानने में किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि भारतीय कला ने समय-समय पर बहुत से अलंकार विदेशी कलाओं से लिये हैं तथा उनको ठेठ भारतीय सांचे में ढालकर इतना अपना लिया है कि उनकी जड़ का पता लगाना तक मुश्किल हो जाता है। लेकिन इससे यह तो नहीं कहा जा सकता कि भारतीय कला की सर्वांगीण उन्नति उन थोड़े से विदेशी अलंकारों पर ही अवलंबित है। उस उन्नति की जड़ की खोज में हमें उस काल विशेष की राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों की जांच-पड़ताल करनी होगी जिनका अवलम्बन लेकर कला आगे बढ़ती है। सांची की कला के बारे में सर जॉन मार्शल का यह कहना कि सांची के अर्धचित्रों में सादृश्ययुक्त अंकन है, केवल दिमागी उपज ही नहीं, कुछ ठीक नहीं मालूम पड़ता। नमूने के सामने बिठलाकर या प्रकृति की शोभा निरीक्षण करते हुए चित्र बनाने की प्रथा भारतीय पद्धति के विपरीत है। चिन्तन से ही आकृति को मूर्त रूप देना भारती कला की एक विशेषता रही है। इसका प्रमाण भरहुत में तथा सांची में अर्धचित्रों से मिलता है तथा गुप्तकाल की चिन्तनशील कला से। मार्शल जब सादृश्य की ओर इशारा करते हैं तो उनका सम्भवतः तात्पर्य यह है कि इस युग में भारतीय कला में सादृश्य विदेशी कला की देन है। लेकिन जब हम सांची की कला में सादृश्य की ओर झुकाव देखते हैं तो हमें यह न समझ लेना चाहिए कि मानसिक चिन्तन से रूप-भेद की कल्पना

जो प्राचीन भारतीय कला का आदर्श था, इस युग में कोरे सादृश्यवाद में परिणत हो गया। इसका तो केवल यही उत्तर है कि इस काल में मानसिक शक्तियों में दृढ़ीकरण से रूपभेद की कल्पना को एक सहारा मिला और यही कारण है कि तत्कालीन मूर्तियों में बाह्यांकों का भरहुत की मूर्तियों के बनिस्बत अधिक सुस्पष्ट भाव से अंकन हुआ है।

सांची के अर्धचित्रों का विधान ऐसे सुचारु रूप से हुआ है कि प्रस्तर में अंकित कथाएं अपने आप बोलती-सी दीख पड़ती हैं। उस समय की संस्कृति में इतिहास के लिए ये चित्र रत्नभाण्डागार की तरह हैं। सांची की कला का विषय बौद्ध धर्म है। अर्धचित्रों में अंकित जातक-कथाएं दर्शक के हृदय को बौद्धधर्म की ओर आकर्षित करती हैं। लेकिन विचार करके देखा जाय तो पता लगता है कि जिस जीवन का चित्रण सांची के अर्धचित्रों में दिया गया है उनका धर्म के गूढ़ तत्त्वों से बहुत कम सम्बन्ध है। गुप्तकाल की बौद्ध या शैव या वैष्णव मूर्तियों में आत्मचिन्तन के गूढ़ तत्त्वों का सन्निवेश है। भरहुत तथा सांची की कला में यह बात नहीं पायी जाती, इसका उद्देश्य आत्मचिन्तन तथा साधना को असाधारण जनता के सामने रखना नहीं है, इसका उद्देश्य तो जनसमूह के उस जीवन को रखना है जो बिना किसी बनाव-चुनाव के उनका अपना है। स्खलितवस्त्रा-यौवनोन्मत्ता यक्षिणियों की कल्पना के उद्‌गम स्थान को ढूंढ़ने के लिए हमें बौद्ध या ब्राह्मण धर्म की खोज नहीं करनी चाहिए। इस कला का उद्‌गम तो उस हंसते-खेलते समाज से हुआ, जिसके जीवन में काम और अर्थ की वही महिमा थी जो धर्म और मोक्ष की। अगर हम थोड़ी देर के लिए यह भी मान लें कि जिस लोक-धर्म की व्याख्या सांची के अर्धचित्रों द्वारा की गई है उसका उद्देश्य कामोत्तेजकता की आड़ में धर्मवृद्धि था तो यह कहना पड़ेगा कि वह लोक-धर्म बौद्धों या उपनिषदों की शिक्षा के सर्वदा विपरीत था। इस लोक-धर्म की जड़ तो मातृपूजा की उस प्राचीन परिपाटी में मिलेगी जो संसार के कोने-कोने में फैली हुई थी। यही कारण है कि बौद्ध और ब्राह्मण दार्शनिकों ने अपनी नित्य-साधना में कला को विशेष महत्त्व नहीं दिया। क्योंकि ई० पू० प्रथम शताब्दी तक कला रसास्वादन या ब्रह्मास्वाद का सोपान नहीं हो गई थी। बौद्ध धर्म ने तो कला का माध्यम केवल इसलिए स्वीकार किया कि उसके द्वारा साधारण वर्ग का मन धर्म की ओर आकृष्ट हो सके। यह तभी सम्भव था जब साधारण जनता को मनचीती वस्तु मिले, जो उसकी बुद्धि को कसरत न कराकर ठीक ऐसे अलंकार, आकृतियां तथा दृश्य उनके सामने रक्खे, जिनमें वह अपना प्रतिबिम्ब देख सकें।

विक्रम : ऐतिहासिक उल्लेख

□ श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव

हमारे परम सौभाग्य से वीर विक्रमादित्य का लीलाक्षेत्र अवन्ति-मालवा प्रदेश और उसकी राजधानी उज्जैन, राष्ट्र-संस्कृति के महान् रक्षक एवं प्रचारक पुनीत शिन्दे राजवंश के अधीन होने के कारण हमको भारतीय सभ्यता के उस सर्वोत्कृष्ट पुरुष श्रीविक्रमादित्य के अवतारकृत्य की द्वितीय सहस्राब्दी सम्प्राप्त होने के उपलक्ष्य में, उत्सव सम्पन्न करने का जो विशिष्ट अवसर प्राप्त हुआ है, उसके विषय में केवल इतना ही कथन अलम् होगा कि सुयोग के कारण उनके विषय में हमारे देश के कोने-कोने में जो विविध उत्सव, सहस्रों सभाएं, विभिन्न चर्चा और तत्कालीन भारतीय संस्कृति के विवेचन सम्बन्धी विद्वानों में विचार विनिमय हुआ, यदि वह ग्रन्थ-रूप में प्रकाशित किया जाय तो उसके अनेक सहस्र पृष्ठ सहज ही में हो सकेंगे। भारतीय संस्कृति सम्बन्धी ऐसी विवेचनात्मक और परम रमणीय तथ्यबोधोत्पादक चर्चा कम-से-कम विगत वर्षों में नहीं हुई।

वास्तव में श्री सावरकरजी के शब्दों में 'विक्रम' अब कोई व्यक्ति विशेष नहीं, वरन् वह भारतीय संस्कृति का प्रतीक बन गया है। खाल्डियन, सुमेरियन, ईजीप्शियन आदि सभ्यताएं नष्ट-भ्रष्ट हो गई। आज उनका नामलेवा तक नहीं रहा; किन्तु हम उसी पूज्य पुरुष के वंशज और उत्तराधिकारी दो हजार वर्षों के असंख्य दिवस गिन-गिनकर उनके द्वारा प्रवर्त्तित संवत्सर की द्वि-सहस्राब्दी समाप्ति-उत्सव सम्पन्न करने को जीवित हैं; क्या यह हमारे लिए कम अभिमान और स्फूर्ति का विषय है? विक्रम नामक एक ही व्यक्ति हुआ या अनेक, यह विवाद भी इस बात का परिचायक है कि भारतीय संस्कृति ही एक से अधिक पराक्रमी पुरुषों की परम्परा निर्माण कर सकती है। आज इस देश में शकारि विक्रम का नाम अमर है; क्योंकि उन्हीं के प्रबल प्रताप और पुरुषार्थ के कारण शकों का नामोनिशान तक यहां नहीं रहा। ऐसी दशा में क्या विक्रम का नाम कभी 'यावत् चन्द्र दिवाकरौ' इस धरातल से विस्मृत हो सकता है?

विक्रम नामधारी सम्राट् ईसा से पूर्व हुए या अनन्तर? उस नाम का कोई पुरुष हुआ भी या यह केवल उपाधि है, आदि प्रश्नों के विषय में कई मत हैं।

एक पक्ष प्रबल युक्तियों द्वारा वर्तमान विक्रम-संवत्-प्रवर्तक उस महान् व्यक्ति विक्रमादित्य का ईसा पूर्व 57 वर्ष में होना घोषित करता है तो दूसरा पक्ष गुप्तवंशीय सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त को ही वास्तविक विक्रमादित्य उपाधिधारी बताता है। कुछ विद्वान् आंध्रभृत्य शातकर्णि, पुष्यमित्र, एजेस, कनिष्क, दशपुर के राजा यशोधर्मदेव आदि विभिन्न शासकों को ही विक्रमादित्य घोषित करते हैं। विक्रम शब्द के साथ ही शकारि, कालिदास, नवरत्न, विक्रम-संवत्-गणना की प्रथा आदि विषयों को संयुक्त कर देने से विक्रमादित्य का यथार्थ इतिहास अत्यन्त क्लिष्ट एवम् दुरूह बन गया है। ऐतिहासिक दन्तकथाओं में कुछ विकृति या तोड़-मरोड़ भले ही हो जाए, किन्तु उनका आधार कुछ ऐतिहासिक तथ्य अवश्य ही होता है; अतएव दो हजार वर्षों जैसे लम्बे समय तक जो बात इस देश में प्रचलित हो रही हो, वह सहसा निर्मूल होगी, यह बात मानने को कोई भी तैयार नहीं होगा। अहमदाबाद के प्रसिद्ध इतिहासकार श्री शाह अपने 'प्राचीन भारतवर्ष' में विक्रम की उपाधि धारण करने वाले 15 व्यक्ति बताते हैं, अतएव जिस व्यक्ति का अनुकरण इतने अधिक रूप में पाया जाए, क्या उसके अस्तित्व के विषय में ही शंका प्रदर्शित करना योग्य कहा जा सकता है ? शकारि विक्रमादित्य ईसा पूर्व 57वें वर्ष में अवश्य हुए; इसमें कोई संन्देह नहीं। भारतीय परम्परा के अनुसार जहां एक ही वंश में पूर्वजों के नाम दुहराने की प्रथा अस्तित्व में है, वहां एक से अधिक विक्रम नामधारी व्यक्तियों का प्रमाण मिल जाय तो तत्सं-बन्धी शंका होना भी स्वाभाविक ही है। 25 वर्ष पूर्व किसको ज्ञात था कि हमारे देश में पांच हजार वर्ष पूर्व के 'मोहन जोदड़ो' और 'हड़प्पा' जैसे लुप्त नगर प्रकट होंगे। इसी प्रकार कौन कह सकता है कि यदि सौभाग्य से उज्जैन या मालवा के प्राचीन स्थानों के अवशेषों का उत्खनन किया जाए तो विक्रम सम्बन्धी और भी प्रामाणिक और महत्त्वपूर्ण साधन उपलब्ध नहीं होंगे; अतएव हमें इस लेख के द्वारा यही देखना है कि विक्रम सम्बन्धी वास्तविक तथ्य क्या है ?

विक्रम सम्बन्धी ख्यातों का सारांश तो यही है कि विक्रम उज्जयिनी (अवन्तिका) के राजा गन्धर्वसेन के पुत्र थे। अपने बड़े भाई शंख को मारकर वे गद्दी पर बैठे। अनन्तर अपना राज्य अपने छोटे भाई भर्तृहरि को देकर वे तप करने वन को चले गये; किन्तु भर्तृहरि के राज्य से उदासीन हो जाने के कारण फिर से उन्होंने राजपाट संभाला। उनकी भगिनी का नाम मैनावती था तथा गौड़ देशाधिपति गोपीचन्द उनके भागिनेय थे। विक्रम ने बड़ा यश कमाया और विदेशी आक्रामक शकों का पराभव करके अपने नाम का विक्रम-संवत् प्रचलित किया। वे विद्या और कलाओं के उपासक तथा कालिदासादि नवरत्न पंडितों के आश्रयदाता थे; आदि।

विक्रम सम्बन्धी पैशाची, प्राकृत, अर्धमागधी, संस्कृत तथा हिन्दी, मराठी,

बंगाली, गुजराती आदि भाषाओं में विपुल साहित्य है, और उनसे सम्बन्धित असंख्य कहानियां यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हैं। उनका तुलनात्मक अध्ययन और विवेचन सहजसाध्य बात नहीं है। उनके आधार पर ऐसे विलक्षण प्रश्न उद्भूत होते हैं कि उनके उत्तर भी संतोषजनक रूप से नहीं दिये जा सकते।

विक्रम के कुटुम्बी—पिता, माता, भाई, बहन, भानजा, संवत्-प्रचलन का यथार्थ समय, कालिदासादि नवरत्न, उनकी सभा के पंडित, नाथपंथ आदि प्रश्न भी उनके चरित्र के साथ जोड़ दिये जाएं तो वह 'भानुमति के पिटारे' से कम मनोरंजक और दुर्गम्य नहीं होगा। तत्सम्बन्धी काफी चर्चा हो चुकी है और वर्तमान परिस्थिति में उसके विवेचन का अन्त होना ही असम्भव है, जब तक कि एकाएक पृथ्वी के गर्भ से अन्य दबी-छिपी सामग्री प्रकाश में न आ जाय। अतएव यहां पर इस लेख के द्वारा हम उस महापुरुष सम्बन्धी अब तक के उपलब्ध ऐतिहासिक उल्लेखों का ही विवेचन करेंगे।

ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर यह तो सभी कोई स्वीकार करते हैं कि ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी में पंजाब में मालव नामक एक वीर जाति बसती थी और उनका एक स्वतन्त्र गणराज्य था। लखनऊ पुरातत्व म्यूजियम के अध्यक्ष श्री वासुदेवशरणजी ने खोज की है कि पाणिनि के खंडकादिम्यश्च सूत्र के गणपाठ में 'क्षुद्रकमालवत्सेना संज्ञायाम्' जैसा उल्लेख पाया जाता है, जिससे क्षुद्रक-मालव इन उभय जाति की सेना होना सिद्ध है। सिकन्दरकालीन सभी यूनानी इतिहासकारों ने मालवों के युद्ध का वर्णन किया है। मालवों ने ग्रीकों के साथ बड़ी वीरता से घोर युद्ध किया था। जयपुर राज्य के करकोट नगर में दूसरी शताब्दी ईसा के पूर्व के मालव जाति के अनेक सिक्के प्राप्त हुए हैं, जिन पर 'मालवानांजयः' ऐसा उल्लेख पाया जाता है। इससे ज्ञात होता है कि मालव जाति ने कारणवश या अपने कार्यक्षेत्र को विस्तृत करने के उद्देश्य से पंजाब का परित्याग कर राजपूताने की ओर प्रस्थान किया था।

उस समय राजपूताने में भी मालवों के अतिरिक्त उत्तम भद्रों का गण-राज्य था; अतएव उन दोनों जातियों में संघर्ष हुआ। शकस्थान के शकों की क्षहरात नामक शाखा ने सौराष्ट्र पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था तथा क्षहरातों का तक्षशिला और मथुरा पर भी अधिकार था। सौराष्ट्र के द्वितीय शक राजा नहपान के जामातृ उषवदात ने मालवों के विरुद्ध उत्तम भद्रों को सहायता दी थी, जिसका उल्लेख नासिक गुफा के शिलालेख में पाया जाता है (इं० एं० 8।78)। अनन्तर मालव राजपूताने से प्रस्थान कर वर्तमान मालवा में आ बसे, जिससे यह प्रान्त उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ज्ञात होता है कि मालवों का सौराष्ट्र के क्षहरातोंसे पुनश्च संघर्ष हुआ; अतएव. मालवगणों के नेता ने सैनिक संगठन करके तत्कालीन हिन्दू सम्राट् दक्षिणापथेश्वर सातवाहन

राजराज गौतमीपुत्र श्री सातकर्णि की सहायता से शकों का विनाश करके उन्हें मालवा से खदेड़ दिया; जिसका उल्लेख नासिक प्रशस्ति में पाया जाता है, यथा 'आकरावन्ति राजव, सक यवन-पह्लव निसूदनस वरवारण विक्रम चारु विक्रमस्य' तथा 'खखरात वंस निरवसेस करस' इन लेखों में क्षहरात वंश का निःपात करने का स्पष्ट उल्लेख है। अनन्तर मालवों ने दक्षिणापथेश्वर से सन्धि की एवम् विदेशियों के पराजय तथा स्वराज्य की स्थापना के फलस्वरूप मालवों का संगठन तथा उनके गण की प्रतिष्ठा हुई। वही घटना 'मालवगण स्थिति' को बतलाती है और वही नूतन संवत्-स्थापना का कारण हुई। मालवगणों का अधिपति विक्रमा-दित्य ही था। हमारे पुराणों में कई राजवंशों का उल्लेख पाया जाता है और सौभाग्य से उनमें भी यह घटना अंकित है। भविष्य पुराण में लिखा है कि—

'शकानां च विनाशार्थमार्यधर्मविवृद्धये।
जातः शिवाज्ञया सोऽपि कैलाशात् गुह्य कालयात्'
विक्रमादित्यनामानां पिता कृत्वानुमोदह॥

× × ×

गंधर्वसेनश्च नृपो देवदूतारभजो बलिः
शिवाज्ञया च नृपतिविक्रमस्तनयस्ततः।
शतवर्षं कृतं राज्यं देशभक्तस्ततोऽभवत्।

यदि भविष्य पुराण की रचना आधुनिक भी मान ली जाय तो भी, वायु, मत्स्य, विष्णु आदि पुराणों में गर्दभिल्ल राजा के साथ विक्रमादित्य का वर्णन भी पाया जाता है। उक्त पुराण चतुर्थ शताब्दी से प्राचीन होना सभी को स्वीकार है।

ईसा की प्रथम शताब्दी में सातवाहन राजा हाल ने गाथासप्तशती नामक प्राकृत ग्रन्थ की रचना की, जिसमें विक्रमादित्यनरेश का स्पष्ट उल्लेख है। यथा 'संवाहण सुहरस तोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खम्। चलणेन विक्कमाइत्त चरिअं अणु सिक्खिअं तिस्सा' इसका अर्थ है 'संवाहण (पगचम्पी) से प्रसन्न होकर नायिका के चरण ने तुम्हारे हाथ में लाक्षा (महावर) का रंग संक्रांत करते हुए विक्रम नरेन्द्र के चरित्र को सीखा है। (खंडिता नायिका); क्योंकि विक्रम ने भी सम्बाधन (शत्रु की सेना को बन्धन करने) से सन्तुष्ट होकर अपने भृत्य के हाथ में लक्ष (लाख रुपये) दिये थे।' अब तक कोई विद्वान् उक्त प्रमाण का खण्डन नहीं कर सका है और उससे निर्विवाद सिद्ध है कि ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में विक्रम-संवत् स्थापक विक्रम नरेन्द्र अवश्य हुए हैं।

महाकवि गुणाढ्य ने पैशाची भाषा में बृहत्कथा नामक ग्रन्थ की रचना की, जिसका समय ईसा की द्वितीय शताब्दी निश्चित है। अनन्तर उसी के आधार

पर कवि क्षेमेन्द्र ने बृहत्कथामंजरी नामक ग्रन्थ की रचना की। इन दोनों ग्रन्थों के आधार पर ही कवि सोमदेव ने कथासरित्सागर लिखा। उसमें महेन्द्रादित्य तथा सौम्यदर्शना के तप से प्रसन्न होकर शिवगण माल्यवान् के विक्रम का अवतार लेकर पृथ्वी को म्लेच्छों से छुड़ाने की कथा अंकित की है। इसमें उल्लिखित संकेत 'गण', 'माल्यवान्', 'म्लेच्छ (शक)' आदि विचारणीय हैं जो स्पष्टतया विक्रमादित्य को ही इंगित करते हैं। सोमदेव ने पाटलिपुत्र के एक और विक्रम का उल्लेख किया है; अतएव उक्त उल्लिखित विक्रम मालवाधिप शकारि ही थे।

जैन ग्रन्थों में भी विक्रमादित्य सम्बन्धी उल्लेख पाये जाते हैं और यद्यपि उनका रचनाकाल अनन्तर का है, फिर भी हमें सहसा उनमें वर्णित जनश्रुतियों पर विश्वास करना ही पड़ता है। धनेश्वर सूरि विरचित शत्रुंजयमाहात्म्य (रचना काल विक्रम-संवत् 477), मेरुतुंगाचार्य रचित पट्टावलि, प्रबन्धकोष तथा तेरहवीं शताब्दी में लिखित प्रभावक चरित्र के कालकाचार्य-कथानक से शकारि विक्रम सम्बन्धी बहुत कुछ बातें ज्ञात होती हैं। जैन साधु कालकाचार्य की भगिनी सरस्वती ने भी उस धर्म की दीक्षा ली थी। वह परम सुन्दरी थी। अवन्ति के गर्दभिल्ल राजा ने बलात् उसका अपहरण किया, जिससे कालकाचार्य कुपित होकर शकों को मालवे पर चढ़ाई करने के लिए लिवा लाया और यहां पर उनका राज्य स्थापित हुआ। अनन्तर विक्रमादित्य (गर्दभिल्ल-सुत) ने शकों को पराजित करके पुनः अपना राज्य स्थापित किया और नया संवत् चलाया। उक्त घटना कालकाचार्य-कथानक में निम्न रूप में अंकित की है—

> 'शकानां देशमुच्छेद्य कालेन कियतापि हि।
> राजा श्रीविक्रमादित्यः सार्वभौमोऽपमोभवत्॥
> सच्चोन्नत महासिद्धिः सौवर्णपुरुषोदयात्।
> मेवनीमनृणां कृत्वा व्यरचद्वत्सरं निजम्॥'

अर्थात् विक्रमादित्य ने शकों को नष्ट करके अपना राज्य फिर से सम्पादन किया और उस विजय के उपलक्ष्य में नया संवत् चलाया। प्रभावक चरित्र के मूल प्राकृत चरित्र में भी उक्त श्लोक विद्यमान है और प्रसिद्ध पश्चिमीय पंडित डॉ० स्तीन कोनो तथा केसरी के सम्पादक श्री करन्दीकरजी उसको प्रामाणिक मानते हैं।

काशी विश्वविद्यालय के डॉ० अलतेकर उसे प्रक्षिप्त बताते हैं; किन्तु प्रमाणों से सिद्ध है कि शुंग वंश के अनन्तर मालवा पर परमार राजा का आधिपत्य हुआ। राजा देवदूत परमार का पुत्र गर्दभिल्ल उर्फ गन्धर्वसेन था। उसी का पुत्र विक्रमादित्य था, जो सम्भवतः परधर्मीय जैन सरस्वती की कोख से उत्पन्न होने

के कारण विगमशील भी कहलाता था। गन्धर्वसेन के पहले के चार और उक्त तीन कुल सात राजाओं ने 72 वर्ष तक मालवे पर राज्य किया। मेरुतुंगाचार्य रचित पट्टावलि में उल्लेख है कि नभोवाहन के पश्चात् गर्दभिल्ल ने उज्जैन में 13 वर्ष तक राज्य किया; किन्तु उसके उक्त कथित अत्याचार के कारण कालकाचार्य ने शकों से उसका पराभव कराया। शकों का यहां पर 14 वर्ष तक आधिपत्य रहा; किन्तु गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने शकों से अपना राज्य छुड़ा लिया। विक्रम ने साठ वर्ष तक राज्य किया, उसके पुत्र विक्रमचरित्र उर्फ धर्मादित्य ने 40 वर्ष तक राज्य किया, आदि। धनेश्वर सूरी विरचित शत्रुंजय-माहात्म्य में भी विक्रम का उल्लेख है। उसका रचनाकाल विक्रम-संवत् 477 बताया जाता है; किन्तु डॉक्टर अल्तेकरजी ने यह सिद्ध किया है कि उसमें उल्लिखित शिलादित्य नामक राजा का अस्तित्व ही नहीं था। इस प्रकार अनेक ग्रन्थों में उल्लिखित जनश्रुतियों को अविश्वसनीय क्योंकर माना जाय, जबकि अन्य ऐतिहासिक प्रमाणों से ईसा पूर्व संवत् 60 में शकों का राज्य उज्जैन तक फैला हुआ था और अनन्तर वह नष्ट भी हुआ, तो क्या यह घटना अपने आप घटित हो गई? अस्तु।

यद्यपि ईसा पूर्व मालवा प्रान्त पर मौर्य सम्राट् अशोक तथा अनन्तर कण्व-वंशीय पुष्यमित्र के अधिकार होने के स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध हैं, किन्तु ऐतिहासिक आधार पर यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि अवन्ति देश में स्थान-स्थान पर गणराज्यों का आधिपत्य था, जिनके पचासों प्रकार के कार्षापण अर्थात् पंचमार्क सिक्के हमको उपलब्ध हुए हैं; अतएव सम्भव है कि चक्रवर्तित्व या सम्राट् के नाते वे गणराज्य भी देशकाल की परिस्थिति के अनुसार उनके करद राज्य हो गए हों। विक्रमादित्य का वंश उन्हीं गणराज्यों में से एक था। मालवा में घोषमति (मौजा धसोई, परगना सुवासरा), उज्जैन, महेश्वर आदि प्राचीन स्थानों पर गन्धर्वसेन सम्बन्धी कई प्रकार की कहानियां प्रचलित हैं।

पौराणिक आख्यानों तथा नाथपंथ सम्बन्धी ग्रन्थों में भी इस सम्बन्धी उल्लेख पाये जाते हैं। सुलोचन गन्धर्व के शापित होकर एक कुम्हार (कमठ-कुल्लाल) के यहां खर होने तथा राजकन्या सत्यवती से उनका परिणय आदि बातें नवनाथ भक्तिसार जैसे मध्यकालीन मराठी ग्रन्थों में पायी जाती हैं।

विक्रमादित्य ने ही महाराजा शातकर्णि की सहायता से शकों का पराभव किया; अतएव उनका शकारि कहलाना सर्वथा स्वाभाविक है। वही विचारणीय घटना नूतन विक्रम-संवत् स्थापित करने का कारण हुई। उक्त घटना की ऐतिहासिकता के विषय में मतभेद नहीं है किन्तु मालवा में उपलब्ध प्राचीन शिलालेखों के आधार पर डॉक्टर अल्तेकरजी का कहना है कि उनमें केवल 'कृत' नामक संवत् का उल्लेख है; मालव तथा विक्रम शब्द उसके साथ

बाद को जोड़े गए हैं; अतएव कृत नामक किसी वीर ने ही उसको प्रचलित किया है।

ईसा पूर्व 57वें वर्ष नूतन संवत् प्रचलित होने, शकों का मालवा में पराजय आदि ऐतिहासिक घटनाओं के विषय में तो उक्त डॉक्टर महोदय को कोई आक्षेप नहीं है। केवल संवत्-प्रतिष्ठाता के नाम का ही प्रश्न सुलझाने को रह जाता है। हाल के विवाद में ही अल्तेकरजी ने उक्त प्रश्न उपस्थित किया है। उसके उत्तर में कोई कहता है कि कृत्तिका-नक्षत्र और कार्तिक से विक्रम-संवत् आरम्भ होने के कारण ही वह आरम्भ में 'कृत' कहलाया तो कोई साठ संवत्सरों की कल्पना के साथ ही आविर्भूत नूतन संवत्-प्रचलन के कारण नूतन-कृत ज्योतिष सिद्धान्त ही उक्त नामकरण का कारणीभूत होना बताते हैं। म्लेच्छों के पराभव के कारण कृत अर्थात् सतयुग प्रचलित होने की बात भी कही जाती है। किन्तु पौर्वात्य और पाश्चात्य पंडित यह तो एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि ईसा पूर्व 57वें वर्ष नूतन संवत् अवश्य ही प्रचलित हुआ, अलबत्ता उसके प्रतिष्ठापक के विषय में मतभेद है।

सबसे पहले प्रसिद्ध पश्चिमीय पंडित फरगुसन ने यह प्रतिपादित किया कि संवत् 544 में कोरूर स्थान पर शकों का पराभव हुआ था। अतएव उसके उपलक्ष्य में उक्त संवत् उज्जैन के राजा हर्ष (मन्दसौर के राजा यशोधर्मदेव) ने प्रचलित किया; किन्तु इसके पूर्व के संवत् 493 तथा 529 के शिलालेख मन्दसौर में प्राप्त हो चुके हैं; अतएव फरगुसन की बात अपने आप ही खण्डित हो जाती है। डॉ० फ्लीट ने कनिष्क के राज्यारोहण से उसका सम्बन्ध स्थापित किया; किन्तु उसका समय अनन्तर का है और नूतन खोज से वही शक-संवत् का प्रचलित करने वाला सिद्ध हो चुका है।

डॉक्टर विंसेण्ट स्मिथ ने गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वितीय को उसका प्रतिष्ठापक माना है; किन्तु गुप्तों का अपना निजी स्वतंत्र संवत् था। साथ ही उसका समकालीन आज तक कोई ऐसा शिलालेख नहीं मिला, जिसमें किसी संवत् के साथ विक्रम का नाम जुड़ा हो।

डॉक्टर कीलहार्न ने कार्तिक मास में युद्ध के लिए प्रस्थान करने की ऋतु होने से विक्रम-संवत् की उत्पत्ति बताई है, तो डॉक्टर मार्शल ने पार्थियन राजा 'एजेस' द्वारा उसका प्रचलित करना बताया है; किन्तु उसका समय तथा मालवा से सम्बन्ध होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। भारतीय पंडितों में से डॉक्टर भाण्डारकर ने पुष्यमित्र के शकों के पराजित करके ब्राह्मण धर्म की प्रतिष्ठा करने के उपलक्ष्य में 'कृत' संवत् की प्रतिष्ठा होना बताया है; किन्तु शुंग नरेश का शासनकाल 180 ईसा पूर्व था। श्री गोपाल अय्यर ने Chronology of Ancient India में गिरनार लेख के आधार पर रुद्रदामन् को

विक्रम-संवत् का प्रतिष्ठापक बतलाया है। किन्तु वह भी ठीक नहीं जंचता। स्वर्गीय डॉक्टर काशीप्रसाद जायसवालजी ने गौतमीपुत्र शातकर्णि को ही नासिक गुफा-लेख के विक्रम शब्द के आधार पर तथा मालवगणों की सहायता से शकों का संहार करने के उपलक्ष्य में उक्त विरुद धारणा करने तथा नूतन संवत् प्रचलित करने की बात कही है; किन्तु दक्षिणापथ के राजा का मालवा में संवत् प्रचलित करना असम्भव मालूम पड़ता है। साथ ही शिलालेखों में विक्रम शब्द केवल पराक्रम के लिए उपयुक्त हुआ है, क्योंकि शातकर्णि के अन्य लेखों या सिक्कों पर उक्त विरुद पाया नहीं जाता।

समुद्रगुप्त महान् पराक्रमी सम्राट् था। उसकी हाल ही में कुछ स्वर्ण-मुद्राएं होलकर राज्य के भीकन गांव के निकट उपलब्ध हुई हैं। उनमें एक मुद्रा पर 'श्री विक्रमः' जैसा स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। उसमें कम-से-कम स्मिथ का यह कथन तो असत्य साबित हो चुका है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ही सबसे पहले विक्रमादित्य विरुद धारण किया था। समुद्रगुप्त महान् पराक्रमी सम्राट् थे; इसीलिए कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि वे ही विक्रमादित्य हों; किन्तु यह बात भी जंचती नहीं; क्योंकि समुद्रगुप्त रचित श्रीकृष्ण-चरित-ग्रन्थ उपलब्ध हो चुका है, जिसमें राजा शूद्रक के विक्रमादित्य होने की बात लिखी है; किन्तु शूद्रक सम्बन्धी अभी तक कोई प्रामाणिक ऐतिहासिक साधन उपलब्ध नहीं हुए; इसीसे कुछ विद्वान् पुष्यमित्र को ही शूद्रक होने की कल्पना करते हैं। पुष्यमित्र कदापि संवत् प्रवर्तक नहीं हो सकता, इसका विवेचन हम ऊपर कर आये हैं।

उक्त विभिन्न विचार-प्रणाली के आधार पर यह तो निःसंकोच कहा जा सकता है कि अभी तक बहुमत विक्रमादित्य सम्बन्धी मत स्थिर नहीं कर सका है।

अब हम विक्रम-संवत् सम्बन्धी विभिन्न मतों का अवलोकन करेंगे। अब तक मालवा या अन्यत्र जितने भी शिलालेख उपलब्ध हो चुके हैं। उनमें सबसे प्राचीन लेख जयपुर राज्यान्तर्गत बरनाला ग्राम में प्राप्त संवत् 284 के यूप लेख पर 'कृतेहि' (=कृत) नामक एक संवत् का उल्लेख पाया जाता है। कोटा राज्य के बड़वा के संवत् 295 तथा उदयपुर राज्य के नानका ग्राम के संवत् 282 में भी उसी कृत संवत् का उल्लेख है। इसी कृत संज्ञा का यथार्थ अर्थ मालवा प्रान्त के मन्दसौर में भी प्राप्त संवत् 461 "श्रीमालव गणाम्नाते प्रशस्ते कृत संज्ञिते। एकषष्ट्यधिके प्राप्ते, समाशत चतुष्टये।' के लेख में पाया जाता है।

अर्थात् मालवगण द्वारा स्थापित कृत-संवत् का उसमें स्पष्ट उल्लेख है। संवत् 493 तथा 589 के मन्दसौर के लेखों तथा नगरी के संवत् 481 के लेख में 'मालवगणस्थितिवशात्कालज्ञानाय विहितेषु', 'मालवा पूर्वयाम्' जैसे उल्लेखों से

उसका परिणाम ठीक विक्रम-संवत् से मिलता-जुलता है। ग्यारसपुर (भेलसा) के संवत् 936 वाले लेख में उसे मालव देश का संवत् बताया है। इससे यह सिद्ध है कि विक्रम-संवत् मालवा के मालवगण द्वारा ही प्रचलित हुआ था। जब बहुत-काल बीत जाने पर सर्व साधारण जनता को मालव-गणाधिपति विक्रमादित्य की विस्मृति होने लगी, तब मालव-संवत् बाद में विक्रम-संवत् में परिणत किया गया, जो उस महापुरुष की स्मृति अमर रखने के सर्वथा योग्य था। विक्रम-संवत् का सबसे पहला उल्लेख धौलपुर में प्राप्त चण्डमहासेन के संवत् 898 के शिला-लेख में पाया जाता है। अनन्तर बीजापुर के राष्ट्रकूट विदग्धराज के संवत् 973 वाले लेख में 'विक्रमगतकाल' तथा नवसारी में प्राप्त चालुक्य कर्कराज के संवत् 1131 के ताम्रपट में भी 'विक्रमादित्योत्पादित संवत्सर' जैसा उल्लेख पाया जाता है। इससे यह सिद्ध है कि जिस प्रकार गुप्त-संवत् अनन्तर वल्लभी में परिवर्तित हो गया, उसी प्रकार मालव-संवत् का भी विक्रम-संवत् में रूपान्तर हो गया। गुजरात के चालुक्यों ने उसका खूब प्रचार किया।

इस प्रकार हम महान् सम्राट् विक्रमादित्य तथा विक्रम-संवत् सम्बन्धी विभिन्न इतिहासकारों के दृष्टिकोणों का विहंगावलोकन कर चुके। अभी स्पष्ट प्रमाणाभाव के कारण तत्सम्बन्धी एक मत नहीं हो सका है। अतएव हमें भावी अन्वेषण की बाट देखना ही उचित मालूम देता है। जनश्रुतियां तथा प्राप्त साधनों के आधार पर तो यही कहना अलम् होगा कि—

यत्कृतम् यन्न केनापि, यद्दत्तं यन्न केनचित्।
यत्साधितमसाध्यं च विक्रमार्केण भूभुजा॥

अर्थात् विक्रमादित्य ने वह किया जो आज तक किसी ने नहीं किया, वह दान दिया जो आज तक किसी ने नहीं दिया तथा वह असाध्य साधना की जो आज तक किसी ने नहीं की; अतएव उनका नाम अमर रहेगा।

विक्रम का न्याय

☐ मेजर सरदार श्री कृ० दौ० महाडिक

जिस प्रकार आज कोई भारतवासी यह जानने का प्रयत्न नहीं करता कि राम और कृष्ण भारतीय इतिहास के किस काल में हुए थे और वे ऐतिहासिक व्यक्ति हैं भी या नहीं, परन्तु उनको अपने जीवन का आदर्श तथा उद्धारक मानता है; ठीक उसी प्रकार भारतवर्ष की जनता में विक्रमादित्य भी ऐतिहासिक राजा न होकर भारत-वर्ष के आदर्श नरेश की भावना-मात्र रह गया है। विक्रमादित्य का नाम लेते ही हमारे हृदय-पटल पर एक आदर्श नृपति की तसवीर खिंच जाती है। विक्रमादित्य के विषय में प्रचलित दन्तकथाओं में ऐतिहासिक सत्य कितना है, यह विवाद की बात है, परन्तु उनमें भारतीय जनता की विक्रम-भावना का पूर्ण समावेश है, इसमें सन्देह नहीं।

भारतीय न्याय का सच्चा आदर्श क्या इसे पूरी तरह जानने के लिए हमें प्राचीन स्मृतियों के साथ इन विक्रम-विषयक दन्तकथाओं से भी सहायता मिल सकती है। विक्रमादित्य के न्याय के विषय में एक कथा नीचे लिखे प्रकार से जनता में प्रचलित है। महाराज विक्रमादित्य रात्रि में अपनी राजधानी में गश्त लगाया करते थे। एक दिन जब वे वेश बदले घूम रहे थे तो उन्होंने देखा कि कुछ चोर चोरी करने की तैयारी में हैं। राजा ने सोचा कि इन्हें दण्ड देने की अपेक्षा इनका सदा के लिए सुधार कर देना अधिक उचित होगा। इस विचार से राजा उनसे मिले और अपने आपको उनका सहधर्मी बतलाकर उनके साथ हो लिये वे लोग एक धनवान व्यक्ति के यहां चोरी करने गये और बहुत-सी सम्पत्ति ले आए। जब उस सम्पत्ति का बंटवारा हो रहा था उस समय महाराज वहां से चल दिए और नगर-रक्षकों द्वारा उन चोरों को पकड़वाकर सवेरे दरबार में उपस्थित करने को कहा। दूसरे दिन दरबार में चोरों ने देखा कि रात का उनका साथी स्वयं सिंहासन पर बैठा है। उन्होंने कहा—'राजा ! जिस कार्य में आप स्वयं हमारे साथ थे, उसमें हमें दंड कैसा?' राजा ने उनसे कहा कि तुम्हारे बचने का एक ही मार्ग है। यदि तुम कभी चोरी न करने का प्रण करो

और आगे परिश्रम करके अपनी जीविका उत्पन्न करने का वचन दो तो तुम्हें मुक्ति मिल सकती है। उनके वचन देने पर राजा ने उन्हें मुक्त कर दिया, उनके रोजगार का उचित प्रबन्ध कर दिया और धनवान व्यक्ति का सब धन उसे वापस लौटा दिया।

यह केवल किंवदन्ती है। इसे इतिहास-सिद्ध बात माना जाए, यह मेरा आग्रह नहीं है। मैं तो केवल इतना कहना चाहता हूं कि इस छोटी-सी कहानी में न्याय के सम्बन्ध में वह भावना छिपी हुई है, जिसे भारतवर्ष ने सदा से आदर्श मान रखा है। यही कारण है कि यह लोककथा भारतीय नरेश के आदर्श—विक्रम—के साथ जोड़ दी गई है। इसलिए, विक्रम की न्याय-भावना, अर्थात् भारतीय न्याय-भावना का आदर्श जानने के लिए इस कथा में छिपे तत्त्वों का विश्लेषण करना उचित होगा। ये तत्त्व निम्नलिखित हैं—

(1) अपराधों की ओर से तटस्थ रहने से समाज का कल्याण नहीं होता। हमारा प्रधान उद्देश्य अपराधी का सुधार होना चाहिए। इस प्रकार एक अपराधी सुधरकर अच्छा नागरिक तो बन ही जाएगा, साथ ही अपराध बन्द होकर प्रजा को सुख-शान्ति मिलेगी।

(2) अपराधी को दण्ड देने का विचार प्रधान न होना चाहिए। प्रधान बात तो यह है कि ऐसे साधन काम में लाए जाएं, कानून ऐसे बनाये जाएं जिससे अपराधों की रोक हो।

(3) प्रजा में सुख-शान्ति रहे, उसके धन-जन की हानि न हो, यह देखने का कर्त्तव्य शासन (गवर्नमेण्ट) का है। यदि किसी की चोरी हो जाए तो या तो चोरों का पता लगाकर उनसे वह धन असल धनी को दिलाया जाए था उनसे दिलाया जाए जिनके जिम्मे सुरक्षा का काम हो।

अब आगे हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि ये भावनाएं जो विक्रम सम्बन्धी एक लोककथा में गुंथी हुई हैं, वास्तव में भारतीय न्याय की मूल भावनाएं हैं।

अपराधों की रोक की ओर हमारे शास्त्रकार विशेष ध्यान देते रहे हैं। वे दण्ड का उद्देश्य यही मानते थे। मनुस्मृति में लिखा है कि दण्ड समस्त प्रजा का शासन करता है, दण्ड ही सब लोगों की रक्षा करता है (दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः दण्ड एवाभिरक्षति। मनुस्मृति, अध्याय 7, श्लोक 18)। इस प्रकार प्राचीन काल में दण्डों के प्रकार ऐसे रखे गए थे, जिससे अपराध करने की प्रवृत्ति रुके। प्रारम्भ में अपराधी को केवल 'धिग्दण्ड' देना ही काफी समझा जाता था। उससे यह आशा की जाती थी कि केवल डांट-फटकार करने एवं समझा देने से ही वह अपराध करने से रुक जाएगा और वह भला नागरिक बनेगा। इतने पर भी यदि वह न सुधरे और घोरतर अपराध करे तब समाज को उससे सजग

रखने के लिए उसके शरीर पर कोई इस प्रकार का चिह्न बना देते थे, जिससे स्पष्ट प्रकट हो कि उसे अपराध करने की आदत है। साथ ही उसका अंग भंग करके उसे अपराध करने से असमर्थ कर दिया जाता था। उदाहरण के लिए जब कोई व्यक्ति बार-बार जेब काटने का अपराध करता पाया जाता था तो उसका हाथ काट डालते थे। इस प्रकार वह उस दुष्ट कर्म के करने से असमर्थ हो जाता था। यह स्मरण रहे कि ऐसे भयंकर दण्ड असाध्य अपराधियों को ही दिए जाते थे।

इसके अतिरिक्त नागरिकों का यह कर्त्तव्य रखा गया था कि वे अपराध होने की रोक करें। यदि किसी के सामने कोई अपराध हो रहा हो और वह उसे रोके नहीं तो उसे भी दण्ड दिया जाता था। यदि कोई व्यक्ति किसी को चोट पहुंचा रहा हो और कोई अन्य व्यक्ति वहां खड़ा हो तो उसका कर्त्तव्य है कि वह निर्बल की रक्षा करे। ऐसा न करने पर उसे दण्ड मिलता था।

चोरी आदि से जिसकी हानि होती थी उसकी पूर्ति भी करायी जाती थी। यदि चोर अथवा डाकू पकड़ा न जा सके तब हानि को पूरा कराने के विषय में शास्त्रकारों ने जो नियम बनाए हैं, वे जानने योग्य हैं। नारद स्मृति में लिखा है कि यदि गोचर भूमि के भीतर डकैती हुई हो तो उस भूमि के स्वामी का कर्त्तव्य है कि वह अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर डाकू को पकड़े, और यदि डाकुओं के खोज उस भूमि के बाहर जाते न मिलें तो उससे, डाके में गया धन दिलाया जाएगा। यदि डाकुओं के खोज उस भूमि के बाहर चले गए हों तो वह धन पड़ोसी मार्गपाल (Watchman) तथा दिग्पाल (Governor) को देना होगा।

याज्ञवल्क्य ने इस विषय पर लिखा है कि जिस ग्राम की सीमा में डकैती हो उसको या जिस ग्राम तक डाकुओं के खोज मिलें उस ग्राम को डाके का धन देना चाहिए, और जब डकैती एक कोस से दूर हुई हो तो आसपास के पांच ग्रामों से धन दिलाया जाय (याज्ञवल्क्यस्मृति, अध्याय 2, श्लोक 272)।

मनुस्मृति में लिखा है कि जब किसी अपराधी को राजा द्वारा दण्ड प्राप्त हो जाता है तब वह अपने पाप से पूर्णतः मुक्त हो जाता है (मनुस्मृति, अध्याय 8, श्लोक 318)। इससे स्पष्ट है कि दण्ड प्राप्त कर लेने के पश्चात अपराधी पूर्ण नागरिक अधिकार प्राप्त कर लेता था। वह फिर इस बात के लिए स्वतन्त्र था कि समाज में भला जीवन व्यतीत करे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विक्रम के न्याय से सम्बन्धित ऊपर लिखी हुई लोककथा में भारतवर्ष के न्याय-सम्बन्धी आदर्श की भावना पूर्णतः निहित है। इनके विपरीत यदि हम आज के कानूनों को इन सिद्धान्तों की कसौटी पर कसें तो वह उतने खरे नहीं उतरेंगे। आज का कानून अन्धे के हाथ की लकड़ी

अधिक है। वह अपराधी को ताड़ना करना ही जानता है। योरप में न्याय की मूर्ति अन्धी बनाई जाती है। उसे केवल दण्ड देने से मतलब है। उसका प्रभाव क्या होगा, अपराधी सुधरेगा या नहीं, यह उसे दिख ही नहीं सकता। परन्तु हमारे शास्त्रों में न्याय की कल्पना अन्धे के रूप में नहीं की गई है। वह अपराध रोकना और अपराधी का सुधार करना अपना प्रधान कर्त्तव्य मानता है। अत: आवश्यकता इस बात की है कि आगे हमारे कानून विक्रम की न्या.य की भावना से युक्त बनाए जाएं और उनके निर्माण के समय भारतीय सिद्धान्तों पर भी पूर्ण विचार कर लिया जाए।

विक्रमकालीन न्यायालय

□ श्री गोविन्दराव कृष्णराव शिन्दे,
□ श्री हरिहरनिवास द्विवेदी

भारतीय संस्कृति का विकास—प्राचीन भारतीय संस्कृति की यह एक विशेषता रही है कि देश में अनेक राजनीतिक हलचलों के होते हुए भी उसके विकास में कोई बाधा नहीं आई है। जो नवीन परिस्थिति उत्पन्न होती थी, उसका समन्वय करके और उसे अपने आप में घुला-मिलाकर वह आगे बढ़ने लगती थी। इसका प्रधान कारण तो यह था कि जब नगरों और राज्यों में राजवंश बदलते थे उस समय भारत की ग्राम-संस्था तथा यहां के ऋषि-मुनियों के आश्रम सुरक्षित ही रहते थे। समाज का नियन्त्रण करने वाले शास्त्रों की रचना होती थी इन आश्रमों में और उनका पालन होता था ग्रामों में। भारतीय संस्कृति के ये दो मूलाधार जब तक अविचल रहे तब तक भारतीय संस्कृति नियमित तथा दृढ़ रूप से प्रगति करती रही। प्राचीन भारत के न्यायालयों तथा उनके द्वारा प्रयुक्त नियमों आदि पर विचार करते समय भी इस तथ्य पर ध्यान रखना आवश्यक है। बहुत समय तक अविच्छिन्न रहने वाले प्रवाह द्वारा निर्मित होने के कारण न्यायालय एवं न्याय की भावना प्राचीन भारत में प्रायः एक-सी रही। बाह्य परिस्थितियों के कारण कुछ विस्तार की बातों में भले ही अन्तर आ जाय, परन्तु मूल सिद्धान्त वे ही रहे हैं।

विक्रमकालीन न्यायालय से तात्पर्य—इस बात का निर्णय तो इतिहास के विद्वान् करेंगे कि विक्रमादित्य कौन थे, वह केवल एक विरुद है अथवा नाम? वे चक्रवर्ती चन्द्रगुप्त थे अथवा मालवगण के नेता? हमारे निबन्ध के आशय के लिए तो यह मानना ही बहुत है कि विक्रमीय संवत्सर दो सहस्र वर्ष पुराना है, भले ही उसके नाम बदलते रहे हों। और हम जब विक्रमकालीन न्यायालयों पर विचार करना चाहते हैं तो हमारा काम केवल इतने से चल जाता है कि हम ईसवी पूर्व प्रथम शती के आसपास के भारतीय न्यायालयों की खोजबीन करें।

उस समय के न्यायालयों से सम्बन्धित शास्त्रों की जब हम खोज करने निकलते हैं तो हमारी दृष्टि मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्य स्मृति पर पड़ती है। भारतीय इतिहास के पंडित मनुस्मृति का रचनाकाल ईसा से 170 वर्ष पूर्व के लगभग मानते हैं और याज्ञवल्क्य का समय ईसा की दूसरी शताब्दी बतलाया जाता है। इस बीच में इन्हीं दोनों स्मृतियों के सिद्धान्त माने जाते थे। अतएव यदि अपने विषय का प्रतिपादन हम इन दोनों स्मृतियों को प्रधान आधार बनाकर करें तो हम लगभग यह कह सकते हैं कि हमने विक्रमकालीन न्यायालय का विवेचन किया है। इन दोनों स्मृतियों के अतिरिक्त यदि अन्य ग्रन्थों का सहारा लिया जाय तब इन न्यायालयों का चित्र और भी स्पष्ट हो जाता है। अतः इन दोनों स्मृतियों को मूलाधार बनाकर साथ-साथ तद्विषयक अन्य ग्रन्थों का उपयोग भी इस लेख में किया गया है।

मामलों के पद—आज जिस प्रकार न्यायालय अपराध अथवा सम्पत्ति सम्बन्धी दो विभागों में बंटे हुए हैं उस प्रकार प्राचीनकाल में नहीं थे। एक ही न्यायालय दोनों प्रकार के मामलों में निर्णय दे देता था। मनु ने सम्पूर्ण मामलों को अठारह भागों में बांट दिया है—(1) ऋण, (2) धरोहर, (3) बिना स्वामित्व के कोई माल बेच देना, (4) साझेदारी, (5) दी हुई वस्तु वापिस लेना, (6) वेतन न देना, (7) ठहरावों का पालन न करना, (8) क्रय-विक्रय में बदल जाना, (9) पशुओं के स्वामी तथा पालकों के बीच विवाद, (10) सीमा-विवाद, (11) मारपीट, (12) गाली, (13) चोरी, (14) साहस, (15) व्यभिचार, (16) पति-पत्नी के कर्तव्य, (17) बंटवारा और, (18) जुआ।[1]

नारद ने इनको एक सौ तीस प्रकारों में विभाजित कर दिया है। इस प्रकार प्रायः सभी साम्पत्तिक एवं अपराध सम्बन्धी झगड़े इन 'पदों' पर चल सकते थे।

---

1. तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः।
सम्भूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च॥
वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः।
क्रयविक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः॥
सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके।
स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसंग्रहणमेव च।
स्त्रीपुंधर्मो विभागश्च द्यूतमाह्वय एव च
पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह॥ (मनु०, अ० 8, श्लो० 4-7)

राजा का कर्त्तव्य—न्यायदान करना राजा का प्रधान कर्त्तव्य था। राज्य में जो पाप अथवा अनाचार किए जाते थे उनका उत्तरदायित्व राजा पर होता था। यदि राजा द्वारा किसी निरपराध को दण्ड मिल जाय अथवा अपराधी को दण्ड न मिले तो उसे अपयश के अतिरिक्त नरकवास का भय था।[1] राजा से तात्पर्य उस व्यक्ति से है जिसको प्रजा के शासन का अधिकार हो, यह आवश्यक नहीं है कि वह क्षत्रिय ही हो। इसके अतिरिक्त इससे यह ज्ञात होता है कि स्मृतिकार की दृष्टि में केवल राजतन्त्र ही नहीं थे, गणतन्त्र भी थे। न्याय करते समय नृप को क्रोध और लोभ से रहित होना चाहिए। न्यायदान में व्यक्तिगत द्वेष अथवा अन्य कारणों से उत्पन्न हुए क्रोध को भी स्थान नहीं था और न आर्थिक लाभ को स्थान था।[2]

न्यायालय के सदस्य—इतने प्रतिबन्धों के साथ भी राजा अकेला न्यायदान करने के लिए नहीं बैठता था। याज्ञवल्क्य ने लिखा है कि न्याय करते समय राजा के पास सम्मति देने वाले ब्राह्मण भी होने चाहिए और उसे ऐसे सभासद भी (जिनकी संख्या सात, पांच या तीन होनी चाहिए) अपने साथ के लिए चुन लेने चाहिए जिनमें नीचे लिखे गुण हों[3]—

---

1. अदण्ड्यान्दण्डयन्राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ।
   अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ।। (मनु० अ०, 8, श्लो० 129)
2. यह व्यवस्था भारत के न्याय की ईसवी सन् के बहुत पूर्व की है। इसके विपरीत इसकी उस समय के बहुत बाद की योरोप में प्रचलित न्याय-प्रणाली से तुलना करना उपयोगी होगा। नॉरमन काल की न्याय पद्धति पर लिखते हुए कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के राजनियम के अध्यापक श्री जैक्सन लिखते हैं—
   "The holding of Courts was not thought of as being a public service. The right to hold a Court and take the profit to be made, was more in the nature of private property. It was on the same footing as the right to run a ferry and exclude anyone else from running a ferry in competition."
   'The Machinery of Justice in England' p.2.
3. श्रुताध्ययनसम्पन्ना धर्मज्ञाः सत्यवादिनः ।
   राज्ञा सभासदः कार्याः रिपौ मित्रे च ये समाः ।। (याज्ञवल्क्य)

(१) जो मीमांसा, व्याकरण आदि जानते हों,
(2) जिन्होंने वेदादि का अध्ययन किया हो,
(3) जो धर्मशास्त्र जानते हों,
(4) जो सत्यवक्ता हों और
(5) जो शत्रु तथा मित्र को समान समझते हों।

इनके अतिरिक्त कात्यायन ने यह भी लिखा है कि सभा में ऐसे वैश्यों को भी बैठाया जाय जो धर्मशास्त्र के नियम समझते हों।

अन्य अधिकारी—राजा को चाहिए कि ऐसे दो व्यक्तियों को क्रमशः गणक[1] (Accountant) तथा लेखक (Scribe) नियुक्त करे[2] जिनमें नीचे लिखे गुण हों—

(1) जो व्याकरण जानते हों,
(2) जो अभिधान (कोष) के जानकार हों,
(3) जो पवित्र हों और
(4) जो विभिन्न लिपियों के ज्ञाता हों।

इनके अतिरिक्त एक सत्यनिष्ठ, विश्वसनीय एवं बलिष्ठ शूद्र साध्यपाल के रूप में नियुक्त किया जाता था, जो साक्षियों और वादी-प्रतिवादियों को लाता था तथा उनकी रक्षा करता था एवं मामलों के अन्य साधन उपलब्ध करता था।

प्राड्विवाक—इस अधिकारी की स्थिति राजा की उपस्थिति में कुछ स्मृतियों में अनिश्चित-सी है। याज्ञवल्क्य स्मृति में ऊपर उल्लिखित अधिकारियों के अतिरिक्त, राजा के उपस्थित रहते और किसी अधिकारी की आवश्यकता नहीं बतलाई है। परन्तु नारद[3] और व्यास की यह सम्मति ज्ञात होती है कि राजा की मौजूदगी में भी प्राड्विवाक (मुख्य न्यायाधीश) होना चाहिए। इनके मतानुसार इसका कार्य राजा की उपस्थिति में अर्थी और प्रत्यर्थी से प्रश्न करना और उसके कथनों की जांच करना है।

सभा मण्डप—राजा, ब्राह्मण और सभासद आदि की यह सभा न्यायदान

---

1. शब्दाभिधानतत्त्वज्ञो गणना कुशलौ शुची।
   नानालिपिज्ञौ कर्तव्यौ राजा गणकलेखकौ॥
2. इन गणक और लेखक को मृच्छकटिक में क्रमशः 'श्रेष्ठि' और 'कायस्थ' कहा है।
3. धर्मशास्त्रं पुरस्कृत्य प्राड्विवाकमते स्थितः।
   समाहितमतिः पश्येद्व्यवहाराननुक्रमादिति॥

करती थी। जिस भवन में यह सभा बैठती थी, वह 'व्यवहार-मण्डप' या 'अधिकरण-मण्डप' कहलाता था।[1] कात्यायन उसे 'धर्माधिकरण' नाम देते हैं और लिखते हैं कि 'धर्माधिकरण' वह स्थान है, जहां धर्मशास्त्र के अनुसार सत्य और असत्य में भेद किया जाता है और जो वास्तव में न्याय का स्थान है।[2] इसके निर्माण के विषय में बृहस्पति लिखते हैं कि राजा को गढ़ के भीतर एक ऐसा भवन बनवाना चाहिए जिसके चारों ओर जल एवं वृक्ष हों और उसमें पूर्व की ओर उचित रूप से निर्मित पूर्वाभिमुख 'धर्माधिकरण' होना चाहिए।[3]

समय और छुट्टियां—कात्यायन और बृहस्पति यह निश्चय करते हैं कि मामलों को दोपहर के पूर्व सुनना चाहिए। सूर्योदय के पश्चात् डेढ़ घण्टे से लेकर दोपहर तक न्याय सभा का कार्य चलता था।

संवर्त के अनुसार प्रत्येक पक्ष की अष्टमी, त्रयोदशी, चतुर्दशी और अमावस्या तथा पूर्णिमा को न्यायालय का कार्य नहीं करना चाहिए।[4]

निर्णय—ऊपर लिखे विवेचन से यह तो स्पष्ट ही है कि राजा का न्याय-दान में सबसे प्रधान स्थान था। परन्तु वह निरंकुश नहीं था। राजा का कर्त्तव्य था कि धर्मशास्त्र के नियमों का पालन करते हुए और प्राड्विवाक की सम्मति पर स्थिर रहते हुए एकचित्त होकर क्रमानुसार मामलों का निपटारा करे।[5] राजा को स्वर्ग तभी प्राप्त हो सकेगा, जब वह प्राड्विवाक, अमात्य, ब्राह्मण, पुरोहित और सभ्यों की सहायता से धर्मशास्त्र के अनुसार मामलों पर विचार करेगा।

राजा अपने अधिकार का दुरुपयोग नहीं करे, इसके लिए ऊपर लिखे स्वर्ग और नरक के प्रलोभन तथा भय तो थे ही, साथ ही राजा को अभिषेक के समय प्रतिज्ञा भी लेनी होती थी। मनु ने राजा के लिए दण्ड की भी व्यवस्था की

---

1. अरे शोधनक ! व्यवहारमंडपं गत्वासनानि सज्जी कुर्वीत.......
   विविक्तः कारितो मयाधिकरण मंडपः ॥ (मृच्छकटिकम्, नवम् अंक)
2. धर्मशास्त्रविचारेण सारासार विवेचनम्।
   यत्राधिक्रियते स्थाने धर्माधिकरणं हि तत्॥
3. दुर्गमध्ये गृहं कुर्याज्जलवृक्षाश्रितं पृथक्।
   प्राग्दिशि प्राङ्मुखीं तस्य लक्षण्यां कल्पयेत्सभाम्॥
4. चतुर्दशी ह्यमावस्या पौर्णमासी तथाऽष्टमी।
   तिथिष्वासु न पश्येत व्यवहारान्विचक्षणः॥
5. धर्मशास्त्रं पुरस्कृत्य प्राड्विवाक मते स्थितः।
   समाहितमतिः पश्येद्व्यवहाराननुक्रमादिति॥ (नारद 1, 35)

है।[1] और कौटिल्य ने राजा को यह चेतावनी दी है कि स्वेच्छाचारी राजा का नाश हो जाता है।[2] इस प्रकार प्राचीन भारत में इस बात के पर्याप्त बन्धन थे, जिसके कारण राजा अन्याय नहीं कर सकते थे।

राजा के पश्चात् न्याय में प्रधान हाथ प्राड्विवाक का था। राजा की उपस्थिति में वह राजा को न्याय करने में सम्मति देता था और राजा की अनुपस्थिति में वह प्रधान न्यायाधीश होता था। परन्तु उस दशा में भी संभवतः प्राड्विवाक का निर्णय राजा के पास अन्तिम स्वीकृति को जाता था और उस निर्णय पर दण्ड की व्यवस्था स्वयं राजा करता था।[3] यह उसी प्रकार की व्यवस्था थी जैसे कि आज प्रिवी कौन्सिल अपने निर्णय सम्राट् की ओर से लिखती है।

ऊपर लिखा जा चुका है कि राजा के साथ कुछ ब्राह्मण भी आवश्यक रूप से बैठते थे। उनका कर्त्तव्य था कि यदि धर्मशास्त्र के सिद्धान्तों के विरुद्ध कोई बात हो रही हो अथवा अन्याय हो रहा हो तो वे चुप न रहें। इसके लिए मनु ने कहा है कि या तो न्यायसभा में जाए ही नहीं, यदि जाए तो सत्य अवश्य कह दे। ऐसा व्यक्ति यदि चुप रहता है या असत्य बोलता है तो पाप का भागी होता है।[4] परन्तु इन ब्राह्मणों का कर्त्तव्य यहीं समाप्त हो जाता है। यदि राजा फिर भी दुराग्रह करे तो उसके निवारण करने का कर्त्तव्य इनका नहीं है।[5]

परन्तु इसके विपरीत नियुक्त किये हुए सभ्यों का यह भी कर्त्तव्य है कि वे मामले पर अपनी सम्मति देने के अतिरिक्त, यदि राजा अन्यायपूर्ण आचरण

---

1. कार्षापणं भवेद्दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः।
तत्र राजा भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा॥ (अ० 8, श्लो० 336)
2. इसके विपरीत केम्बिसेस के समय में फारस के न्यायाधीशों द्वारा बनाया गया वह विधान देखना उपयोगी होगा, जिसके अनुसार 'राजा या बादशाह जो कुछ चाहता था कर सकता था'—जायसवाल द्वारा उल्लिखित रालिसन कृत हिरोडोटस।
3. अधिकरणिक—आर्य चारुदत्त! निर्णय वयं प्रमाणम, शेष तु राजा। मृच्छकटिकम्, व्यवहार नामक नवम् अंक।
4. सभा वा न प्रवेष्टव्या वक्तव्यं वा समंजसम्।
अब्रुवन्विब्रुवन्वाऽपि नरो भवति किल्विषीति॥ (मनु०, अ० 7, श्लो० 13)
5. अनियुक्तानां पुनरन्यथाभिधानेऽनभिधाने वा दोषो, न तु राज्ञो ऽनिवारणे। (मिताक्षरा)।

करे तो उसका निवारण करें।[1] राजा के अन्याय करने पर जो उसका समर्थन करते हैं वे राजा के साथ ही उस पाप के भागी होते हैं, अतः उन्हें राजा को समझाना चाहिए।[2]

इतना ही नहीं, यदि ये सभ्य लोग राग अथवा भय के कारण धर्मशास्त्र के प्रतिकूल कार्य करें तो उन्हें विवाद के धन से दूना अर्थ-दण्ड दिया जाना चाहिए।[3] यह दण्ड प्रत्येक सभ्य से अलग-अलग इसी परिमाण से वसूल किया जाता था।

अन्य वैश्य, शूद्र आदि जो सभ्य उपस्थित होते थे उनका कार्य विशेष मामलों में रूढ़ियों और श्रेणीगत रीति-नीति का परिचय देना था।[4]

अन्य न्यायालय और अपील—ऊपर वर्णन किया हुआ न्यायालय राज्य का सर्वोच्च न्यायालय होता था। यद्यपि इस न्यायालय में भी मौलिक मामले (Original Cases) प्रस्तुत हो सकते थे, परन्तु वह वास्तव में अपील का न्यायालय था। इसके अतिरिक्त कुल, श्रेणी, पूग या गण और व्यक्तियों को भी राजा द्वारा न्याय करने के अधिकार दिये जाते थे।[5] इन न्यायालयों को विशेष प्रकार के मामले सुनने का अधिकार था, क्योंकि प्राचीन न्याय-पद्धति का यह मान्य

---

1. नियुक्तानां यथावस्थितार्थकथनेऽपि यदि राजाऽन्यथा करोति।
   तदाऽसौ निवारणीयोऽन्यथाऽदोषः॥
2. अन्यायेनापि तं यान्तं येऽनुयान्ति सभासदः।
   तेऽपि तद्भागिनस्तस्माद्बोधनीयः सतैनृप॥ (कात्यायन)
3. रागाल्लोभाद्भयाद्वापि स्मृत्यपेतादिकारिणः।
   सभ्याः पृथक पृथग्दण्ड्या विवादाद्द्विगुणं दमम्॥ (याज्ञवल्क्य 4)
4. इस प्रसंग में न्याय-सभा में बैठने वाले धर्मशास्त्रज्ञ ब्राह्मणों तथा सभ्यों के साथ वर्तमान जूरियों तथा असेसरों की तुलना करना उपयोगी होगा। असेसर केवल सम्मति दे सकते हैं, उसे मानना या न मानना न्यायाधीश के मन की बात है। यही दशा सम्मति देने वाले ब्राह्मणों की थी। भेद यह है कि आज असेसर कोई बिना पढ़ा-लिखा व्यक्ति भी हो सकता है, पहले केवल धर्मशास्त्र-ज्ञाता ही हो सकते थे। आज जूरी का प्रायः वही कर्तव्य है जो पहिले 'सभ्यों' का था। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि आजकल तो असेसर और जूरी केवल कुछ मामलों में ही नियुक्त होते हैं परन्तु प्राचीन काल में प्रत्येक मामले में उनका रहना निश्चित था।
5. नृपेणाधिकृताः पूगाः श्रेणयोऽथ कुलानि च।
   पूर्वं पूर्वं गुरु ज्ञेयं व्यवहारविधौ नृणाम्॥ (याज्ञवल्क्य)

सिद्धान्त था कि जिस प्रकार का मामला हो उसे सुनने के लिए उसी प्रकार की न्याय-सभा होनी चाहिए।

कुल द्वारा किये हुए निर्णय पर श्रेणी, और श्रेणी के निर्णय पर पूग, एवं पूग पर राजा द्वारा अधिकृत पदाधिकारी विचार कर सकते थे। इस नृप द्वारा अधिकृत व्यक्ति के निर्णय के विरुद्ध राजा स्वयं अपील सुनता था।

वास्तव में प्राचीन भारत की यह विशेषता थी कि राजा तक बहुत कम मामले जाते थे। कुल, श्रेणी एवं गणों की न्याय सभाएं ही उन्हें निपटा देती थीं। कुछ प्रकरण ऐसे अवश्य थे जिन्हें केवल उच्च न्यायालय ही सुन सकते थे। उदाहरणार्थ 'साहस' (गम्भीर अपराध) पूग या गण के न्यायालय नहीं सुन सकते थे।

कार्यवाही लिखी जाती थी—ऊपर लिखा जा चुका है कि न्याय-सभा में एक लेखक अथवा कायस्थ भी होता था। उसका कार्य कार्यवाही के आवश्यक विवरण लिखना था। न्याय के लिए प्रार्थना-पत्र लिखित प्रस्तुत नहीं होते थे। प्रत्यर्थी (मुद्दाअलेह अथवा मुलजिम) के उपस्थित हो जाने पर अर्थी (मुद्दई अथवा फ़रियादी) का कथन लिख लिया जाता था और उसके नीचे उसका नाम, जाति आदि लिखी जाती थी तथा साल, मास और दिन भी लिखा जाता था।[1] कात्यायन ने इसके लिखने की विधि विस्तारपूर्वक बताई है। वे कहते हैं कि अर्थी का यह कथन पहले खड़िया के काष्ठ-फलक पर लिखा जाय और फिर शोधन करके पत्र (कागज या अन्य भोज-पत्र आदि) पर लिखा जाय। इसी प्रकार अर्थी की उपस्थिति में प्रत्यर्थी का उत्तर लिखा जाता था। ऐसा प्रत्युत्तर लिखा जाने के पश्चात् ही अर्थी को वे साधन (साक्ष्य) लिखा देने पड़ते थे, जिनसे वह अपने कथन की पुष्टि करता था। साक्षियों के कथन भी लिखे जाते थे।[2] और अन्त में जय-पत्र (डिक्री) लिखा जाता था। इस जय-पत्र में अर्थी-प्रत्यर्थी के कथन, दोनों पक्षों का साक्ष्य और सभा का निर्णय तथा उससे लागू होने वाला न्याय का सिद्धान्त लिखा जाता था। उस पर अध्यक्ष के हस्ताक्षर तथा राजकीय मुद्रा लगाई जाती थी।

वकील—यहां इस बात पर भी विचार प्रकट कर देना समीचीन होगा कि प्राचीन राज-सभाओं में वकीलों द्वारा पैरवी होती थी अथवा नहीं। यह तो निश्चित है कि जिस रूप में आज वकील कार्य करते हैं उस रूप में न तो

---

1. प्रत्यर्थिनोऽग्रतो लेख्यं यथावेदितमर्थिना।
   समामासतदर्धाहर्नामजात्यादिचिह्नितम्॥ (याज्ञवल्क्य)
2. मृच्छकटिक, नवम् अंक।

प्राचीन भारत में कोई वर्ग था और न योरप में ही। आज वकीलों के प्रधानतः दो कार्य हैं। एक तो वे मामले को राजनियम के अनुसार अग्रसर करने में न्यायालय के सहायक होते हैं और दूसरे वे अर्थी अथवा प्रत्यर्थी के स्थान पर उपस्थित होते हैं। प्राचीन भारत में न्यायसभा की जो बनावट थी उसके कारण पहले कार्य के लिए किसी माध्यम की आवश्यकता न हो सकती थी। न्यायसभा में उपस्थित ब्राह्मणों एवं नियुक्त सभ्यों का यही कार्य था। वे धर्मशास्त्र के नियमों में पारंगत होते थे। उनकी उपस्थिति में प्राड्विवाक या राजा राजनियम सम्बन्धी भूल न कर सकता था।

दूसरे कार्य के लिए, अर्थात् स्वयं उपस्थित न होकर दूसरे को नियुक्त करने का आदेश स्मृतियों में है। अप्रगल्भ, जड़, वृद्ध, स्त्री, बालक और रोगियों को यह अधिकार था कि वे अपनी ओर से कथन करने के लिए या उत्तर देने के लिए उचित रूप से नियुक्त व्यक्ति भेजें।[1] इनके कथनों पर जय या पराजय अवलम्बित होती थी।[2] ऐसे व्यक्तियों को, जो पक्षकारों के न तो निकट संबंधी होते थे और न विधिवत् नियुक्त होते थे, यदि वे किसी पक्षकार की ओर से बोलते थे, दण्ड मिलता था।[3]

जिस प्रकार आज कुछ गम्भीर अपराधों की दशा में न्यायालय में व्यक्तिगत उपस्थिति अनिवार्य होती है या अनिवार्य की जा सकती है, उसी प्रकार प्राचीन भारत में भी नियम था। कुछ अपराध ऐसे थे जिनके विचार में स्वयं उपस्थित होना पड़ता था।[4]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यद्यपि वकीलों का वर्ग वर्तमान रूप में प्राचीन भारत में नहीं था, फिर भी उनके कारण जो भी सुविधा आजकल मिलती है, वह प्राचीनकाल में भी प्राप्त थी।

---

1. अप्रगल्भजड़ोन्मत्तवृद्धस्त्रीबालरोगिणाम् ॥
   पूर्वोत्तरं वदेद्बंधुर्नियोक्तोऽन्योऽथवा नरः ॥ (बृहस्पति)
2. अर्थिना संनियुक्तो वा प्रत्यर्थिप्रेरितोऽपि वा ।
   यो यस्यार्थे विवदते तयोर्जयपराजयौ ॥ (नारद)
3. यो न भ्राता न च पिता न पुत्रो न नियोगकृत् ।
   परार्थवादी दंड्यं स्याद्व्यवहारेषु विब्रुवन ॥ (कात्यायन)
4. ब्रह्महत्यासुरापाने स्तेयेषु गुर्वंगनागमे ।
   मनुष्यमारणे स्तेये परदाराभिमर्शने ॥
   अभक्ष्यभक्षणे चैव कन्याहरणदूषणे ।
   पारुष्ये कूटकरणे नृपद्रोहे तथैव च ॥ (कात्यायन)

मृच्छकटिक—शूद्रक का मृच्छकटिक नाटक कुछ विद्वानों के मत से ई० पू० प्रथम शताब्दी अर्थात् हमारे विक्रमकाल में लिखा गया है। अपने निर्माणकाल के सामाजिक जीवन का इसमें बहुत सुन्दर चित्रण है। सौभाग्य से उसमें एक मुकद्दमे का भी वर्णन आ गया है। स्मृतियों में दिए हुए सिद्धान्तों का कार्यान्वित रूप क्या था, यह इससे प्रकट होता है। इसमें न्यायालय और उससे सम्बन्धित कर्मचारियों के नाम आए हैं। मृच्छकटिक के व्यवहार नामक नवम् अंक में सबसे आरम्भ में 'शोधनक' आता है। इस कर्मचारी का कार्य आसनों को सजाना, कार्यार्थियों को बुलाना आदि था। यही सम्भवतः स्मृतियों का 'साध्यपाल' है। आजकल के चपरासी और खल्लासी दोनों का कार्य इसने किया है। न्याय-सभा को 'व्यवहार-मण्डप' कहा गया है और न्यायाधीश को 'अधिकरणिक'। यही स्मृतियों का प्राड्विवाक् है। इसके साथ ही श्रेष्ठि तथा कायस्थ आते हैं। अधिकरणिक, श्रेष्ठि एवं कायस्थ आदि के यथास्थान बैठ जाने पर शोधनक 'व्यवहार-मण्डप' के बाहर जाकर आवाज लगाता है कि जो कार्यार्थी हों वे अपने मामले प्रस्तुत करें। आगे प्रकट होता है कि अभियोग मौखिक ही निवेदन किया जाता था और 'कायस्थ' उसे लिखता था। यह लिखना प्रारम्भ में खरिया द्वारा ही होते हैं। आगे मामले के पक्षकार एवं न्यायाधीश का कर्त्तव्य भी बतलाया गया है। अर्थी और प्रत्यर्थी के ऊपर घटनाओं को सिद्ध करने का भार था तथा न्यायाधीश का कर्त्तव्य उनका अर्थ निर्धारित करना था। न्याय का कार्यक्रम प्रारम्भ होते ही सब सम्बन्धित व्यक्ति बुलाए जाते हैं।

यहां एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है। मृच्छकटिक में अभियुक्त को उस समय तक निर्दोष समझकर उसका पूर्ण सम्मान किया गया है, जब तक कि उस पर अभियोग सिद्ध नहीं हो गया। कथन लेने की प्रणाली भी आजकल के न्यायालयों के समान ही बतलाई गई है। न्यायाधीश, श्रेष्ठि एवं कायस्थ अभियुक्त से प्रश्न करते हैं। अभियोग के प्रमाणित होते ही अभियुक्त को आसन पर से उठाकर भूमि पर बैठा दिया जाता है। न्यायाधीश (अधिकरणिक) केवल निर्णय देता है, दण्ड का विधान राजा के हाथ में ही है। राजा के पास निर्णय तुरन्त ही भेज दिया जाता है और वह दण्ड की व्यवस्था भी उसी समय कर देता है। वध-दण्ड की व्यवस्था होने के कारण अपराधी 'चाण्डाल' को सौंप दिया जाता है।

इस दृश्य में दो-तीन बातें बहुत मार्के की हैं। अभियोगी राजा का साला है, परन्तु फिर भी अभियुक्त को प्रारम्भ में निरपराध समझकर ही आदर मिलता है। दूसरी बात यह है कि यद्यपि न्यायाधीश चारुदत्त को निरपराध समझता है, परन्तु फिर भी प्रत्यक्ष प्रमाण के सामने उसे झुकना पड़ता है; भले ही उसकी

सहानुभूति अन्त तक चारुदत्त के साथ रहती है। तीसरी बात न्याय की शीघ्रता है।

यद्यपि नाटकीय वातावरण लाने के लिए नाटककार को थोड़ी-सी स्वतंत्रता ग्रहण करनी पड़ी होगी, फिर भी यह दृश्य तत्कालीन न्याय का वास्तविक उदाहरण माना जा सकता है।

इस अंक में प्राचीन काल की न्यायालय सम्बन्धी शब्दावली भी निहित है।

न्याय के अन्य उदाहरण—भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य में न्याय के उदाहरणों की कमी नहीं है। उनसे हमारी प्राचीन न्याय-प्रणाली पर बहुत प्रकाश पड़ता है। विक्रमीय प्रथम शताब्दी के बहुत पूर्व लिखे जातकों में जेतवन सम्बन्धी विवाद बहुत प्रसिद्ध है। इसमें एक पक्षकार राजकुमार था दूसरा साधारण श्रेष्ठि। परन्तु विजय श्रेष्ठि की हुई और इससे न्यायाधीश की निष्पक्षता स्पष्टतः प्रमाणित होती है। विक्रमीय संवत् के पश्चात् भी संस्कृत ग्रन्थों में अनेक न्यायों के उदाहरण प्राप्त होते हैं। राजतरंगिणी में तो एक स्थल पर एक गरीब के स्वत्व के सामने स्वयं राजा को झुकते बताया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आज से प्रायः दो सहस्र वर्ष पूर्व न्यायालय एवं न्यायदान की जो परम्परा चल रही थी, वह बहुत व्यवस्थित तो थी ही, साथ ही अनेक अंशों में वह आज की व्यवस्था से श्रेष्ठतर भी थी। अन्त में हम अपना यह लेख शूद्रक द्वारा बतलाए हुए न्यायाधीश के लक्षण को दुहराते हुए समाप्त करते हैं—

> शास्त्रज्ञः कपटानुसारकुशलो वक्ता न च क्रोधन-
> स्तुल्यो मित्रपरस्वकेषु चरितं दृष्ट्वैव दत्तोत्तरः॥
> क्लीबान् पालयिता शठान् व्यथयिता धर्म्यो न लोभान्वितो
> द्वार्भावे परतत्त्वबद्धहृदयो राज्ञश्च कोपापहः॥

विक्रम का सिंहासन

□ कर्नल राजराजेन्द्र श्री मालोजीराव नृसिंहराव शितोले

विक्रमादित्य के नाम के साथ जनश्रुति ने दो वस्तुओं को अमिट रूप से सम्बद्ध कर दिया है, एक तो बत्तीस वाचाल पुतलियों से युक्त उनका सिंहासन और दूसरा उनका सतत साथ देनेवाला वेताल।

इस लेख में हम विक्रमादित्य के सिंहासन का वर्णन जनश्रुति एवं अनुश्रुति के अनुसार करेंगे। सिंहासन बत्तीसी की कथा है कि एक बार इन्द्रलोक में इस बात की होड़ लगी कि रम्भा और उर्वशी में अधिक कलापूर्ण नृत्य किसका है। इसका निर्णय करने के लिए प्रसिद्ध कला पारखी वीर विक्रमादित्य स्वर्ग में बुलाए गए और उन्होंने अपनी कला-मर्मज्ञता से इन्द्र-सभा को प्रसन्न कर दिया। इन्द्र ने उन्हें एक अत्यन्त दिव्य सिंहासन उपहार में दिया। यह सिंहासन बहुत ही अप्राप्य एवं बहुमूल्य रत्नों से खचित था।

उस सिंहासन में बत्तीस पुतलियां बनी हुई थीं और उनके सिर पर चरण रखकर इस सिंहासन पर आसीन होते थे, ऐसा सिंहासन बत्तीसी के एक पाठ में लिखा है। इससे यह ज्ञात होता है कि सिंहासन के ऊपर चढ़ने की जो सीढ़ियां थीं, उन पर बत्तीस पुतलियां बनी हुई थीं। परन्तु इसी का दूसरा पाठ मिलता है जिसमे यह ज्ञात होता है कि उस सिंहासेन में बत्तीस उपसिंहासन थे और उनमें यह बत्तीस पुतलियां लगी हुई थीं। उपसिंहासन का अर्थ पाये हो सकता है अथवा सिंहासन की सीढ़ियां। एक तीसरे पाठ में केवल यह लिखा है कि उस सिंहासन में देदीप्यमान तेजःपुंज बत्तीस पुतलियां थीं। इसी से मिलता-जुलता जैनों में प्रचलित पाठ है, जिसमें लिखा है कि वह सिंहासन बत्तीस पुतलियों से सुशोभित था। इस प्रकार हम देखते हैं कि सिंहासन बत्तीसी के विभिन्न पाठ-

कारों ने इन पुतलियों का स्थान अलग-अलग कल्पित किया है।[1]

इन पुत्तलियों के विषय में भी एक कथा प्रचलित है। यह बत्तीस पुतलियां पूर्व में पार्वती की सखियां बत्तीस सुरांगनाएं थीं। एक बार वे एक सुन्दर आसन पर बैठी हुई थीं कि उन्हें भगवान् शंकर ने विलासपूर्ण दृष्टि से देखा। भगवती गौरी ने इसे देख लिया और क्रुद्ध हो शाप दिया 'निर्जीव पुत्तलिकाएं होकर इन्द्र के सिंहासन से लग जाओ' इस कथा से इस सिंहासन की कल्पना और भी स्पष्ट हो जाती है। यह सिंहासन इन पुतलियों के उससे लगने के पूर्व ही पूर्ण था। यह तो पीछे से आकर लग गई थीं।

इन्द्र प्रदत्त विक्रम के इस सिंहासन का मूल रूप कल्पित करने के लिए भारत के प्राचीन शिल्पशास्त्र में वर्णित सिंहासन के आकार-प्रकार पर दृष्टि डालना उचित होगा।

सिंहासन से तात्पर्य है सिंह-मुद्रित मनोहर आसन (मानसार, अध्याय 45, श्लोक 204)। यह सिंहासन राजाओं के लिए होता था। राजाओं के राज्याभिषेक के लिए सिंहासन का होना आवश्यक समझा गया है। प्राचीन भारत में ही क्या, संसार के समस्त प्राचीन तथा अर्वाचीन देशों में राज्याभिषेक के समय विशिष्ट एवं बहुमूल्य आसनों का उपयोग होता रहा है। प्राचीन भारत में अभिषेक की चार स्थितियां मानी गई हैं और उनके अनुसार चार प्रकार के

---

1. सिंहासन बत्तीसी के चार पाठ मिले हैं। इनमें सिंहासन के विषय में नीचे लिखे पाठ मिलते हैं—

(1) महार्घवररत्नखचितम् सिंहासनम्……तत्सिंहासने खचिता द्वात्रिंशत् पुत्तलिकाः सन्ति तासाम् शिरसि पदम् निधाय तत्सिंहासन अध्यासितव्याम् (दक्षिण पाठ)

(2) …………रत्नसिंहासनम् महत्।
उपसिंहासनानि अत्र द्वात्रिंशत् तेषु पुत्तलिकाः।
तन्मूर्धनि चरणं न्यस्य समारोहेत् महासनम्।
अस्मिन् सिंहासने स्थित्वा सहस्रम् शरदम् सुखम्।
भुवं पालय भूपाल:………………'॥ (श्लोकबद्ध पाठ)

(3) दिव्यरत्नखचितम् चन्द्रकान्तमणिमयं सिंहासनम् च दत्तम्। तस्मिन् सिंहासने देदीप्यमानास् तेजः पुंज इव द्वात्रिंशत् पुत्तलिकाः सन्ति। (संक्षिप्त पाठ)

(4) द्वात्रिंशच्चालिभंजिका चालितम् कान्तचन्द्रकान्तमणिमयम्…। (जैन पाठ)

सिंहासनों का वर्णन है—(1) प्रथमासन, (2) मंगलासन, (3) वीरासन और (4) विजयासन।

इन आसनों के भी दस प्रकार बतलाए गए हैं—(1) पद्मासन, (2) पद्मकेसर, (3) पद्मभद्र, (4) श्रीभद्र, (5) श्रीविशाल, (6) श्रीबन्ध, (7) श्रीमुख, (8) भद्रासन, (9) पद्मबन्ध और (10) पादबन्ध। बैठने वाले नरेन्द्र की स्थिति के अनुसार ये आसन बनवाये जाते थे। पद्मासन नामक सिंहासन शिव अथवा विष्णु के लिए होता था। पद्मभद्र चक्रवर्ती नरेश प्रयोग करते थे, श्रीमुख मंडलेशों के काम में आता था, और पादबन्ध 'अष्टगृह' राजाओं के उपयोग की वस्तु थी।

सिंहासन के पाए सिंह की आकृति के होते थे, परन्तु पादबन्ध आसनों में तथा वैश्य तथा शूद्र जाति के छोटे राजाओं के आसनों में सिंह की आकृति नहीं बनाई जाती थी और उनके केवल चार पाये होते थे। अन्य सिंहासनों के छह पाये हुआ करते थे।

हिन्दू धर्मशास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार राजा की अथवा राजसंस्था की उत्पत्ति दैवी बतलाई गई है। इस संसार में अराजकता के कारण जो कष्ट फैले हुए थे उन्हें, मिटाने के लिए तथा जगत् के रक्षार्थ ईश्वर ने राजा को बनाया और इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र तथा कुबेर के अंश से उसका निर्माण किया।[1]

यदि राजा से तात्पर्य केवल एकतंत्री राजा से न मानकर शासन करने वाली संस्था के प्रतिनिधि से लिया जाय तो ये लक्षण किसी भी शासन-प्रणाली से लागू हो सकते हैं।

इस राजा के अधिकार का मूल धर्मशास्त्र के अनुसार राज्याभिषेक संस्कार है। प्राचीन ग्रन्थों में अभिषेक की जो रीति वर्णित है उसमें सिंहासन का प्रधान

---

1. अराजकेहि लोकेऽस्मिन्सर्वतोविद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः॥
इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च॥
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रानिर्हृत्य शाश्वतीः॥ (मनुस्मृतिः, अ० 7, श्लो० 3 तथा 4)

स्थान है। राज्याभिषेक का सिंहासन[1] प्रारम्भ में खदिर की लकड़ी का बना होता था और उस पर सिंह की चर्म बिछी रहती थी। वह अत्यन्त विशाल होता था। अभिषेक के अतिरिक्त राज-सभा, न्यायसभा एवं यज्ञों में भी राजा सुन्दर सिंहासनों पर आरूढ़ होता था।

राजा अथवा राज-संस्था की उत्पत्ति जब दैवी है, तो यह आवश्यक है कि सिंहासन की कल्पना के साथ-साथ दैवी भावना सम्बद्ध कर दी जाय। विक्रम के सिंहासन को भी इन्द्र द्वारा प्रदत्त कल्पित किया गया है। उसमें जो सौन्दर्य-वर्धन के लिए बत्तीस पुत्तलिकाएं लगी हैं, वे देवांगनाएं हैं, और वे इतनी सुन्दर हैं कि जिन्हें देखकर कामारि शंकर के मन में भी क्षोभ हुआ। अतः हम यह देखते हैं कि इस सिंहासन में जिन-जिन बातों की कल्पना की गई है वे सार्थक तथा सहेतुक हैं।

इस सिंहासन की एक अन्य विशेषता है, उस पर बैठने का प्रभाव। इस सिंहासन को देते समय इन्द्र ने विक्रमादित्य से कहा था 'इस सिंहासन पर बैठना और संसार की रक्षा करना'। इस पर बैठने का प्रभाव भी अद्भुत था। महा-दरिद्रमन ब्राह्मण भी जब उस टीले पर चढ़ता था, जिसके नीचे यह सिंहासन दबा हुआ था, तो उसका हृदय अत्यन्त उदात्त एवं उदार विचारों से भर जाता था। राजा भोज ने भी इसकी परीक्षा की थी। वह स्वयं उस टीले पर चढ़ा और उसके हृदय में राजोचित पूत विचारों का उदय इस प्रकार हुआ: 'मैं संसार की रक्षा करूंगा, सब के दुःखों और क्लेशों का हरण करूंगा, समस्त संसार के कल्याण का प्रयत्न करूंगा, दैन्य का नाश करूंगा, पाप का उन्मूलन कर दूंगा, साधुओं का परित्राण और दुष्टों का विनाश करूंगा'। सिंहासन पर बैठने का प्रभाव ही इस प्रकार का हो कि राजा में उपयुक्त गुणों का अपने आप स्फुरण हो और जिस राजा में ये गुण न हों और प्रयत्न करने पर उत्पन्न भी न हो सकते हों उसे राजसिंहासन पर आसीन होने का अधिकार नहीं है, इस सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए ही मानो सिंहासनबत्तीसी लिखी गई है। विक्रमादित्य के

---

1. इस विषय में स्वर्गीय विद्वान् डॉक्टर काशीप्रसाद जायसवाल ने लिखा है—आविद् या घोषणा के उपरान्त राजा काठ के सिंहासन (आसन्दी) पर आरूढ़ होता है, जिस पर साधारणतः शेर की खाल बिछी रहती है। इस अवसर के लिए चार मंत्र हैं। आगे चलकर जब हाथीदांत और सोने के सिंहासन बनने लगे, तब भी काठ के सिंहासन का व्यवहार किया जाता था।······यज्ञों में भरतों के सिंहासन की बनावट या तर्ज प्रसिद्ध है। (देखिए हिन्दू राज-तंत्र, दूसरा खण्ड, पृ० 48)

परलोक गमन के पश्चात् जब मंत्रियों ने देखा कि ऐसा गुणवान राजकुमार उसके वंश में नहीं है तो उसे अपवित्र और लांछित कराने के बजाय भूमि में गाड़ देना उचित समझा और जब एक सहस्र वर्ष उपरान्त राजा भोज ने उस पर आरोहण का प्रयत्न किया तो एक-एक पुतली ने विक्रम के एक-एक गुण का वर्णन किया और बहुत चुभता हुआ एवं सीधा प्रश्न किया, 'राजा भोज ! यदि तुझमें ये गुण हों तभी तू इस सिंहासन पर चढ़ ।'

राजा के लिए बहुमूल्य सिंहासन का निर्माण संसार के प्रायः सभी देशों में होता था। राज्याभिषेक के उपरान्त भी उनका उपयोग होता था। योरप में पहले यह मंच के ऊपर होता था जिसमें सीढ़ियां लगी होती थीं। इस पर आसीन होना वहां के राज्यारोहण-समारोह का एक विशेष अंग था। सुलेमान के तख्त के विषय में कल्पना है कि वह हाथी दांत का बना हुआ था और उस पर स्वर्ण-स्तर चढ़े हुए थे, उसके बाजुओं में दो सिंहों की मूर्तियां थीं और उसकी छै सीढ़ियों पर भी सिंह के जोड़े बने हुए थे। फारस के अब्बास नामक सम्राट् का सिंहासन सफेद स्फटिक का बना हुआ था। रूस के पीटर महान् के प्रपिता जार माइकेल फियोडोरोविच के स्वर्ण सिंहासन में आठ सहस्र नीलमणि, पन्द्रह सौ माणिक्य और दो विशाल पुखराज जड़े हुए थे। भारत के मुगल सम्राट् शाहजहां का मयूर-सिंहासन अत्यन्त प्रसिद्ध है। उसमें चांदी की सीढ़ियां थीं। उसके पाए सोने के थे, उसमें रत्न जड़े हुए थे और उसमें मयूर के पंखों की रत्नजटिल आकृति बनी हुई थी। उसकी लागत बारह करोड़ स्वर्ण-मुद्रा बतलाई जाती है।

सम्राट् और राजा ही नहीं, साधु-सन्त भी अपने विशिष्ट सिंहासनों पर बैठते हैं। योरप के पोप का अत्यन्त सुन्दर एवं बहुमूल्य आसन है। भारत के आचार्यों के गद्दीधारी भी विशिष्ट आसनों का प्रयोग करते हैं। भारत में बुद्ध भगवान् की कुछ मूर्तियां एवं चित्रों में उन्हें सिंहों से अंकित आसनों पर आसीन चित्रित किया है।

यह सब वर्णन प्रसंगवश किया गया है। इस लेख का उद्देश्य अनुश्रुति और जनश्रुति में कल्पित विक्रम के सिंहासन का रूप निरूपण करना ही है। यह रूप हमें सिंहासन बत्तीसी के विविध पाठों के अध्ययन से तथा उसके साथ सिंहासन की शास्त्रीय कल्पना से स्पष्ट हो जाता है। सिंहासन बत्तीसी के रचयिता (तथा प्रतिलिपिकारों) का अन्य उद्देश्य[1] चाहे जो रहा हो परन्तु उसमें राज्य-सिंहासन का अत्यन्त मनोहर वर्णन और राज-धर्म की विस्तृत, हृदयग्राही एवं स्पष्ट व्याख्या मिलती है और उनका सम्बन्ध भारत के शौर्य, औदार्य एवं विक्रम के प्रतीक विक्रमादित्य से कर दिया गया है।

1. निश्चय ही यह उद्देश्य धीमंतों के अनुरूप कालयापन एव सकल-लोक-चित्त-चमत्कृत करना ही है।

विक्रम और बेताल

□ राजशेखर व्यास

'बेतालपंचविंशति' सुन्दर कथा ग्रन्थ है। संस्कृत-कथा-साहित्य में इसका अपना स्वतन्त्र स्थान है। इसमें विक्रम और बेताल की कथा गूंथी गयी है और वह बहुत ही रोचक है।

यद्यपि कथा-कल्पना के लिए तत्कालीन समाज-स्थिति और वातावरण का आधार अपेक्षित है, तथापि कथा-गाथा-ग्रन्थों का मूल्यांकन ऐतिहासिक आधार पर अवलम्बित नहीं माना जाता। इसी परम्परा के कारण उक्त रचना की गई थी। इसमें केवल 'कथा-मात्र' का महत्त्व प्राप्त है। इससे अधिक इस बेताल-कथा को इतिहास की कसौटी पर कभी कसा भी गया कि नहीं, यह पता नहीं लगता। बेतालपंचविंशति का अनेक भाषाओं में अनुवाद हुआ है, और जन-साधारण में वह बहुत लोकप्रिय बनी हुई है। संस्कृत से उतरकर जनभाषा में 'बेतालपचीसी' के रूप में वह सर्वगम्य और सर्वप्रिय बनी चली आ रही है। बेताल की इस रसमय-कथा-मालिका की यह विशेषता है कि हर कथा के पूरे होते-न-होते बेताल अपने प्रथम स्थान पर वापस लौट आता है और पाठक के मन में अपूर्ण परितृप्ति की लालसा बनी रहती है।

आदि वंतकथा

बेताल की उक्त कथा में विक्रम का स्थान ही विशिष्ट है। इस कथा के आरम्भ की परम्परा कब से और किन कारणों से समाज के समक्ष आई तथा प्रचलित हुई, इसका ठीक पता नहीं है। किन्तु यह स्पष्ट है कि यह अभिनव नहीं है। शताब्दियों से इसका प्रचार चला आया है। इस कथा का स्रोत आरम्भ में थोड़े फेर के साथ कथा-सरित्सागर में उपलब्ध होता है। अवश्य ही कथा-सरित्सागर में इसका अवतरण पैशाचीभाषा की बृहत्कथा-मंजरी से होना चाहिए जिसका संक्षिप्त रूप कथा-सरित्सागर है। क्षेमंकर के बाद 14वीं शताब्दी में सौराष्ट्र देश के मेरुतुंग सुरी ने अपनी 'प्रबन्ध चिंतामणि' में जनश्रुति से लेकर कुछ कथाओं को संगृहीत किया है। विभिन्न प्रदेशों और जनवाणी में पहुंचकर

मूल कथाओं में दंत-कथा के नियमानुसार कुछ नवीनीकरण, परिवर्तन सम्भव हुआ हो परन्तु तथ्यों में विशेष अन्तर नहीं आया। हां, कथाएं कुछ व्यापक रूप लेकर विस्तार पाती चली आयीं और चिरजीवन लिये हुई हैं।

यदि स्कंदपुराण और उसके अन्तर्गत अवंतीखंड को 9वीं शती की रचना ही स्वीकृत की जाए, तो नवम शती में विक्रम और बेताल की घटना को इतनी अधिक ख्याति एवं लोकप्रियता प्राप्त हो गई थी कि यह एक तथ्य वस्तु से सम्बद्ध है और उसका अस्तित्व रहा है। इस ख्याति के वशीभूत होकर ही बेताल की समाधि ने पुराणों में स्थान प्राप्त किया होगा।

जैसा नाम से स्पष्ट है, उक्त कथा का नायक 'विक्रम' है। इसलिए यह कथाचक्र विक्रम के वर्त्तुल में ही घूमता रहता है। तदनुसार, इसमें विक्रमादित्य के राज्यारोहण की बड़ी ही रोचक कथा वर्णित हुई है। संक्षेप में उसका आशय इस प्रकार है।

कथा बेताल की

उज्जैन के राजसिंहासन पर कुछ समय से कोई राजा एक दिन से अधिक नहीं टिक पाता था। बैठने के दिन ही रात को कोई शक्ति उसे अपना लक्ष्य बना लेती थी। फलतः प्रतिदिन जनता में से एक व्यक्ति चुनकर लाया जाता था और ढिंढोरा पीटकर आमन्त्रित किया जाता था। इस प्रकार, एक रोज उज्जैन के निवासी विक्रम नामक क्षत्रिय का भी अवसर आया। विक्रम सिंहासन पर आसीन हुआ और उसने विचार किया कि जो शक्ति शासक की बलि ले लेती है, उसे क्यों न अन्य भक्ष्य पदार्थों से सन्तुष्ट किया जाए और साहस से मुकाबला किया जाए। इस विचार के अनुसार ही अनेक प्रकार के पकवानों का निर्माण कर महल में सजाया गया और हाथ में खड्ग लेकर विक्रम एकांत में छुप कर खड़ा रहा। ठीक मध्य रात्रि के गहन अंधेरे में सहसा द्वार की ओर से धूम्र-पटल और लपटों के साथ यमदूत की तरह एक भयानक पुरुष ने अन्दर प्रवेश किया, और आते ही क्षुधातुर होकर सजे हुए पकवानों पर धावा बोल दिया। आज की मधुर सामग्री से वह बहुत संतुष्ट तथा प्रसन्न हो गया। थोड़ी देर विश्रांति की और गर्जन कर कहा—'जिसने आज इतनी सुन्दर व्यवस्था की हो, वह यदि यहां हो, तो प्रकट हो जाए। हम उसे अभय वचन देते हैं।' अभय पाकर विक्रम उस विकराल व्यक्ति के समक्ष प्रकट हो गया। उस प्रसन्न व्यक्ति ने अपना परिचय 'अग्निबेताल' के रूप में दिया और विक्रम को सहर्ष उज्जैन का राजा घोषित किया, तथा विक्रम द्वारा अपने दैनिक भोजन-पोषण की व्यवस्था की स्वीकृति प्राप्त कर ली। प्रातःकाल जनता ने विस्मय के साथ देखा कि विक्रम जीवित है और शासन के सूत्रों को निर्भय होकर संचालित कर रहा

है। अब बेताल विक्रम का सहायक बन गया था। यह कथा बड़ी रोचकता के साथ प्रतिपादित की गई है तथा इस कथा से संबद्ध अन्य कथाएँ बनती-बढ़ती चली गयीं।

मालवा में इस कथा को एक तथ्य के रूप में माना जाता है और कुछ ऐसे आधार भी मिलते हैं, जिनसे विचार करने का अवसर प्राप्त होता है।

विक्रम का सहायक बेताल

यह सुप्रसिद्ध है कि उज्जैन में संवत-प्रवर्तक विक्रमादित्य का राज्य रहा है। और यह भी प्रख्यात है कि विक्रम का सहायक अथवा मित्र 'बेताल' भी था। क्षेमंकर ने कथासरित्सागर में इस बेताल का नाम 'अग्निशिख' बतलाया है। उसी को जनकथा के आचार्य मेरुतुंग ने 'अग्निवर्ण' कहा है। दोनों नामों में विशेष अन्तर नहीं है। यही जनभाषा में चलकर 'अगिया बैताल' हो गया है। इस अगिया बैताल का उज्जैन में एक बहुत पुरातन मन्दिर बना हुआ है। यह शताब्दियों से अस्तित्व बनाए हुए है और उस बेताल-कथा की ऐतिहासिक संगति का औचत्य प्रतिपादित करता है। न जाने कबसे इस बेताल मन्दिर पर नवरात्र में नियमित पूजा होती है और शासकीय व्यवस्था रहती आई है। यहां बलि-प्रथा है, जो उक्त कथा की संगति का समर्थन कर रहा है। इससे विदित होता है कि उज्जैन में अवश्य ही बेताल का अस्तित्व रहा है। सम्भव है कि विक्रम से उसका किसी प्रकार का सम्बन्ध रहा हो। बेताल-कथा की पृष्ठभूमि में कोई तथ्य-घटना अवश्य नहीं है। इसे पौराणिक समर्थन भी सुलभ है। हमने प्रायः पुराण-कथाओं की समीक्षा तथ्यान्वेषण की दृष्टि से नहीं की है। उन्हें उपेक्षित समझा है। पुराण-कथाओं के साक्ष्य में आज भी अनेक स्थल उन स्थानों (नगरों) में प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं, उनको लेकर ही कथानकों की रचना हुई है। इनके रूपकों का आवरण हटा दिया जाए तो वे स्वयं-आत्म ससर्थन के लिए उपस्थित हैं, यदि बेताल की उक्त कथा, केवल कथा-मात्र, या प्रकल्पित ही हो, तो यह मन्दिर, बलि-प्रथा और पुराण-समर्थन क्या वस्तु हैं ?

पुराणों में भी उल्लिखित

यदि स्कन्दपुराण और उसके अन्तर्गत अवंतीखंड को 9वीं शती की रचना ही स्वीकृत की जाए, तो नवम शती में विक्रम और बेताल की घटना को इतनी अधिक ख्याति एवं लोकप्रियता प्राप्त हो गई थी कि यह एक तथ्य वस्तु से संबद्ध है और उसका अस्तित्व रहा है। इस ख्याति के वशीभूत होकर ही बेताल की समाधि ने पुराणों में स्थान प्राप्त किया होगा। इसके सिवा कथा-सरित्सागर के मूल पैशाची के स्रोत वाली बृहत्कथा को कौन आधुनिक कहने का साहस

कर सकता है जिसमें इस बेताल-कथा का प्रथम उल्लेख हुआ है।

विक्रम के नवरत्नों की मालिका में भी उक्त बेतालभट्ट का उल्लेख है। इसकी रचना का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मिलता, किन्तु अत्यन्त पुरातन ग्रन्थों में कुछ श्लोकों का बेतालभट्ट के नाम के साथ उल्लेख मिलता है तथा 'भट्ट' शब्द के साथ में जुड़े होने के कारण बेताल के ब्राह्मण होने का प्रमाण है और वह अवश्य ही प्रचंड व्यक्तित्व रहा है। इसलिए उसके नाम के साथ अनेक कथा-सूत्र जुड़ते गए होंगे। अग्निबेताल नाम से भी उसकी प्रखरता और प्रचंडता विदित होती है। नवरत्नों वाले बेताल और अग्निवर्ण बेताल सम्भवतः अभिन्न हों। विक्रम की शासन-प्राप्ति से बेताल का सम्बन्ध यह बतलाता है कि कोई प्रचंड व्यक्ति बेताल विक्रम पूर्व इस अवंती में अपना प्रचंड नेतृत्व रखता हो और शासन को अपने नियन्त्रण में लिये हुए हो। विक्रम जैसे योग्य व्यक्ति को पाकर उसे शासक बनाने में सहायता की और बाद में विक्रम का सहयोगी, अमात्य आदि रहा हो।

बेताल पंचविंशति का बेताल केवल कल्पित कथा का ही पात्र रहा होता, तो पैशाची की बृहत्कथा से उतरकर 11वीं शती के कथा सरित्सागर, मेरुतुंग और नवीं शती के स्कंदपुराण तक कैसे स्थान प्राप्त करता और किसी काल्पनिक कथा-पात्र का मन्दिर आज तक सदियों की परम्परा लिये कैसे स्थापित होता? अवश्य ही बेताल के व्यक्तित्व से प्रभावित हो अनेक कथा-सूत्र ग्रंथित हुए होंगे, जैसे विक्रमादित्य को लेकर आज तक शतशः कथाएं प्रचलित हैं। इस बेताल-पंचविंशति की कथा के तथ्यान्वेषण की ओर पुरातत्वविदों का ध्यान अवश्य आकृष्ट होना चाहिए।

लोककथाओं में विक्रम

□ शान्ति चन्द्र द्विवेदी

मनुष्य-जगत् के सवाक् होने के कुछ ही काल बाद से लोककथा का प्रादुर्भाव समझना चाहिए। उसके बीज और विकास के साधन तो मनुष्य परिवार के साथ ही मानने पड़ेंगे। साधारण भाषा में उसे हम आदिकाल से चली आती मानेंगे। इस मान्यता से मनुष्य के मानसिक विकासकालीन बारीक इतिहास को छोड़कर अन्य शास्त्रीय व्यतिरेक भी नहीं होगा और हमको कहानी के प्रचलन के प्रारम्भ के समय की कुछ कल्पना भी हो सकेगी।

पूर्व की अनुश्रुति अनादि है। प्रत्यक्ष घटनाएं भी मनुष्य आदिकाल से अनवरत देख रहा है। मानस जगत् के उसके भाव अनन्त हैं और उसकी कल्पनाओं का विशाल आकाश भी अपरिमेय है। इन सबमें उसकी दिलचस्पी भी घनी है। यही सब लोककथा के मूलतत्त्व हैं। कथाकार अपनी इच्छानुसार इनसे कहानी का शरीर गढ़कर अपनी वाणी से उसे अनुप्राणित कर देता है। कथा-प्रवक्ता की इच्छा ही उसके रूप की सर्वोपरि स्रष्टा है।

आदिकाल से लोककथाएं कही और सुनी जाती रही हैं। इस अखंड परम्परा के कारण उनमें अनुपम सौन्दर्य आ गया है। किन्तु इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि जो लोककथाएं आदिकाल में प्रचलित थीं, वही आज भी हैं। लोककथाओं की रचना और विकास तथा उनके संस्करण का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें थोड़े निकट से उनका अध्ययन करना होगा।

प्रत्येक कथा की रचना छोटे-छोटे कथानकों से होती है। उदाहरणत: विक्रमादित्य और राजा कर्ण की कथा का पूर्वार्ध, (1) अकाल पड़ना, (2) राजहंस के एक जोड़े का भोजन की टोह में निकलना, (3) विक्रम द्वारा उनका सत्कार, (4) खजाने के मोती समाप्त होना, (5) विक्रम का दूसरे के दुःख के लिए व्यथित होना, (6) राजपाट छोड़कर पत्नी सहित मुफलिसी के जीवन के लिए निकलना, (7) राजा का लुहार के यहां नौकरी करना, (8) भगवान् के दर्शन, (9) राजा द्वारा केवल उन दो पक्षियों के भोजन के लिए याचना, (10) राजा के बगीचे में मोतियों के झाड़ इत्यादि इन छोटे-छोटे कथानकों से बना है। इन छोटे कथानकों के और भी छोटे हिस्से होना सम्भव है। कथा के इन छोटे-

छोटे पुर्जों को हम मूल कथानक अथवा मूल कल्पना कहेंगे। इन मूल कथानकों अथवा मूल कल्पनाओं के मिश्रण तथा परिवर्तित और व्यामिश्र रूपों से सारा लोक-साहित्य निर्मित हुआ है। निमित कथानक असंख्य हैं और फिर कल्पना भी अनन्त हैं। अतः इन मूल कथानकों अथवा कल्पनाओं की संख्या भी सीमाहीन है। किन्तु कथाओं में इनका मिश्रित और परिवर्तित रूप खूब ही पाया जाता है। वह सर्वथा स्वाभाविक भी है। एक ही कथानक अथवा कल्पना बिलकुल उसी रूप में अथवा थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ अनेक कथाओं में पायी जाती है। केवल विक्रमादित्य की कहानियों में ही विक्रम स्वयं भी पद्मिनी से विवाह करते हैं, तोते के शरीर में उनके आश्रयदाता राजा को भी वे पद्मिनी प्राप्त कराते हैं और उनका पुत्र भी पद्मिनी से विवाह करता है। इन घटनाओं को सम्बद्ध बनाने के लिए यह कल्पना की जा सकती है कि सिंहलद्वीप में अनेक पद्मिनी पैदा होती हैं। किन्तु यह कल्पना कथाकार की भावना के विरुद्ध है। वह तो संसार में पद्मिनी केवल एक मानता है और उसको उसका नायक प्राप्त करता है। इस प्रकार नायक पद्मिनी से विवाह करता है—यह लोककथाओं में एक व्यापक कल्पना हुई। इसी प्रकार की व्यापक कल्पनाओं को हम व्यापक मूल कथानक अथवा व्यापक मूल कल्पना कहेंगे।

आदिकाल से ये मूल कथानक प्रचलित हैं; ये अखण्ड परम्परा से कहे-सुने गये हैं; अतः इनमें नर्मदा के कंकड़ों सरीखा शिवत्व आया है। प्रश्न उठता है कि क्या सारे मूल कथानक अदिकाल में ही कथाओं में जोड़ दिये गये और वे ही आज तक चले आ रहे हैं? तर्क और वास्तविकता—ये दोनों ही इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर देते हैं। ऊपर ही देख चुके हैं कि मूल कथानकों की संख्या का अन्त नहीं है। मनुष्य की परम्परा आगे बढ़ रही है—उसकी कल्पना का मार्ग प्रशस्त है और पार्थिव घटनाएं भी वह नित्य नवीन देख रहा है। अतः अनगिनत संख्या में नयी मूल कल्पनाओं का निर्माण अवश्यम्भावी है। और वैसा होता भी है। वीर विकरमाजीत और राजा भोज इत्यादि विशिष्ट नामों की कहानियां उनके प्रादुर्भाव के पहले कैसे बन सकती थीं। इसके साथ ही पुरानी बात भूलने की आदत भी मनुष्य में है। अतः पुरानी मूल कल्पनाओं का लोककथाओं में से लोप होना और नवीन मूल कल्पनाओं का उनमें स्थान पाना, यह स्वाभाविक क्रम है—यद्यपि इस नियम का आभास वास्तविकता को बहुत ही अधिक शक्तिशाली अन्वीक्षण यंत्र द्वारा देखने पर ही हो सकता है।

वास्तविक तथ्यों का अध्ययन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि लोककथाओं में परिवर्तन अत्यन्त धीमी गति से होते हैं। अतः अमित काल पूर्व की कल्पनाएं हम उनमें सुरक्षित पा सकते हैं। 'दस चार चौदह विद्या के निधान' इस प्रयोग में हम विक्रमकालीन परिगणन की परिपाटी आज भी लोककथा-प्रवक्ता के मुंह से सुन सकते हैं। लोककथा साहित्य में क्रान्ति के अवसर

व्यवहारतः न के बराबर आते हैं। अच्छे से अच्छे और बुरे से बुरे युग के स्मरण भी इस महासागर में इस पार से उस पार तक एक पूरी हिलोर नहीं उठा पाते हैं—तरंग का अनुभव भले ही किया जा सके। लोककथाओं में विस्मरण और संवर्धन की प्रक्रियाओं के संस्करण भी बड़े धीमे होते हैं। बिना आधार के नवीन रचना तो अपवाद ही हो सकती है। और इस कारण इन कथाओं का सौन्दर्य सदा सतेज रहता है। लोक कथा का संस्कारकर्ता एक चिर सुन्दर वस्तु में अपना सुन्दर दान जोड़ देता है और उस पर भी उसका प्रकाशन का अधिकार सुरक्षित नहीं होता। उससे आगे की परम्परा उसको पूरी तरह परखकर उसका पूरा उपयोग करती है। लोककथा कोरे कागज पर काली स्याही बनकर नहीं रहती। उसका अधिष्ठान तो लोकमानस है। परीक्षण स्थल में ही सतत निवास के कारण लोककथाओं का ऐसा मर्मस्पर्शी रूप है।

बुन्देलखण्ड में दिनभर के कामों से निपटकर रात्रि को भोजन आदि से निवृत्त होकर निश्चिन्तता से बैठने के लिए लोग जुड़ते हैं। यहीं लोककथा का अनुष्ठान होता है। कथा प्रवक्ता अपनी कहानी कहता है, एक व्यक्ति उस समाज में से 'हूंका' देता है और बाकी सब व्यक्ति मौन रहकर सुनते हैं। इस अनुष्ठान में हूंका एक अपरिहार्य साधन है। 'हूंका' देने का ढंग बड़ा आकर्षक होता है। प्रवक्ता के विराम स्थलों पर (जो वाक्य पूरा होने तक अनेक बार आते हैं) 'हूं !', 'हां' साब !', 'और का !', 'ऐसेंई है !' इत्यादि उत्तर देना तो साधारण है। किन्तु प्रवक्ता का 'सहो भरने' के लिए 'चल दए हैं !' 'पोहोंच गए हैं !', 'धन्न है !', 'पटक दए हैं !' सदृश उत्तर घटना-वर्णन के अनुसार चतुर 'हूंका' देने वाला देता है। लोककथा के इस ठाठ के लिए स्थान अथवा ऋतु का बन्धन नहीं है। खेत, खलिहान, अथाई अथवा कोंड़े (अग्निकुण्ड) पर जहां कहीं भी समय काटने की अथवा मनोरंजन की आवश्यकता होती है—यह कहानियां कही-सुनी जाती देखी जा सकती हैं। घर में बच्चों को सोने के लिए छोटी-छोटी कहानियां कहकर बहलाया जाता है।

श्रव्य साहित्य होना लोककथा की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। पुस्तकों के पत्रों में बन्द न होकर उन्मुक्त भागीरथी की भांति उसकी युग-युग की यात्रा ने कहानी कहने की एक स्वतंत्र कला को विकसित किया है। कुशल प्रवक्ता अपने श्रोताओं को कहानी के प्रत्यक्ष दर्शन करा देने में असमर्थ होता है। प्रवक्ता के हावभाव और वाक्य-विन्यास श्रोता को दर्शक बना देते हैं। बीच-बीच में दोहा चौबोला अथवा गीत भी आते जाते हैं। लिपिबद्ध की जाने पर भी इन कथाओं का सौन्दर्य अक्षुण्ण रहता है, किन्तु कहने की कला तो इनमें चमत्कार ला देती है। जिस प्रकार कहानी कही जाती है, उस प्रकार लिखी जाना सम्भव नहीं है।

इन कथाओं का संस्कारकर्त्ता जान अथवा अनजान में प्रवक्ता ही होता है।

प्रवक्ता होना किसी का विशेष अधिकार नहीं। कोई भी व्यक्ति जो कहानी जानता है और उसे सुनाता है—प्रवक्ता है। निश्चित रूप से पहले वह इन कहानियों का श्रोता रहा होता है। एक बात महत्त्वपूर्ण है कि किसी कथा में श्रोताओं को यदि यह ज्ञात होता है कि कुछ अंश बदला है तो उसकी चर्चा छिड़ जाती है। और जिस प्रकार लिखे साहित्य में 'पाठभेद' का प्रकरण चलता है, उसी प्रकार इन लोककथाओं में 'हमने तो ऐसी ही सुनी है', 'हमने इससे इस प्रकार भिन्न सुनी है' इस प्रकार का 'प्रवचन-भेद' का प्रकरण चलता है। लोककथाओं में परिवर्त्तन उचित नहीं है—इस भावना का ऊपर के व्यवहार से आभास मिलता है। किन्तु इनमें परिवर्त्तन होते तो हैं ही। प्रयास से भी और अनायास भी वे प्रवक्ताओं द्वारा ही होते हैं। प्रवक्ता के मस्तिष्क में कथा की केवल मूल कल्पनाएं रहती हैं। भाषा और कथा के शरीर की बाहरी सजावट—यह सब प्रवक्ता का अपना निजी होता है। इस कारण कथानक के बारीक परिवर्त्तन के अतिरिक्त कथा के कलेवर में प्रवक्ता के व्यक्तित्व की छाप निश्चित है। प्रवक्ता की सामाजिक एवं आर्थिक अवस्थाओं और रुचियों का भी लोककथाओं पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। एक ही कहानी में विक्रम को एक प्रवक्ता सिपाही बनाता है और दूसरा जोगी। यह प्रवक्ता क्रमशः सिपाही और जोगी हैं। पहला प्रवक्ता कंचन देने वाला दैत्य बताता है और दूसरा ऋषि-समूह। कथाओं में जादू का जोर भी एक विशिष्ट कल्पना वाले समाज में ही पाया जाता है। लोकमानस का अध्ययन करने के लिए लोककथा एक महत्त्वपूर्ण साधन है।

'बातसी न झूठी, बतासा सी न मीठी, घड़ी का बिसराम—जानै सीताराम। सक्कर को घोड़ा सकलपारे की लगाम, छोड़ दो दरियाव में चला जाय छमाछम छमाछम। हाथभर के मियाँसाब, सवा हाथ की डाढ़ी, हलुवा के दरिया में बहे चले जाते हैं—चार कौर इधर मारते हैं, चार कौर उधर मारते हैं। इस पार घोड़ा, उस पार घास—न घास घोड़े को खाय न घोड़ा घास को खाय। इतने के बीच में दो लगाईं धींच में, तऊ न आये रीत में; तब धर कढ़ोरे कीच में, झट आ गए बस रीत में। हंसिया-सी सूधी तकुया-सी टेढ़ी, पहला सौ करों[1], पथरा सौ कौंरो[2], हातभर ककरी नौ हात बीजा—होय होय खेरे गुन होय[3]। बतासा को नगाड़ौ, पोनी को डंका—किड़ीघूम किड़ीघूम। जरिया[4] कौ कांटौ अठारा हाथ लांबौ—भीत फोर भैंसकैं लागौ। कहानियां की बहन महानियां। ताने बसाए तीन गांव—एक अंजर, एक बंजर, एक में मांसई नइयां। जामैं नइयां मांस[5], बामैं बसैं तीन कुम्हार—एक लंगड़ा, एक लूला, एक के हातई नईयां। जाकैं नइयां हात,

1. रुई से भी कठोर; 2. पत्थर से भी कोमल; 3. खेरे (गांव—चैतन्यारोपित) के गुण से होता है; 4. झरबेरी; 5. आदमी।

तानैं बनाई तीन हंडियां—एक ओंगू, एक बोंगू, एक कै औंठई नइयां। जाकै नइयां ओंठ, ताय बिसाएं[1] तीन जनी[2]—एक औरू, एक बौरू[3] एक कै मौंहई[4] नइयां। जाकै नइयां मोंह, वानें चुरए[5] तीन चाँउर—एक अच्चौ, एक कच्चौ, एक के चोटई नइयाँ। वानें नेउ ो तीन बाम्हन—एक अफरौ[6] एक डफरौ, एक कै पेटई नइयां······। जो इन बातन कौं झूठी समझै तौ राज कों डण्ड और जात कों रोटी। कहता तो कहता पर सुनता सावधान चइए। न कहनवारे कों दोस, न सुननवारे कों दोस, दोस बाकों जाने बात बनाकें ठाड़ी करी। और दोस बउकों नइयां, काएके बानें तो रैन काटबे कों बात बनाई—दोस बाकों जो दोस लगावे। और बात सच्चियइ हुइए काएके तबई तो कही गई।'—इस प्रकार की भूमिका के साथ बुन्देलखण्डी कथा-प्रवक्ता अपनी कहानी का प्रारम्भ करता है।

ऊपर की भूमिका से उसकी कथा का पूरा परिचय मिल जाता है। इसी प्रकार की अलंकारिक भाषा में उसकी कहानी होती है। वह चेतावनी दे देता है कि कल्पना की उड़ानें असम्भव की सीमा तक ली जावेंगी। और यह सभी बुन्देलखण्डी लोककथाओं में है। किसी भी प्रकार की कल्पना करने में कथाकार को थोड़ी भी हिचक नहीं है। पशु, पक्षी, पर्वत, वृक्ष—सबको वह अपनी कथा में मनुष्य की वाणी प्रदान कर सकता है। जड़ प्रकृति भी आपस में वार्त्तालाप कर सकती है। आलौकिक और असम्भव चमत्कारों का वर्णन उसके लिए सहज है—जैसा भूमिका की घटनाओं में किया गया है। मरे आदमी जिन्दा हो जाते हैं, इच्छा करते ही सोने के सतखण्डे महल खड़े हो जाते हैं और चुटकी बजाते ही काठ का घोड़ा हवा में उड़ने लगता है। किन्तु 'जों इन बातन कौं झूठी समझै तो राजकों डण्ड और जात कों रोटी······सच्चियई हुइए काएके तबई तो कही गई' भूमिका का यह अंश भी ध्यान देने योग्य है। घटनाएं अत्यन्त कल्पित और असम्भव होते हुए भी उनमें एक केन्द्रीय सत्य होता है, जिसके लिए वह सारी कथा कही गई होती है। लोककथा 'घड़ी घड़ी का बिसराम' और 'रैन काटने के लिए' होते हुए भी उसका उपयोग धर्म और नीति का व्यापक, सीधा और प्रभावशाली प्रचार करने के लिए किया गया है। तत्त्व में प्रवेश लोककथाकार सरल कर देता है। मनुष्य जगत् के युग-युग के अनुभव भी इन लोककथाओं में संकलित हैं। इन कथाओं की वय बहुत अधिक होने से उसी अनुपात से इनमें ग्रथित ये अनुभव भी परिपक्व होते हैं। प्राचीन लिपिबद्ध धार्मिक और नैतिक कथा साहित्य को लोककथा का गौरवयुक्त पद प्राप्त हुआ है। और हमारे

---

1. मोल लेती हैं; 2. स्त्रियां, 3. मूक; 4. मुंह ही; 5. पकाये; 6. पेट भरा हुआ, तृप्त।

मतानुसार तो ये कथाएं मूलतः लोककथाएं ही हैं—बाद में उनका संकलन, सम्पादन और उपयोग तथा प्रक्षेप किया गया है। धर्मप्राण भारत में धर्म और नीति का लोककथा साहित्य पर बहुत अधिक प्रभाव होते हुए भी मानस जगत् के अन्य भावों की भी अभिव्यक्ति इनमें थोड़ी भी नहीं पिछड़ी है। सभी भावों का इस महोदधि में पूरा उत्कर्ष देखा जा सकता है। इसी कारण प्रवक्ता अपनी भूमिका में कहता है कि 'कहता तो कहता पर सुनता सावधान चइए।'

इतिहास का प्रभाव लोककथाओं पर बहुत थोड़ा दिखता है। यदि ऐतिहासिक वृत्त इनमें मिलें तो कथाकार को कोई उज्र नहीं है। किन्तु यदि वह भ्रष्ट रूप में हों तो कोई आश्चर्य नहीं है। क्योंकि प्रवक्ता को तो अपने केन्द्रीय सत्य के प्रतिपादन और मनोरंजन से अधिक वास्ता है—इतिहास के प्रति शायद वह बिलकुल उदासीन है;

'राजा-रानी और राजकुमार-राजकुमारी'—इनके चित्रणों की ही भरमार लोककथाओं में होती है, यह भ्रामक कल्पना एकदम निर्मूल है। चिमऊं चोर, कलिया भंगिन, गड़रिया, धोबी, पूतबिलासी नाई, संतला जोगी, सिपाही, गधा, घोड़ा, कुत्ता, बैल, ऊंट, हाथी, बन्दर, स्यार, लड़ैया, लुखैया, शेर, चीता, सेठ-साहूकार, महते, कोतवाल, सरदार, राजा-रानी, राजकुमार-राजकुमारी—सबका महत्त्व लोककथाओं में एक-सा है। इन कथाओं में गड़रिया भी सेठ की लड़की पर अनुरक्त हो सकता है और वह भी उसके पास जा सकती है। 'बादसाह अखब्बरा' गड़रिया को अपना मित्र बनाता है और विक्रम अपनी प्राणरक्षा के लिए कलिया भंगिन के पास जाते हैं। अतीत में सामाजिक और आर्थिक वैषम्य का अस्तित्व होते हुए भी लोकमानस उसके कारण कभी व्यथित नहीं हुआ और न उसे ईर्ष्या ही हुई, क्योंकि साधनों की सुलभता और जीवन की सरलता उसे यथेष्ट मस्त बनाए थी। इसी कारण यह साम्ययोग इन कथाओं में है।

इन बुन्देलखण्डी लोककथाओं में राजा वीर बिकरमाजीत की कहानियों को सम्मानपूर्ण पद प्राप्त है। ये गम्भीर और शुभ समझी जाती हैं। पूछे जाने पर प्रवक्ता कहते हैं कि 'राजा बीर बिकरमाजीत, पर दुख के काटनहार हते, चौदा विद्या के निधान हते। उन सरीखो राजा तौ पृथवी पै होबौ मुसकिल है। सेर और बकरियां उनके राज में एक घाट पै पानी पियत हते।' विक्रम की कथाएं प्रवक्ता बड़े आदर से सुनाते हैं। यह पवित्र और शुभकर मानी जाती हैं। राजाओं के व्यक्तिगत नामों से जितनी कथाएं प्रचलित हैं, उन सबमें इन कहानियों की संख्या अब तक हमें सबसे अधिक मिली है। राम और कन्हैया की तरह बेकरमा नाम भी बुन्देलखण्ड में खूब मिलेगा।

व्यक्तित्व—यह पहले ही देखा जा चुका है कि लोककथाओं में ऐतिहासिक वृत्तों की विशेष चिन्ता नहीं की जाती है। अतः इनमें वर्णित राजा बीर

विकरमाजीत कौन-सा है इसका निर्णय शास्त्रीय नहीं हो सकता। किन्तु जितना भी कुछ मसला अटकल के लिए उपलब्ध है, उसके अनुसार यह राजा वीर बिकरमाजीत उज्जैन नगरी का स्वामी और विक्रम-संवत् का प्रवर्तक ही सिद्ध होता है।

'चौदा विद्या के निधान, परदुख के काटनहार राजा बीर बिकरमाजीत' यह प्रशस्ति बुन्देलखण्डी लोककथाओं में विक्रम का नाम आने पर सदा उपयोग में लाई जाती है। हमारा यह आग्रह नहीं (न हमारा यह क्षेत्र ही है) कि गौतमी-पुत्र सातकर्णि को शकारि विक्रम माना जाए, परन्तु उसकी नासिक-प्रशस्ति लोककथा के हमारे विक्रमादित्य के वर्णन से बहुत मिलती-जुलती है। माता गौतमी बालश्री उस लेख में अपने पुत्र सातकर्णि के लिए लिखती हैं—'राजाओं के राजा, गौतमी के पुत्र, हिमालय-मेरु-मन्दार पर्वतों के समान सार वाले, असिक असक मुलक सुरठ कुकुर अपरान्त अनूप विदर्भ आकर (और) अवन्ति के राजा, विक्र छवन पारिजात सह्य कण्हगिरि मच सिरिटन मलय महिद सेटगिरि चकोर पर्वतों के पति, सब राजा लोगों का मण्डल जिसके शासन को मानता था ऐसे, दिनकर की किरणों से विबोधित विमल कमल के सदृश मुख वाले, तीन समुद्रों का पानी जिसके वाहनों ने पिया था ऐसे, प्रतिपूर्ण चन्द्रमण्डल की श्री से युक्त प्रियदर्शन, अभिजात हाथी के विक्रम के समान, नागराज के फण ऐसी मोटी मजबूत विपुल दीर्घ शुद्ध भुजाओंवाले, अभयोदक देते देते (सदा) गीले रहनेवाले निर्भय हाथोंवाले, अविपन्न माता की सुश्रूषा करनेवाले, त्रिवर्ग और देशकाल को भली प्रकार बांटने वाले, पौरजनों के साथ निर्विशेष सम सुख-दुःखवाले, क्षत्रियों के दर्प और मान का मर्दन करने वाले, शक यवन पह्लवों के निषूदक, धर्म से उपार्जित करों का विनियोग करने वाले, कृतापराध शत्रुओं की भी अप्राणहिंसा-रुचिवाले, द्विजों और अवरों के कुटुम्बों को बढ़ानेवाले, खखरातवंश को निरवशेष करनेवाले, सातवाहन कुल के यश के प्रतिष्ठापक, सब मण्डलों सें अभिवादित चरण, चातुर्वर्ण्य का संकर रोक देनेवाले, अनेक समरों में शत्रु-संघों को जीतनेवाले, अपराजित विजयपताका युक्त और शत्रु जनों के लिए दुर्धर्ष सुन्दर पुर के स्वामी कुलपुरुष परम्परा से आये विपुल राजशब्द वाले, आगमों के निलय, सत्पुरुषों के आश्रय, श्री के अधिष्ठान, सद्‌गुणों के स्रोत, एक-धनुर्धर, एक-शूर, एक-ब्राह्मण, राम केशव अर्जुन भीमसेन के तुल्य पराक्रमवाले, नाभाग नहुष जनमेजय...... ययाति राम अम्बरीष के समान तेजवाले......श्रीसातकर्णि......' बुन्देलखण्डी लोककथाओं में राजा बीर बिकरमाजीत के चरित्र को अध्ययन करने पर सहसा यह कल्पना होती है कि माता गौतमी बालश्री ने अपने लेख में उसी का संक्षेप लिखा है जो जन-जन के हृदय पर अंकित था और जिसकी स्मृति आज भी जनता के हृदय में सुरक्षित है। 'गौतमीपुत्र' 'विक्रमादित्य' भले ही न हो पर

विक्रम विषयक लोककथाकार और नासिक-अभिलेख के लेखक की शैली में कोई अन्तर नहीं है।

प्रजापालक और परदुख के काटनहार—बुन्देलखण्डी लोककथाओं में विक्रमादित्य का सबसे बड़ा गुण उनकी प्रजापालकता और परदुःख निवारण बताया है। उसका चित्रण भी सबसे अधिक किया गया है। 'अभयोदक देते देते (सदा) गीले रहनेवाले निर्भय हाथोंवाले······त्रिवर्ग और देशकाल को भली प्रकार बांटनेवाले, पौरजनों के साथ निर्विशेष सम सुख-दुःखवाले, धर्म से उपार्जित करों का विनियोग करनेवाले, कृतापराध शत्रुओं की भी अप्राणहिंसा रुचिवाले, द्विजों और अवरों के कुटुम्बों को बढ़ानेवाले, माता गौतमी बालश्री द्वारा वर्णित श्री शातकर्णि के इन गुणों का आरोप लोककथाओं के विक्रमादित्य में भी बड़ी सुन्दरता से किया गया है।

राजा बीर विकरमाजीत अपनी प्रजा का सुख-दुःख जानने के लिए रात को बहुधा उज्जैन नगरी में वेश बदलकर घूमते दिखाई देंगे। किसी का दुःख मालूम हुआ कि उसको मिटाने के लिए उनकी आत्मा अत्यन्त विकल हो जाती है। उसका दुःख मिटाने के लिए बड़ा से बड़ा खतरा भी वे मोल लेते हैं। वन में आग लगती है। एक सांप विह्वल होकर शीतल होने के लिए राजा से अपने को मुख में रख लेने की प्रार्थना करता है। विक्रम रख लेते हैं—यद्यपि पीछे से सांप उनके पेट में घुसकर उनको जलंधर रोग से पीड़ित कर देता है। चोर उनके महल में चोरी करते हैं तो वे स्वयं उसकी शोध करते हैं और चोरों को दण्ड आजीविका के रूप में मिलता है। कोई दो औरतों की कथा सुनकर विक्रम वहीं दौड़ जाते हैं और अपनी संगीत निपुणता के कारण उनके राजा को इन्द्रसभा से ले आते हैं। कोई नवयुवक परदेस गया। बहुत दिनों से उसके न लौटने के कारण उसके कुटुम्बी व्याकुल हैं तो राजा बीर विकरमाजीत उसे ढूंढ़ने जाते हैं। और क्योंकि उसे राजा की नौकरी से छुट्टी नहीं मिलती है, अतः वे स्वयं उसकी जगह नौकरी करते हैं और उसे घर भेजते हैं।

दुष्काल से पीड़ित राजहंसों का एक जोड़ा विक्रम के पास आता है। खजाने के मोती उनके सत्कार में समाप्त होने को आते हैं। राजा को शंका होती है कि वे राजहंस के जोड़े को मोती न चुगा सकेंगे और इस प्रकार उनको कष्ट होगा। 'जब मैं न कुछ पक्षियों के एक जोड़े का भी पोषण नहीं कर सकता तब ऐसे राजपाट का क्या अर्थ?' ऐसा चिन्तन करते हुए विक्रम रानी सहित आत्म-ग्लानि से राजपाट छोड़कर मुफलिसी के जीवन के लिए निकल जाते हैं और एक लुहार के यहां मजदूरी पर रहते हैं। भयंकर आत्मग्लानि और पक्षियों के उस जोड़े की चिन्ता तीव्रता की इस मात्रा तक पहुंचते हैं कि भगवान् उनको दर्शन देते हैं और वरदान मांगने को कहते हैं। राजा बीर बिकरमाजीत को न तो इस

समय वैभव की लालसा ही जाग्रत होती है और न मुक्ति की भावना ही। वे तो उन पक्षियों के लिए भोजन ही मांगते हैं—जो उनको उनके बगीचे में सदा-बहार सदा फलेफूले मोतियों के वृक्षों के रूप में मिला है।

उज्जैन नगरी में दो दिन पहले ही विवाह होकर आई एक स्त्री का पति मर जाता है। विक्रम वहां पहुंचते हैं। वह कहती है 'राजा बीर बिकरमाजीत, तेरे राज में मैं विधवा भई। तैं तौ पराए दुख कौ काटनहार है, मेरौ दुख न हर सकहै?' विक्रम लाश को न जलाने की हिदायत देकर रवाना होते हैं। अपनी जान पर खेलकर अमृतपैंती (वह अंगूठी जिससे अमृत टपकता है) देवी से वरदान में लाते हैं। उससे उस नवयुवक को जिन्दा करते हैं। सन्तला जोगी एक सेट की बहू को ले भागता है। वह बड़ा भारी जादूगर है। अत: उस सेठ के सातों पुत्रों को घोड़ों सहित उसने पत्थर के बना दिये, जो उस बहू को लेने गये थे। सेठ-सेठानी और उनकी छहों पुत्रवधुओं का परिवार इधर अत्यन्त विकल हो गया था। विक्रम को रात्रि के गश्त में इसका समाचार मिला। उस बहू और सेठ के उन पुत्रों की मुक्ति के लिए राजा चल पड़े। मार्ग में शिवजी भी उनको सन्तला जोगी के जादू का भय बताते हैं। किन्तु विक्रम को अपने प्राणों का मोह नहीं है। वह दुनियाभर के खतरे उठाकर उनका उद्धार करते हैं।

देशाटन के सिलसिले में एक नगर में विक्रम पहुंचते हैं, जहां एक बुढ़िया रो रही है। आज रात को राजकुमारी के पहरे पर उसके इकलौते पुत्र की बारी है, जहां का पहरेदार प्रतिदिन सवेरे मरा हुआ मिलता है। विक्रम द्रवित होकर बुढ़िया को सान्त्वना देते हैं और स्वयं उस लड़के की जगह पहरे पर जाते हैं; जहां रात्रि में पहरेदारों की मृत्यु का कारण—राजकुमारी के मुख में से निकली हुई नागिन को मारते हैं और इस प्रकार उस कुमारी और आधे राज्य के अधिकारी होते हैं।

आपत्ति के मारे विक्रम एक बार राजा भोज की नौकरी में जाते हैं। वहां उन्हें स्यारनी की बोली द्वारा ज्ञात होता है कि आज राजा भोज की मृत्यु है। विक्रम स्यारनी के पीछे दौड़ते हैं। स्यारनी देवी के मन्दिर में घुसती है और वहां विक्रम को स्यारनी के बजाय प्रत्यक्ष देवी के दर्शन होते हैं। राजा भोज की मृत्यु टलने का उपाय विक्रम द्वारा पूछे जाने पर देवी बतलाती है कि किसी अन्य व्यक्ति द्वारा शीशदान दिये जाने पर भोज की मृत्यु टल सकती है। विक्रम उसी क्षण अपना सिर काटकर देवी के चरणों पर चढ़ा देते हैं। पीछे भोज के आग्रह के कारण देवी उनको जीवित करती हैं।

जादू के चक्कर में पड़कर राजा विक्रम तोते के शरीर में रहकर जीवनयापन कर रहे थे। उनका प्रतिद्वन्द्वी उनके शरीर में रहकर सारे तोते मरवा रहा था। विक्रम एक पेड़ के पास से निकले जिस पर निन्यानवे तोते बहेलिया के जाल में

फंसे हुए थे। उनके दुःख को देखकर विक्रम कातर हो गये और स्वयं भी उन तोतों के साथ उस जाल में जा फंसे। यद्यपि वे युक्ति से सबको छुटाने के लिए फंसे थे किन्तु दैवयोग से उनकी युक्ति से और सब तोते तो उड़ गये—वे स्वयं बहेलिया के हाथ पकड़े गये और मौत के खतरे का सामना करना पड़ा।

विक्रम की परदुःख कातरता का चरम उत्कर्ष तो राजा करन और विक्रम की कथा के उस प्रवचन में हुआ है, जिसमें राजा करन ने राजहंस के जोड़े को बन्दी बनाकर केवल इसलिए दुःख दिया कि दुष्काल में विक्रम के यहां उनको पूरा आराम मिला था, अतः वे 'चौदा विद्या के निधान, परदुःख के काटनहार राजा बीर बिकरमाजीत की जय' का घोष करते हुए उसके महल के ऊपर से निकले थे। राजा करन जो रोज सवेरे सवा मन कंचन का दान करता था, यह सहन न कर सका कि उसका यशोगान तो कहीं न सुना गया और विक्रम कोई ऐसा राजा है, जिसकी जय पक्षी भी बोलते हैं। एक रमते जोगी द्वारा विक्रम को राजहंसों की जोड़ी के कष्ट का समाचार मिला। उन राजहंसों का कष्ट मिटाने के लिए वह राजा करन के पास दौड़ आये। यहां उनको एक दूसरे दृश्य ने और भी व्यथित कर दिया। अपना शरीर कढ़ाव में पकाकर ऋषियों को खिलाने के बदले में राजा करन को सवा मन कंचन प्राप्त होता था। राजहंस की जोड़ी को कष्ट देकर राजा करन ने विक्रम को क्रुद्ध करने के लिए काफी मसाला इकट्ठा कर दिया था। किन्तु विक्रम करन के इस दिन-प्रति-दिन के कष्ट को देखकर व्यथित हो जाते हैं। वे अपने शरीर को चीरकर उसमें तीव्र मसाले भरते हैं और उस कढ़ाव में मेवा के साथ पकते हैं। 'धन्न रे राजा बीर बिकरमाजीत, पर दुःख के काटनहार !' कहानी के प्रवाह के इस स्थल पर प्रवक्ता और श्रोता सभी के मुंह से सहसा ये उद्‌गार निकल पड़ते हैं ! वह ऋषि-मण्डल इस मांस को खाकर बहुत प्रसन्न होता है, क्योंकि आखिर वह मांस राजा वीर बिकरमाजीत का था, और मन में संकल्प करता है कि आज राजा करन जो मांगेगा सो पावेगा। जीवित होने पर विक्रम मांगते हैं, 'आजतें राजा करन कढ़ाओ उटन न आवैं और सवा मन कंचन रोज पलका तरैं पावैं।' राजा करन को ऐसे कष्ट से मुक्ति दिलाकर और राजहंस मुक्त करवाकर विक्रम वापस उज्जैन लौटते हैं।

वैभव, विक्रम और यश—'धन्न रे राजा बीर बिकरमाजीत, जाके बगीचा में मुतियन के झाड़ फरे !' जहां ऐसा वर्णन हो और अमृतपैंती, भगवान् के दर्शन, चाहे जो सुलभ हो, उस वैभव के लिए अधिक क्या कहा जाय। प्रवचन-भेदानुसार दो अथवा चार 'वीर' विक्रम की व्यक्तिगत शक्तियां थीं। इन वीरों में सब कुछ कर सकने की शक्ति थी। विक्रमादित्य के विक्रम का वर्णन उनके साहसी कार्यों द्वारा किया गया है। वे कभी भी अपने प्राणों के लिए हिचकते नहीं हैं।

जो कार्य उनको उचित दिखता है, उसमें वे प्राणों की बाजी लगा देते हैं। सफलता उनकी चेरी दिखती है। अनेक राजाओं की विक्रम के पुत्र के साथ अपनी कन्या के विवाह की लालसा, सुदूर सिंहल में दानव का यह कथन कि विक्रम के पुत्र को देखते ही उस गुफा की अभेद्य वज्रशिला अपने आप तड़क जाएगी, जिसमें उसके प्राणों की बगुली रहती थी, और वैसा ही होना—ये सब विक्रम के यश और पराक्रम के ही परिचायक हैं।

चीन देश की राजकुमारी जिस व्यक्ति से विवाह करने को लालायित थी उसका यश विशाल ही होगा। ऐरावत हाथी और श्यामकर्ण घोड़े के पास जब विक्रम अनायास पहुंचते हैं तो 'धन्न भाग, जो आज चौदा विद्या के निधान, पर-दुःख के काटनहार, राजा बीर बिकरमाजीत के दरसन पाये!' कहकर कृतार्थ होते हैं। सन्तला जोगी से सेठ के पुत्रों और बहू का उद्धार करने जब विक्रमादित्य जाते हैं तो उन्हें सन्तला जोगी की जान लेने जाना पड़ता है। यह जान 'सात समुन्दर आड़े और सात समुन्दर ठाड़े' पार एक टापू पर एक बड़ के पेड़ पर पिंज़ड़े में टंगी हुई बगुली में थी। उस बड़ के वृक्ष के पत्ते-पत्ते पर सांप और बिच्छू थे। विक्रम समुद्र किनारे पहुंचते हैं। समुद्र के सारे जीवजन्तु विक्रम के दर्शन पाकर धन्य धन्य ध्वनि करते हैं और विक्रम के दर्शन पाकर अपना जन्म सफल मानते हैं। अपनी पीठों का पुल बनाकर विक्रम को उसके ऊपर से निकालकर वे उनको इच्छित टापू पर पहुंचाते हैं। बड़ के ऊपर के सांप-बिच्छू भी समुद्री जीवों की तरह विक्रम के दर्शनों से अपने को धन्य मानते हैं और विक्रम पिंजड़ा लेकर वापस लौटते हैं। इस्माल जोगी के जादू से अपनी रक्षा करने के लिए पद्मिनी से विवाह करने को विक्रम की सिंहलद्वीप की यात्रा में राघव मच्छ का बेटा भी विक्रम के दर्शन से उसी प्रकार अपने को कृतार्थ मानता है और इस ओर से विक्रम को स्वयं अपनी पीठ पर तथा वापस लौटते समय जबकि उनके साथ सात रानियां और अगणित फौज थी, 'झाझर-पातर' पर रखकर उन सबको समुद्र पार कराता है।

अत्यन्त चमत्कारपूर्ण घटना तो यह है कि जब चिमऊं, राजाज्ञा से, ऐसी चीज जो न देखी गई हो और न सुनी गई हो, ढूंढ़ता-ढूंढ़ता चीन देश की राजकुमारी के उस बगीचे में पहुंचता है जहां अपने आप बिना मनुष्य के रहंट चल रहा था, बिना मनुष्य के ही क्यारियों में पानी लग रहा था और फूल चुनने और मालाएं बनने का काम भी अपने आप बिना आदमी के हो रहा था। चिमऊं ने सोचा कि सचमुच ऐसा काम विक्रम ने न देखा और न सुना होगा। फिर भी परीक्षण के लिए उसने विक्रमादित्य की आन दी कि 'चौदा विद्या कौ निधांन, परदुःख कौ काटनहार, राजा बीर बिकरमाजीत जो सतकौ सांचौ होय तो जे सब काम बन्द हो जांय'। वे सब काम उसी क्षण बन्द हो गये। सुदूर

चीन में लोककथा के विक्रमादित्य की आन ने काम किया।

चौदा विद्या के निधान और जादू—विक्रम पशु-पक्षियों की बोली पहचानते थे, यह तो इन लोककथाओं में एक व्यापक मूल कल्पना है। तोते के वेश में विक्रम अपने आश्रयदाता राजा को एक गर्भवती घोड़ी की खरीद करवाते हैं जिसका पेट चीरने पर उसमें से श्यामकर्ण अथवा उड़ना घोड़ा निकलता है। अश्व-विद्या की आत्यन्तिक निपुणता का यह परिचायक है। वेश बदले जब विक्रम पद्मिनी लेकर लौटते हैं, तब मार्ग में सिंहलद्वीप के किसी अन्य राज्य के नगर में खर्च चलाने के लिए वे एक लाल बेचने को जाते हैं। राजा का जौहरी उनके लाल में कुछ खोट बताता है। विक्रम जौहरी से अपना अच्छा से अच्छा लाल बताने को कहते हैं। जौहरी के उस सर्वोत्तम लाल को विक्रम अत्यन्त निकृष्ट श्रेणी का बताते हैं। राजा के आगे शर्त लगाकर दोनों लालों की परीक्षा होती है। चोट पड़ने पर जौहरी का लाल चार टुकड़े हो जाता है और विक्रम का लाल घन तथा निहाई में गड्ढे कर देता है। जौहरी अपना सर्वस्व विक्रम को देकर हाथ पांवों से निकल जाता है और राजा वेश बदले हुए विक्रम को अपना सवाई जौहरी नियुक्त करता है। यह कथा विक्रम के पुत्र के सम्बन्ध में भी प्रचलित है। जिन कथाओं पर जादू का असर नहीं पड़ा है उनमें विक्रम का यह गुण बताया गया है कि अपना शरीर छोड़कर दूसरे मृत शरीर में प्रवेश कर सकते थे। विक्रम की संगीतकला में आत्यन्तिक निपुणता के वर्णन भी अनेक जगह आते हैं। एक बार विक्रम छत्तीसों वाद्यों का स्वर मिलाकर कोई राग रागिनी बजाते हैं तो इन्द्रलोक में उसकी मधुर झनकार पहुंचती है और इन्द्र के दरबार में इनको ले जाने के लिए अप्सराएं आती हैं।

किन्तु जहां कथाओं पर जादू का असर पड़ा है, वहां तो ये चौदह विद्याएं जादू की हो गयी हैं। विक्रमादित्य केवल चौदह विद्याएं जानते हैं जबकि इन कथाओं में विद्याओं की संख्या इक्कीस तक गिनाई गई है। जादू की कथाओं में अधिकांश क्रम ऐसा है कि चौदह विद्याएं विक्रम जानते हैं, पन्द्रह उनका प्रतिद्वन्द्वी जानता है और इक्कीस तक की संख्या में विद्याएं वे कन्याएं जानती हैं जिनके साथ विक्रम को प्रतिद्वन्द्वी से बचने के लिए विवाह करना पड़ता है। पन्द्रहवीं विद्या अनेक जगह इन जादू की कथाओं में वह बताई गई है, जिससे अपना जीव दूसरे मृत शरीर में इच्छानुसार पहुंचाया जा सकता है। विक्रम इस विद्या को सीखने गये—ऐसी अनेक कथाएं हैं। प्रवचन भेदानुसार देवी अथवा कलिया भंगिन के पास विक्रम यह विद्या सीखने जाते हैं और किसी कथा में नाई और किसी में धोबी उनके साथ लगकर छुपकर यह विद्या सीखता है। कथानक एक ही है कि लौटने में विक्रम से उक्त विद्या का प्रदर्शन करने को वह कहता है और विक्रम के अन्य शरीर में घुसते ही वह स्वयं विक्रम के शरीर में घुसकर

अपने शरीर की दाहक्रिया कर देता है। विक्रम के शरीर में आकर वह विक्रम के जीव को नष्ट करने का उपाय करता है—यद्यपि पीछे प्रयत्न करने पर विक्रम अपने शरीर में आ जाते हैं और उस प्रतिद्वन्द्वी को दण्ड देते हैं। इन जादू की कथाओं में सदा लड़ाइयां आती हैं। लड़ाइयों के लिए ही जादू है—ऐसा मालूम होता है। जादू की लड़ाई में चमत्कार भी खूब होता है। कभी चील बनकर लड़ाई होती है, कभी चिड़िया पर बाज झपटता है। सन्तला जोगी मुर्गा बनकर उस मोती को चुगने के लिए झपटता है जिसमें विक्रम की नवविवाहिता पत्नी ने उनके प्राण छुपा दिये थे, तो वह राजकुमारी बिल्ली बनकर उस मुर्गे पर टूटती है और उसे मार डालती है। इस्माल जोगी पन्द्रह विद्याएं जानता था, उससे विजय पाने के लिए विक्रम ने सिंहलद्वीप की सात कन्याओं से विवाह किया। उनमें पद्मिनी इक्कीस विद्याएं जानती थी। वापस आकर विक्रम ने जब इस्माल जोगी से युद्ध किया तो विक्रम की हार हुई। पद्मिनी ने इस्माल से कल आने को कहा। दूसरे दिन एक गधे को आदमियों से मरवा कर रख लिया। इस्माल जोगी के आने पर उसने अपनी विद्या बताकर गधे को जीवित करने को कहा। इस्माल ने जैसे ही अपने प्राणों का प्रवेश गधे में किया—पद्मिनी ने उसका शरीर जलवा दिया। इस्माल गधा ही बना रह गया। सब आगे को चल दिये और गधा साथ ले लिया गया। ऐसी चमत्कारपूर्ण घटनाएं इस जादू में सहज हैं। चौदह विद्याओं को जादू का रूप दे देने से निश्चित रूप से उसका असली प्रतिभावान् रूप नष्ट हो जाता है और इसीलिए जादू की कथाओं में 8-9 से 21 तक की गिनती विद्याओं के लिए गिनाई गई है।

विक्रमादित्य का ज्योतिषी—अमरसिंह पण्डित का नाम विक्रमादित्य के ज्योतिषी की तरह आता है। किन्तु इस नाम को अधिक महत्त्व देना उचित नहीं दिखता है। प्रवचनभेद की बाट देखना उचित है। अमरसिंह रात्रि को पत्नी का कुतूहल पूरा करने के लिए घड़े की ज्वार को मोतियों के रूप में परिणत करने वाली घड़ी का शोध कर रहे थे। जब उसने 'हूं' कहा तब पण्डितानी तो चूक गईं—घड़े में डण्डा न दे सकीं—मकान के पीछे खड़े विक्रम ने उसी समय एक कद्दू पर तलवार मारी। कद्दू के दोनों पलड़े सोने के हो गए। इसी प्रकार दूसरी रात को स्यार की बोली का अर्थ अमरसिंह से सुनकर विक्रम ने दो लाल प्राप्त किये। राजसभा में विक्रम ने अमरसिंह का मान किया और कहा कि 'शोधबेवारो तेरे ससीको और बेधवेवारो मेरे सरीको' होना चाहिए।

विक्रम संवत्—विक्रम-संवत् के प्रचलन के सम्बन्ध में बड़ी अद्भुत कल्पना एक कथा में है। अमावस्या के दिन राजसभा में विक्रम द्वारा तिथि पूछी जाने पर अमरसिंह ने पूर्णमासी बतलायी। सभा में सन्नाटा छा गया। सबने पूछा, 'तो आज पूर्णचन्द्र उगेगा ?' अमरसिंह के मुख से निकल तो चुका ही था।

बोले, 'हां, उगेगा।' पिता की चिन्ता दूर करने के लिए उनकी पुत्री चन्द्रमा के आराधन के लिए गयी और उस रात्रि को पूर्णचन्द्र उगा। तभी से विक्रम-संवत् का प्रचलन हुआ और मासारंभ पूर्णिमा के बजाय अमावस्या के बाद से होने लगा। 'सन्न राजा बीर विकरमाजीत कौ और सक राजा सारवाहन कौ।'— प्रसिद्ध कथाप्रवक्ता सूरी महते ने इस कथा के अन्त में एक 'जनवा' की मुस्कराहट के साथ यह कहा था। इस कथा का अधिक स्पष्ट प्रवचन कदाचित् मिले।

सारवाहन—सारवाहन शालिवाहन का ही रूपान्तर समझना चाहिए। हमारी कथाओं में सारवाहन को विक्रम का औरस पुत्र बताया गया है। विक्रम की कथाओं में एक व्यापक मूल कल्पना है कि राजा किसी कुमारी से विवाह करता है अथवा उसे अधब्याही करके छोड़ आता है। यह विवाहिता छल से राजा से पुत्र उत्पन्न करती है। यह पुत्र जाकर राजा को छल-बल से नीचा दिखाता है। बाद को परिचय होता है और राजा अपनी पत्नी को बुला लेता है और यह लड़का राजकुमार होता है। किन्तु सारवाहन की कथा में रानी के नवविवाहित होने का कोई उल्लेख नहीं है। रानी गर्भवती महल में ही होती है। रानी के गर्भ के सम्बन्ध में ज्योतिषी विक्रम को बताते हैं कि इस रानी के गर्भ से ऐसा पुत्र होगा जो बल, बुद्धि, विक्रम और यश में उनको परास्त करेगा। विक्रम उस रानी को मरवाने की आज्ञा देते हैं। रानी किसी प्रकार अपनी प्राणरक्षा करती है। एक कुम्हार उसे अपनी धर्म की पुत्री बनाकर रखता है। रानी के गर्भ से सारवाहन पैदा होता है। वह बड़ा होता है। कुम्हार उसे खेलने के लिए मिट्टी के घोड़े और सिपाही बना-बनाकर देता है, जिन्हें वह घर की छत पर रखता जाता है। छत इस फौज से भर जाती है। एक दिन चार भाइयों का एक ऐसा प्रकरण, जिसका न्याय स्वयं विक्रम नहीं कर सके थे, सारवाहन निपटाता है। 'विक्रम को इसका समाचार मिलता है। वह सारवाहन को बुलावा भेजते हैं, जिसकी वह अवज्ञा करता है। विक्रम एक बड़ी फौज लेकर उस पर चढ़ाई करते हैं। उसकी माता अपनी छिंगुरी का रक्त छिड़ककर अथवा प्रवचन भेदानुसार देवी अमृत से उसकी मिट्टी की फौज में जीवन डाल देती है। युद्ध में सारवाहन विजयी होता है। बाद को विक्रम को यह ज्ञात होने पर कि सारवाहन उनका ही पुत्र है, वे प्रसन्न होकर उसे साथ लिवा ले जाते हैं। इस कथा में राजा के अन्य पुत्रों की तरह सारवाहन ने छल-बल नहीं किया है—प्रत्यक्ष युद्ध ही किया है। लेकिन सिंहासन बत्तीसी अथवा विक्रम-चरित्र में वर्णित शालिवाहन की तरह इनमें सारवाहन को विक्रम का संहारक नहीं बताया गया है।

सारवाहन का चित्रण बड़ा जगमगाता हुआ किया गया है। विपत्ति के कारण सारवाहन के साथ की बरात और धनधान्य सब विवाह को जाते हुए मार्ग में नदी में डूब जाते हैं। उस नगर में पहुंचने पर उसके भी हाथ-पांव कट

जाते हैं। किन्तु स्वयंवर में राजकुमारी सारवाहन के गले में माला डालने की प्रार्थना हाथी से करती है। हाथी उस ठूंठ के गले में माला डालता है। इसके बाद देवताओं द्वारा सारवाहन का मान होता है। उनकी कंचन की काया होती है और 'करम, धरम, लछमी और सत्त' के जिस प्रकरण को त्रैलोक्य में कोई भी नहीं निपटा सका था, उसको निपटाकर सारवाहन वापस लौटते हैं।

विक्रमादित्य और स्त्री समाज—लोककथाओं में त्रिया-चरित्र राजा वीर बिक्रमाजीत के चरित्र से बड़ा बताया गया है। परीक्षण के बाद स्वयं विक्रम इस बात को स्वीकार करते हुए बताये गए हैं। अनेक स्थलों पर विक्रम स्त्रियों से लज्जित होते बताये गये हैं। स्त्रियों के आगे राजा की प्रतिभा कम होना—यह एक व्यापक मूल कल्पना दिखाई देती है। जादूगर प्रतिद्वन्द्वी से बचने के लिए तो उनको हमेशा अधिक विद्या जानने वाली कुमारी ढूढ़नी पड़ती है, जिससे विवाह करके ही वे अपनी रक्षा कर पाते हैं। यह नवविवाहिता ही जादूगर शत्रु को हराकर उनकी रक्षा करने में समर्थ होती है। जादू की कथाओं पर यदि ध्यान न दिया जाए, तब भी उपरोक्त मूल कल्पना बहुत अधिक व्यापक है। जलन्धर के रोगी विक्रम भी अपनी नवविवाहिता पत्नी के प्रयास से ही अच्छे होते हैं।

दुर्बल विक्रम—ग्वालिन अथवा वेश्या को महल में बुलाया जाना—यह एक मूल कल्पना है जिससे लोककथाओं के विक्रम की चारित्रिक दुर्बलता का भ्रम हो सकता है। किन्तु यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि लोक-मानस में यह कल्पना एक राजा को दूषित नहीं करती है।

लोककथाओं में विक्रम दयनीय होते हुए भी यत्र-तत्र खूब देखे जा सकते हैं। यह व्यापक मूल कल्पना लोकमानस के सांसारिक अनुभवों के परिपाक की परिचायक है। जलन्धर के रोगी विक्रम कुएं पर अथवा भड़भूजे के यहां नौकरी करते देखे जा सकते हैं। जादू की कथाओं में तो उनका हाल बहुत ही बुरा हो जाता है। क्योंकि वे केवल चौदह विद्याएं जानते हैं जबकि अन्य व्यक्ति पन्द्रह से इक्कीस विद्याएं तक जानते हैं। इन कथाओं में विक्रम को कभी अन्य योनियों में भटकना पड़ता है, कभी अधिक विद्या जानने वाली कुमारियों से विवाह करने के लिए अथक प्रयास करने पड़ते हैं। और विवाह के बाद भी यदि किसी से युद्ध होता है तो विक्रम तो हतप्रभ ही रहते हैं—उनकी नवविवाहिता पत्नियां ही उनके प्रतिद्वन्द्वी को हराती हैं।

वह दृश्य भी बड़ा दयनीय है, जब विक्रम उज्जैन नगरी के बाहर जिस गधे पर बैठकर एड़ लगाते हैं, वही उनको लेकर गिर पड़ता है। और वहीं कुएं पर पानी भरती हुई ब्राह्मण की बेटी कहती है, 'राआ काए कौं जे गधा मारैं डारत हौ; बौ बौई हतौ, जे जेई है।' अपने पुत्र के छल के कारण गश्त के सिलसिले में

रात्रि में औरत का वेश किए अथवा कोदों पीसते हुए विक्रम का दिखना—यह एक व्यापक मूल कल्पना है। किन्तु यह 'पुत्रादिच्छेत्पराजयम्' के अनुसार ही है। क्योंकि अनेक जगह विक्रम स्वयं 'जब तेरो जाओ छल है मोय, तबई लुआउन, आहौं तोय'—यह अपनी नवविवाहिता के अंचल पर लिखकर आते हैं।

उपसंहार—इन लोककथाओं में विक्रम के चित्रण को देखकर उनके सम्बन्ध में लोककल्पना का आभास होता है। विक्रम की परदुःखकातरता, प्रजापालता, उदारता, वैभव, यश, पराक्रम और प्रभाव का चित्रण करते हुए लोककथाकार अघाता नहीं है। कथाओं में विक्रम अनन्य लोकप्रिय दिखते हैं। नये श्रोता को जादू सम्बन्धी कहानियां सुनकर यह शंका हो सकती है कि विक्रम पराजित अथवा कम प्रभावशाली क्यों? किन्तु थोड़े बारीक अध्ययन के बाद मालूम हो जाता है कि लोककथा में जहां जादू शुरू हुआ कि फिर तो स्वयं कथा-प्रवक्ता पर जादू का भूत सवार हो जाता है। इस प्रकार जादू की तो लोककथा एक स्वतंत्र शाखा है, जिसमें बुद्धि का बन्धन प्रवक्ता और श्रोता छोड़ देते हैं। पुत्र से पराजित होने और स्त्रियों के आगे विक्रम को दीन बताने की मूल कल्पनाओं का आधार तो लोक-जीवन का कल्पना-माधुर्य और अनुभवपरिपाक ही है।

लोकजीवन के इस अन्धकारमय युग में भी विक्रमादित्य का यशःशरीर 'होरी कैसी झांक, दिवारी कैसौ दिया' जैसा बुन्देलखण्डी लोककथाओं में प्रदीप्तिमान है।[1]

---

1. हमने लेखक से 'विक्रम-स्मृति-ग्रन्थ' के लिए बुन्देलखण्ड में प्रचलित विक्रम-सम्बन्धी लोककथाओं का अध्ययन करने का अनुरोध किया था, उसके परिणाम-स्वरूप लेखक ने यह विद्वत्तापूर्ण लेख लिखा है।—सं०।

आयुर्वेद में विक्रम

☐ आयुर्वेदाचार्य श्री डॉ० भास्कर गोविन्द घाणेकर

पिछली कुछ शताब्दियों से आयुर्वेद की ऐसी निकृष्ट दशा हो गई है कि आयुर्वेद प्रेमी भी स्वयं उसकी बहुत तरफदारी नहीं कर सकते। पाश्चात्य लोग जो अपनी चिकित्सा-प्रणाली का उत्कर्ष चाहते हैं, आयुर्वेद को बदनाम करने के लिए उनको अवैज्ञानिक कहकर घृणा की दृष्टि से देखते हैं; और हमारे भारतीय भी उनकी देखादेखी बिना सोचे-समझे और पढ़े-गुने एक पग आगे बढ़कर आयुर्वेद का उपहास किया करते हैं। परन्तु एक काल ऐसा था जब ज्ञात जगत् आयुर्वेद की ओर श्रद्धा और आदर की दृष्टि से देखा करता था। उसका कारण यह था कि उस कालखण्ड में भारतवर्ष में आयुर्वेद के एक से एक बढ़कर, धुरंधर विद्वान् उपस्थित थे जिनके अथक परिश्रम और तत्त्वान्वेषण से आयुर्वेद अन्य देशों की चिकित्सा प्रणाली की तुलना में परम उन्नत और गुरुस्थान पर हो गया था, जिनके चिकित्सा चमत्कारों को देखकर और सुनकर अन्य देशों के लोग दांतों तले अंगुली दबाते थे और जिनके पास आयुर्वेद का अध्ययन करने के लिए भारतवर्ष की यात्रा करके वैद्यक ज्ञान प्राप्त कर उसका उपयोग अपने वैद्यक में किया करते थे।

कालक्रमणिका की दृष्टि से भारतीय अन्य शास्त्रों के समान आयुर्वेद का इतिहास बहुत ही अपूर्ण और अनिश्चित स्वरूप का है। एक भी ऐसा ग्रन्थ नहीं है जिसका निर्माणकाल ठीक मालूम हुआ है, न एक भी ऐसा प्राचीन ग्रन्थ-कार है, जिसकी जीवनी से हम भली-भांति परिचित हो गये हैं। ऐसी अवस्था में आयुर्वेद के उज्ज्वल काल की ठीक मर्यादा बताना बहुत कठिन है। इस कठिनाई को दूर करके उस काल की स्थूल कल्पना वाचकों के सामने रखने के लिए मैंने चार काल खण्ड बनाये हैं, जिनमें आयुर्वेद का इतिहास संक्षेप में देने की कोशिश की गई है।

(1) **वेदपूर्वकाल**—आयुर्वेद संसार का एक अत्यन्त प्राचीन वैद्यक शास्त्र है, इस विषय में सब सहमत हैं, परन्तु उसकी प्राचीनता कहां तक पहुंचती है, इस

विषय में मतभिन्नता है। सुश्रुत और काश्यप संहिताकारों के अनुसार पृथ्वीतल पर मनुष्यों की उत्पत्ति होने से पहले आयुर्वेद का अवतार[1] हुआ है। बहुत लोग इस उक्ति को एक पौराणिक कल्पना समझेंगे। परन्तु यह कोरी कल्पना नहीं है, इसके पीछे बड़ा भारी तत्त्व छिपा हुआ है जो संहिताकारों की विशाल बुद्धि और सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का साक्ष्य देता है। यदि पशु-पक्षियों की ओर देखा जाय तो उनमें भी अपनी प्रजा की रक्षा का प्रबन्ध करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति दिखाई देती है। मनुष्यों का तो कहना ही क्या है? उनको न केवल वर्तमान प्रजा की किन्तु भावी प्रजा की तथा न केवल स्वास्थ्य रक्षा की किन्तु आर्थिक और सांस्कृतिक रक्षा की अत्यधिक चिन्ता लगी रहती है, जिसके परिणामस्वरूप हमेशा लड़ाई-झगड़े हुआ करते हैं। यहां पर केवल स्वास्थ्य रक्षा का ही विचार अभिप्रेत है। इसलिए उस दृष्टि से यदि मनुष्यों की ओर देखा जाए तो भी सब लोग इस विषय में प्रयत्नशील दिखाई देते हैं कि अपनी भावी प्रजा सुदृढ़ और स्वस्थ उत्पन्न हो जाए। आजकल इस प्रयत्न में सहायता करने के लिए प्रत्येक उन्नतिशील देश में स्वास्थ्य विभाग को ओर से या शासकों की ओर से 'एण्टी-नेटल क्लीनिक' नाम की सार्वजनिक संस्थाएं खोली गई हैं। प्रजा उत्पन्न होने से पूर्व उसके परिपालन का कितना महत्त्व होता है, इसका परिचय इन आधुनिक पाश्चात्य 'प्रिनेटल क्लीनिक' (Prenatal clinic) संस्थाओं द्वारा स्पष्ट जाहिर होता है। इस महत्त्व को सामने रखकर काश्यपसंहिताकार कौमारभृत्य को[2] आयुर्वेद के अष्टांगों में अधिक महत्त्व का बताते हैं। जब साधारण मनुष्य अपनी भावी प्रजा के परिपालन में इतने प्रयत्नशील रहते हैं तब यदि सृष्टि का उत्पादक प्रजापति अपनी लाड़ली और सर्वश्रेष्ठ प्रजा मनुष्यजाति[3] के परिपालन का प्रबन्ध करे या उस पर इस प्रकार का प्रबन्ध करने का आरोप किया जाए तो उसमें आश्चर्य करने का कोई कारण नहीं दिखाई देता।

अब प्रजा उत्पन्न होने से पूर्व प्रजापति ने जो आयुर्वेद उत्पन्न किया, उसका स्वरूप किस प्रकार का हो सकता है, इस विषय पर विचार किया जाएगा। सभी

---

1. इह खल्वायुर्वेदं नाम यदुपांगमथर्ववेदस्यानुत्पाद्यैव प्रजा कृतवान् स्वयम्भूः।
(सुश्रुत)॥

अथर्ववेदोपनिषत्सु प्रागुत्पन्नः स्वयम्भूर्ब्रह्मा प्रजाः सिसृक्षुः प्रजानां परि-पालनार्थमायुर्वेदमेवाग्रेऽसृजत् सर्ववित् (काश्यपसंहिता)

2. कौमारभृत्यमष्टानां तन्त्राणामाद्यमुच्यते।
आयुर्वेदस्यमहतो देवानामिव हव्यपः॥ (काश्यपसंहिता)

3. भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः। बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठाः।
(मनुस्मृति)

लोग जानते हैं कि गुणविकासवाद के अनुसार मानवजाति उत्पन्न होने से पहले चन्द्र, सूर्य तथा तज्जनित दिनरात षट्ऋतु इत्यादि कालविभाग, जल, वायु, खनिज द्रव्य, विविध वनस्पति और प्राणी उत्पन्न हो[1] जाते हैं। इन सब वस्तुओं का मनुष्यों का स्वास्थ्य बनाये रखने के लिए तथा गिरे हुए स्वास्थ्य को पुनर्स्थापित करने के लिए उपयोग करने का शास्त्र ही आयुर्वेद है। आयुर्वेद के अनुसार कोई द्रव्य अनौषधि[2] नहीं है, केवल युक्ति की आवश्यकता है। सुश्रुत संहिता के प्रथम अध्याय में इस प्रकार[3] आयुर्वेद की संक्षिप्त व्याख्या दी गई है और यह भी स्पष्ट किया है कि आगे की सम्पूर्ण संहिता में केवल इसी का ही विस्तार होगा।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि वेद पूर्वकाल में मनुष्य प्रजापति-निर्मित द्रव्यों का उपयोग अपने स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिए तथा बिगड़े हुए स्वास्थ्य को पुनर्स्थापित करने के लिए करते रहे और इस प्रकार से स्वास्थ्यरक्षा और व्याधिपरिमोक्ष के सम्बन्ध में अनुभव प्राप्त करते गए। परन्तु ये सब अनुभव लोगों के मन में रहे और अक्षर-सम्बद्ध नहीं हुए। संक्षेप में वेद पूर्वकाल का आयुर्वेद अलिखित और प्रयोगात्मक था। इसको आयुर्वेद की शैशवावस्था कह सकते हैं।

(2) वेदकाल—इस कालखण्ड में मनुष्यों में अपने विचार अक्षरसम्बद्ध करने की बुद्धि और शक्ति आ गई जिससे अन्य विचारों और आचारों के साथ-साथ प्रसंगानुरूप वैद्यकीय विचार भी अक्षरसम्बद्ध हो गये। सम्पूर्ण वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों का वैद्यकीय दृष्ट्या आलोड़न करने पर उनमें आयुर्वेद सम्बन्धी असंख्य उल्लेख दिखाई देते हैं। ये उल्लेख अन्य वेदों की अपेक्षा अथर्ववेद में अधिक पाये जाते हैं। इसलिए आयुर्वेद संहिताकारों ने अथर्ववेद को अपना गुरु

---

1. आत्मनः आकाशः संभूतः आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधिभ्योऽन्नम्। अन्नात् पुरुषः। अन्नात् प्रजाः प्रजायन्ते। (तैत्तिरीयोपनिषत्)
2. अनेन निदर्शनेन नानौषधिभूतं जगति किंचिद्द्रव्यमस्ति (सुश्रुत)
3. शारीराणां विकाराणामेषवर्गश्चतुर्विधः।
   प्रकोपे प्रशमेचैव हेतुरुक्तश्चिकित्सकैः।
   बीजं चिकित्सितस्यैतत्समासेन प्रकीर्तितम्।
   सविंशमध्यायशतमस्य व्याख्या भविष्यति (सुश्रुत)

मान लिया है और आयुर्वेद का मूल अथर्ववेद में ही[1] बताया है। यदि वेदों में मिलने वाले सब वैद्यकीय उल्लेख शरीर, निघंटु, कायचिकित्सा, शल्य चिकित्सा, विष चिकित्सा, जल चिकित्सा, सूर्य चिकित्सा, प्रसूति और कौमार इत्यादि आयुर्वेद के विविध अंगों के अनुसार संग्रहीत किये जाएं तो एक सुन्दर 'वेदांग आयुर्वेद' का ग्रन्थ बन सकता है। इन उल्लेखों में जराजीर्ण च्यवन को नवयौवन प्राप्ति[2], युद्ध में पैर कट जाने पर लोहे के पैर का उपयोग करना[3], छिन्न-भिन्न शरीर को इकट्ठा करके उसमें प्राणप्रतिष्ठापना करना[4], कटे हुए सिर को जोड़ना[5] अन्धे को नेत्रदान[6] इत्यादि अनेक चमत्कृतिपूर्ण और कुतूहलजनक कर्मों का भी उल्लेख मिलता है, परन्तु इन साधारण तथा विशेष कर्मों को करने की पद्धति, उनकी प्रक्रिया या उपपत्ति का विवरण कहीं भी नहीं दिखाई देता, सम्पूर्ण वेदांग आयुर्वेद बिखरा हुआ, असंगतिक और मंत्रतंत्र-घटित (Mystical) स्वरूप में[7] मिलता है। इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि वेदकाल में वैद्यक ज्ञान

---

1. तत्रभिषजा चतुर्णामृक्सामयजुर्वेदायुर्वेदानामात्मनोऽथर्ववेदे भक्तिरादेश्या। (चरक)

   आयुर्वेदः कथंचोत्पन्न इति। आह, अथर्ववेदोपनिषत्सु प्रागुत्पन्नः। (काश्यपसंहिता)
2. युवंच्यवानमश्विना जरन्तं पुनर्युवानं चक्रतुः शचीभिः। (ऋग्वेद)
3. सद्योजङ्घामायसीं विश्पलायै धनेहिते सर्तवे प्रायधत्तम् (ऋग्वेद)
4. हिरण्यहस्तमश्विना रराणा पुत्रं नरावध्रिमत्या अदत्तं। त्रिधाहश्यावमश्विना विकस्तमुज्जीवस ऐरयतं सुदानू (ऋग्वेद)
5. आथर्वणायाश्विना दधीचेऽश्वं शिरः प्रत्यैरयतं (ऋग्वेद)
6. आक्षी ऋजाश्वे अश्विनावधत्तं ज्योतिरंधाय चक्रधुर्विचक्षे।
   शतं मेषान्वृक्ये चक्षुदानमृजाश्वं ते पिताधं चकार।
   तस्मादक्षिनासत्या विचक्ष आदत्तं दस्राभिषजावनर्वन् ॥ ऋग्वेद ॥
7. वेदो ह्यथर्वणो दानस्वस्त्ययन बलिमंगल होमनियम प्रायश्चित्योपवास मन्त्रादि परिग्रहाच्चिकित्सां प्राह (चरक)
   तत्र (अथर्ववेद) हि रक्षावलि होम शान्ति···प्रतिकर्म विधानमुद्दिष्टं विशेषण ॥ (काश्यपसंहिता)
   आयुर्वेद ने मंत्रतंत्रादि का पूर्णतया त्याग नहीं किया, कहीं-कहीं उसका प्रयोग किया है। परन्तु चिकित्सा की दृष्टि से इसका स्थान अत्यन्त गौण है। आयुर्वेद ने चिकित्सा का मुख्य आधार आहार विहारादि पथ्य और उसके पश्चात् औषध को माना है। सदा पथ्यं प्रयोक्तव्यं नापथ्येन स सिद्धति। औषधेन विना पथ्यैः सिद्धयते भिषगुत्तमैः। विना पथ्यं न साध्यं स्यादौषधानं शतैरपि (हारीतसंहिता)

बहुत कुछ बढ़ गया था, फिर भी एक स्वतंत्र शास्त्र बनने के लिए जिस प्रकार की सुसंगतिक और सोपपत्तिक उन्नति किसी शास्त्र की होनी चाहिए, उतनी उसकी उन्नति उस समय में नहीं हुई थी। इसको आयुर्वेद की विवर्धमानावस्था कह सकते हैं।

(3) विक्रम काल—इस कालखण्ड में भारतवर्ष में आयुर्वेद के एक से एक बढ़कर धुरंधर विद्वान् उत्पन्न हुए, जिन्होंने अविश्रान्त परिश्रम और तत्त्वान्वेषण से वेदांग आयुर्वेद में उसे स्वतंत्रशास्त्र बनाने के लिए अत्यन्त आवश्यक और महत्त्व के अनेक परिवर्तन किए। इनके कुछ उदाहरण दिग्दर्शन के लिए यहां पर दिए जाते हैं।

वेदों में शरीर का कुछ ज्ञान मिल जाता है, परन्तु वह अत्यन्त अपूर्ण और पशुओं के शरीर का है। आयुर्वेद मनुष्यों का वैद्यक[1] होने के कारण मनुष्य शरीर का ज्ञान वैद्यों के लिए आवश्यक होता है। महर्षियों ने इसलिए मृत मनुष्य-शरीर का परीक्षण करने का[2] उपक्रम किया तथा शरीर के विविध अंगों पर चोट लगने के परिणामों को देखकर उन अंगों के कार्यों को[3] मालूम करने का प्रयत्न किया। वेदों में सहस्रावधि वनस्पतियों के उल्लेख[4] मिलते हैं, परन्तु स्वरूप, गुण, धर्म इत्यादि का विवरण नहीं मिलता। इन्होंने उनकी पहचान वनचारियों से[5] प्राप्त की, गुण धर्मों के अनुसार उनके गुण बताये[6]; और गुण धर्मों की उपपत्ति रस वीर्य विपाक के अनुसार निश्चित की। वेदों में अनेक शस्त्रकर्म मिलते हैं, परन्तु उनकी पद्धति का वर्णन नहीं दिखाई देता। इन्होंने सादे से सादे शस्त्रकर्म से लेकर नासासंधान (Rhinoplasty) जैसे अनोखे शस्त्रकर्म तक[7]

---

1. तस्यायुषः पुण्यतमो वेदो वेद विदां मतः।
   वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितः॥ (चरक)
2. तस्मान्निःसंशयं ज्ञानं हर्त्राशल्यस्य वांछता।
   शोधयित्वा मृतं सम्यग्द्रष्टव्योऽङ्गं विनिश्चयः॥ (सुश्रुत)
3. क्लैब्यं। वदन्ति शौफसश्छेदाद् वृषणोत्पाटनेनच (चरक)
4. शतं ते राजन् भिषजः सहस्रमुर्वीगभीरा सुमतिष्टे अस्तु (ऋग्वेद)
5. गोपालास्तापसा व्याधा ये चान्ये वनचारिणः।
   मूलाहाराश्च ये तेभ्यो भेषजव्यक्तिरिष्यते॥ (सुश्रुत)
6. चरक, सूत्र स्थान; अध्याय 4 और सुश्रुत, सूत्र स्थान, अध्याय 38 और 40।
7. They have already borrowed from them (Hindus) the operation of Rhino plasty—Weber's History of Medicine—इस पद्धति को आज भी पाश्चात्य शस्त्र विज्ञान में भारतीय पद्धति कहते हैं।

सब शस्त्रकर्मों की पद्धति वर्णन की, शस्त्र कर्मों के लिए आवश्यक अनेक उपयोगी यंत्रशस्त्र निर्माण किए; शस्त्र कर्म के सभय संज्ञाहरण के लिए क्लोरोफार्म के समान मद्य का उपयोग[1] शुरू किया शस्त्र कर्म के पश्चात् उत्पन्न होने वाले दोष (Sepsis) का निराकरण करने के लिए व्रणबन्धन की वस्तुओं को सूर्य की किरणों से, निंब वचादि जीवाणुनाशक वनस्पतियों के धूपन से, अग्नि से या उबलते पानी से विशोधित करके[2] काम में लाने की प्रथा शुरू की, जिसे आधुनिक जीवाणुनाशक व्रण-चिकित्सा-पद्धति की जननी समझ सकते हैं। वेदों में त्रिदोषों का केवल उल्लेख[3] मिलता है, परन्तु उनके स्वरूपादि का विवरण नहीं दिखाई देता। इन्होंने उनके ऊपर गम्भीर विचार करके उनके प्राकृत तथा विकृत कार्य निश्चित किए, उनके आधार पर सम्पूर्ण औषधि द्रव्यों के गुण धर्म निश्चित किये, विविध रोगों की सम्प्राप्ति ठीक की, उनका वर्गीकरण किया और उनके लिए बहुत सुन्दर और सरल चिकित्सा प्रणाली स्थापित की। वेदों में ज्वर, यक्ष्मा, कुष्ठ इत्यादि संक्रामक रोगों के उल्लेख बहुत मिलते हैं। इन्होंने इन रोगों के प्रसार के साधन मालूम करके[4] स्थान परित्याग, सम्बन्धविच्छेद, रसायन प्रयोग इत्यादि मार्गों द्वारा इनकी रोक-थाम करने में काफी सफलता प्राप्त की। वेदों में प्रसवकाल की अवधि दस महीने की[5] बताई गई है। इस

---

1. मद्यपं पाययेन्मद्यं तीक्ष्णं यो वेदनासहः ॥ (सुश्रुत)
2. न केवलं व्रणं धूपयेत्, शयनाद्यपिव्रणदौर्गन्ध्यापगमार्थं नीलमक्षिकादि परिहारार्थंच ॥ (डल्हण) ॥
   धूमो ग्रहशयनासनवस्त्रादिषुशस्यते विषनुत् ॥ (चरक)
   उदरान्मेदस्ते वर्तिर्निगता यस्य देहिणः।
   अग्नितप्तेन शस्त्रेण छिन्द्यात् ॥ (सुश्रुत)
   अन्यथा अतप्तशस्त्रच्छेदेन पाकभयंस्यात् ॥ (डल्हण)
3. त्रिर्नो अश्विना दिव्यानि भेपजा त्रिः पार्थिवानि त्रिरुदत्त मद्भ्यः। ओमानं शं यो ममकायसूनवे त्रिधातु शर्म वहतं शुभस्पति। (ऋग्वेद)
   त्रिधातु वातपित्त श्लेष्म धातु त्रय शमनं विषयं सुखं वहतम् ॥(सायनभाष्यम्)
4. प्रसंगाद्गात्रसंस्पर्शान्निश्वासात्। सहभोजनात् महशय्यासना चापिवस्त्र माल्यानुलेपनात्। कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एवच। औपसर्गिक रोगांश्च संक्रामन्ति नरान्नरम् ॥ (सुश्रुत)
5. धाता श्रेष्ठेन रूपेणास्यानार्या गविन्योः पुमांसं पुत्रमाधे हि दशममासि सूतवे। यथावातो यथा मनो यथा पतन्ति पक्षिणः। एवा त्वं दशमास्यसाकं जरायुणापतावं जरायु पद्यताम् ॥ (अथर्ववेद)

अवधि में कई बार फर्क दिखाई देता है। उन्होंने इस विषय की जांच करके इस अवधि की अवैकारिक अधिक से अधिक और कम से कम मर्यादा[1] बताई जो आधुनिक जांच के साथ ठीक-ठीक मिलती है। इनके अतिरिक्त और भी अनेक पहलुओं से वेदांग वैद्यक में इस काल में परिवर्तन और सुधार होने के कारण आयुर्वेद एक सुसंगठित, सर्वांगसुन्दर और स्वतंत्र शास्त्र बन गया तथा उसकी योग्यता वेदों के बराबर और उपयोगिता[2] वेदों से भी अधिक हो गई।

इस काल में आयुर्वेद इतना बढ़ गया था कि एक व्यक्ति के लिए सम्पूर्ण आयुर्वेद का आकलन करके उसके सब अंगों का व्यवसाय करना असम्भव-सा हो गया था। इसलिए आयुर्वेद शल्यशालाक्यादि आठ अंगों में विभक्त किया गया था, इन अंगों के ग्रन्थ भी स्वतंत्र बनाए गए थे और आधुनिक काल के समान उन अंगों के विशेषज्ञ (Specialists) अपना-अपना व्यवसाय[3] राज दरबार तथा अन्य स्थानों में कार्यक्षमता के साथ तथा लोगों के विश्वास के साथ किया करते थे। इस काल में आयुर्वेद की कीर्ति इतनी बढ़ गई थी कि भारत के बाहरी देशों में भी वह पहुंच गई थी, जिसके परिणामस्वरूप बाहर के लोग वैद्यकीय ज्ञान प्राप्त करने के लिए भारतवर्ष में आया करते थे और यहां से वापिस जाने पर

---

1. नवमदशमैकादशद्वादशानामन्यतमस्मिन् जायते। अतोऽन्यथाविकारी भवति। (सुश्रुत)
2. आयुर्वेदमेवाश्रयन्ते वेदाः। एवमेवायमृग्वेद यजुर्वेद सामवेदाथर्ववेदेभ्यः पंचमो भवत्यायुर्वेदः।. काश्यपसंहिता। (टिप्पणी नं० 14 भी देखियेगा)
3. कुमारभृत्याकुशलैरनुष्ठिते भिषग्भिराप्तैरथ गर्भमर्मणि ॥ (रघुवंश)

    उपातिष्ठन्नथो वैद्याः शल्योद्धरणकोविदाः।
    सर्वोपकरणैर्युक्ता कुशलैः साधुशिक्षिताः।
    कोगं यन्त्रायुधंचैव येच वैद्याश्चिकित्सकाः।
    तत्संगृह्ययर्यौराज्ञां ये चापि परिचारकाः।
    शिबिराणिमहार्हाणि राज्ञां तत्र पृथक् पृथक्।
    तत्रासन् शिल्पिनः प्राज्ञाः शतशो दत्तवेतनाः।
    सर्वोपस्करणैर्युक्ता वैद्याः शास्त्रविशारदाः ॥ (महाभारत)
    चिकित्सकाः शस्त्रयन्त्रागदस्नेहवस्त्र हस्ताः स्त्रियश्चान्नपारक्षिण्यः उद्धर्पणीयाः पृष्ठतोऽनुगच्छेयुः।
    आपन्न सत्वायां कौमारभृत्यो गर्भमर्मणि प्रजनेन च वियतेत।
    तस्मादस्यो जांगलीविद (विषवैद्य) भिषजश्चासन्नाः स्युः ॥ (कौटिलीय अर्थशास्त्र)

भारतीय ज्ञान का उपयोग अपने शास्त्र को समृद्ध करने में किया करते थे। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि आज भी कई भारतीय प्राचीन वैद्यकीय शब्द विलायती वैद्यक में[1] दिखाई देते हैं। सिकन्दर जब भारत में आया तब वह अपने सैनिकों के साथ वैद्यों को भी ले आया था, परन्तु भारत के सर्पदंश की चिकित्सा में उनको सफलता न मिल सकी। इसलिए उसने यहां के कुछ विषवैद्य अपनी छावनी में रखे और वापिस जाते समय वह कुछ वैद्यों को साथ लेकर चला गया।

यह काल आयुर्वेद की दृष्टि से उज्ज्वल, दिग्विजयी और शाश्वत कीर्ति देने वाला रहा। इस काल की प्राचीन मर्यादा ठीक-ठीक बताना बहुत कठिन है। परन्तु यह निश्चय से कहा जा सकता है कि संवत्कार विक्रमादित्य के पहले कुछ शताब्दियों से उसके पश्चात् कुछ शताब्दियों तक आयुर्वेद की यह उज्ज्वल दशा रही। चूंकि यह काल विक्रमादित्य के काल के समान आयुर्वेद के लिए उज्ज्वल, दिग्विजयी और शाश्वत कीर्ति प्रदान करने वाला रहा तथा चूंकि इसका मध्य बिन्दु स्वयं विक्रम रहा इसलिए मैंने आयुर्वेद के इस काल को विक्रम का नाम दिया है। इस काल को आयुर्वेद की यौवनावस्था कह सकते हैं।

(4) **वाग्भट काल**—भारतवर्ष अत्यन्त प्राचीन काल से सुवर्णभूमि के रूप में संसार में प्रसिद्ध रहा। इसलिए उसको लूटने की इच्छा भी अत्यन्त प्राचीन काल से भारतेतर देशों के लोगों में रही। इसका परिणाम यह होता रहा कि भारत पर प्राचीन काल से विदेशियों के आक्रमण होते रहे। जब तक भारतीयों में क्षात्रतेज चमकता रहा तथा भारत में विक्रमादित्य के समान पराक्रमी और विद्वानों का आदर करने वाले शासक रहे तब तक इन आक्रमणकारियों की एक भी न चली। परन्तु इनका अभाव होने पर इन्होंने भारत में उत्पात मचाया। इसका परिणाम यह होने लगा कि देश में अशान्ति फैलने लगी, दारिद्र्य बढ़ने लगा और विद्या-कला का लोप होने लगा। अर्थात् इस काल में आयुर्वेद की भी बहुत हानि हुई। इससे बचने के लिए वाग्भट ने अपने समय में जो आयुर्वेद का अंश बचा हुआ था, उसका संग्रह उसके विविध अंगों के अनुसार जरा विस्तार से अष्टांग संग्रह में और संक्षेप से अष्टांग हृदय में किया। इस कालखंड में माधव निदान, सिद्धयोग तथा अन्य ग्रन्थों का जो निर्माण हुआ वह सब संग्रहस्वरूप का था। इसलिए इस काल को संग्रह काल भी कह सकते हैं। इस काल में आयुर्वेद

---

1. शृंगवेर—Zingiber, कोष्ठ—Costus, पिप्पली—Piper, शर्करा—Sakkaron, हृद—Heart, विष—Virus, अस्थि—os osteoro; पित्त—Pituata, शिरोब्रह्म—Cerebrum

की उन्नति नहीं हुई, अवनति ही होती रही। इसको आयुर्वेद की वृद्धावस्था कह सकते हैं।

(5) भविष्यकाल—वृद्धावस्था के पश्चात् सृष्टि नियम के अनुसार मृत्यु की एकमात्र घटना बाकी रहती है। यह नियम सृष्ट पदार्थों के लिए भले ही लागू हो, वेदों और शास्त्रों के लिए नहीं लागू होता। आयुर्वेद वेद भी है और शास्त्र भी।[1] इसलिए उसके लिए यह नियम कदापि भी लागू नहीं हो सकता। अब सवाल यह उठता है कि 'क्या आयुर्वेद इस जराजीर्ण दशा में भविष्य में रहेगा?' इसका उत्तर है 'कदापि नहीं, इसका कारण यह है कि आयुर्वेद के पास जराजीर्ण शरीर को नवयौवन[2] प्रदान करने की शक्ति है। अतः मुझे विश्वास है कि भविष्य में आयुर्वेद फिर से नवयौवन प्राप्त करके चिकित्सा जगत् में सम्मान का स्थान प्राप्त करेगा।

---

1. अस्मिन्शास्त्रे पंचमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इत्युच्यते ॥ (सुश्रुत) रोगान् शास्ति इति शास्त्रम्। आयुरारोग्य दानेन धर्मार्थ कामादीनां शासनाद्वा शास्त्रम्। मरणात् त्रायते इति वा शास्त्रम्।
2. रसायनस्यास्य नरः प्रयोगाल्लभते जीर्णोऽपि कुटिप्रवेशात्। जराकृतं रूपमपास्य सर्वं बिभर्ति रूपं नवयौवनस्य ॥ चरक)

विक्रमकाल में उन्नति

□ डॉ० रामनिवास शर्मा

भारतवर्ष में एक समय था जब उज्जयिनी में आज से दो सहस्र वर्ष पहले परमभट्टारक महाराज विक्रमादित्य शासन कर रहे थे। भारतवर्ष के सांस्कृतिक विकास, शौर्य और वैभव के वे प्रतीक थे। वे अपने औदार्य, विद्वत्ता, साहित्य-सेवा, अलौकिक प्रतिभा एवं दिग्विजय के कारण सर्वश्रुत थे। वे प्रत्येक बात में इतने अद्वितीय थे कि उनकी उपमा संभवतः किसी से भी नहीं दी जा सकती। उनकी शालीनता, मनुष्यता, वाग्मिता, बुद्धिमत्ता विविध और विभिन्न अनन्त विचित्रताओं के गीत आज भी घर-घर सुनने को मिलते हैं। साराश यह है कि वे माधुर्य और ऐश्वर्य दोनों ही प्रकार की गुण-राशि के अप्रतिम उदाहरण थे।

उनके यहां लोक-विश्रुत बृहस्पति के समान सहस्रों विद्वान् थे। पचासों एकाधिक विषयों के आचार्य थे। अनेक आचार्य-प्रवर थे। ऐसे भी महामहिम उद्भट विद्वान् थे जो कि सरस्वती के वरदपुत्र और कण्ठाभरण कहे जाते थे। इनमें भी उनके अन्यतम विशेषज्ञ पण्डित, कलाकार और राज्य-व्यवस्थापक तो उस समय के सूर्य-चन्द्र ही थे। साथ ही व्यष्टि और समष्टिवादी शास्त्रियों की संख्या भी कम नहीं थी। किन्तु इन सबमें उनके नवरत्न तो भूतल के अजर-अमर रत्न थे। उनमें भी महाकवि कालिदास तो सर्वोत्कृष्ट महापुरुष थे। संसार के विद्वानों का कथन है कि कालिदास सरस्वती के हृदय की वस्तु थे, साहित्यश्री के श्रृंगार थे, कला-नैपुण्य के आचार्य थे, मानवीयता के प्राण थे, सार्वजनीन और सार्वभौम आदर्श तत्त्वों के पुजारी और चित्रकार थे। सर्वाधिक वे सौन्दर्य के कवि थे। उनका व्यक्तित्व भौतिक, दैविक और आत्मिक विकासोन्मुख तत्त्व-वस्तु का समन्वय-सामंजस्यपूर्ण विकास था। ऐसी दशा में वे एक आदर्श थे। प्रत्येक देश और मानव-समाज की वस्तु थे।

उनका अभिज्ञान शाकुन्तल संसार की सर्वोत्तम पुस्तक है। उनमें विश्व-प्रकृति, मानव-प्रकृति और भारत की आत्मा पूर्णतः व्यक्त हुई है। उसकी प्रशंसा करना वस्तुतः भगवती वीणा-पाणि का ही कार्य है।

उस समय की सम्पूर्ण आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक समृद्धि उन्हीं के चरणों के प्रश्रय से अनुप्राणित और समुन्नत थी। रमा, उमा और गिरा उनकी वशवर्तिनी-सी बनी हुई थीं। इन्हीं विक्रमादित्य के विषय में एक इतिहासकार इस प्रकार लिखते हैं कि उज्जयिनी-पति विक्रमादित्य गन्धर्वसेन के पुत्र थे। इनका पहला नाम विक्रमसेन था। इन्हीं के समय में अवन्तिका को उज्जयिनी नाम मिला। ये चालीस वर्ष की अवस्था में सिंहासन पर बैठे थे। ये बड़े गुणी, न्यायी और वीर थे। इनकी न्यायप्रियता तथा दानशीलता की आज तक ऐसी प्रशंसा है कि इनकी गणना बलि और हरिश्चन्द्र जैसे दानियों के साथ की जाती है। अन्य राजाओं की प्रशंसा करने में भी लोग बलि, विक्रम, राम, युधिष्ठिर आदि से वर्ण्य नरेश की उपमा देते हैं। भारतीय विचारानुसार इनमें राजोचित सभी गुणों का संग्रह था।

इन्हीं के लोकोत्तर व्यक्तित्व के विषय में कालिदास अपने ज्योतिर्विदाभरण में लिखते हैं कि वे इन्द्र तुल्य अखण्ड प्रतापी थे, समुद्र की तरह गम्भीर थे, कल्प-तरु के समान दाता थे, रूप में कामदेव-से थे, शिष्ट और शान्त थे, दुष्ट-दमन में अद्भुत थे, शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने में अद्वितीय थे।

कविकुल-चूड़ामणि कालिदास के ग्रन्थों से यह भी व्यजित होता है कि उनके समय का समाज पूर्ण सम्पन्न था, गुरुकुल-प्रणाली का प्रचार था, ललित कलाओं का समधिक समादर था, शिक्षित स्त्री-पुरुष संस्कृत बोलते थे और शिष्टाचार का मूल्य था, देश धन-धान्य-सम्पन्न था, व्यापार उन्नति पर था, यन्त्र-विद्या की अच्छी दशा थी, खनिज पदार्थों की अभिवृद्धि का ख्याल था और गृहोपयोगी शिल्प का मान था, गण-तंत्रों का अस्तित्व था, साम्राज्य-भावना बलवती थी, शासन-सत्ता नियन्त्रित थी, राजा का योग्य होना अनिवार्य था और शासन में ब्राह्मणों का पर्याप्त हाथ था।

इतिहास-मर्मज्ञ स्वर्गीय श्री रमेशचन्द्रदत्त इन्हीं विक्रमादित्य के विषय में अपने 'सभ्यता का इतिहास' में इस तरह लिखते हैं कि वह अमर यशस्वी था, हिन्दू-हृदय और हिन्दू-धी-शक्ति का विकासक था और हिन्दुत्व और हिन्दू-धर्म को पुनरुज्जीवित करने वाला था, उसका व्यक्तित्व जाति का पथ-प्रदर्शक था, वह हिन्दू-हित और हिन्दू-साहित्य का उद्धारक था और भारतीय आवश्यकताओं का महान् पूरक था।

यह भी कहा जाता है कि उस समय का भारत प्रत्येक दृष्टि से समुन्नत था। देवता भी इसके गुण-गान करते थे। अन्यान्य देशों और द्वीप-द्वीपान्तरों में इसके नाम की धूम थी। संसार के लोग विक्रम के व्यक्तित्व, नवरत्न और भारतीय समुत्कर्ष के प्रभावों से प्रभावित प्रायः भारत-दर्शनार्थ आया करते थे। ऐतिह्य से तो यह भी प्रमाणित होता है कि ऐसे यात्रियों का तांता-सा बंधा

रहता था।

किन्तु कुछ विद्वानों की सम्मति में विक्रम-काल और विशेषतः विक्रमादित्य की एक सर्वोत्तम, सर्व-प्रमुख और अन्यतम विशेषता यह भी थी कि वह अपने उत्तरकाल, उत्तरकालीन व्यक्तियों और भारतीय समाज पर अपना प्रभाव पर्याप्त मात्रा में छोड़ गए।

किसी ने सत्य ही कहा है कि विभूतियां अपने जीवनकाल में जो कुछ मानव-समाज को देती हैं, उससे अधिक वे देश और काल को दे जाती हैं। उनकी यही देन समय पाकर पूर्णतः देश-काल की वस्तु बनकर अनन्त समय तक मानव-समाज को लाभ पहुंचाती रहती है। इसी दृष्टिकोण से विचार करने पर मालूम होता है कि विक्रम-काल और विक्रम-व्यक्तित्व की छाप आज भी भारतीय हृदयों पर स्पष्ट दिखाई देती है। आज भी उससे भारतीय हृदयों को प्रेरणा मिलती है, उत्साह मिलता है। साथ ही एक ऐसी परमोपयोगी और उत्पादक बात भी मिलती है जो इतनी मात्रा में किसी दूसरे व्यक्तित्व और काल से नहीं मिल रही है।

तत्कालीन भारतीय राज-समाज विक्रम-प्रभाव से प्रभावित था। वह प्रभाव इतना हुआ कि अनेक नृपति-पुंगवों ने विक्रम के अनुकरणीय गुण, कर्म, स्वभाव और क्रियाकलापों को शोभा, आवश्यकता, अनुकरण प्रियता अथवा महत्त्वाकांक्षा-वश अपनाना शुरू किया। यही नहीं, अपितु अनेकों ने अपने नाम के साथ पदवी की भांति विक्रम शब्द को भी लगाना प्रारम्भ किया। इसी का यह सुफल या कुफल है कि आज भारतीय इतिहास और जनश्रुतियों में हमें विक्रम-पदवीधारी राजा और सम्राट् पर्याप्त संख्या में मिलते हैं। परन्तु उनमें मुख्य श्रावस्ती का विक्रमादित्य, काश्मीर का विक्रमादित्य मेवाड़ का विक्रमादित्य और बंगाल का विक्रमादित्य हैं।

इनके सिवा प्रतीच्य और प्राच्य चालुक्य-वंशों में भी पांच विक्रम उपाधि-धारी राजा हुए हैं। साथ ही दक्षिणापथ के गुत्तल-नामी सामन्त-राज्य में भी विक्रम पदवीधारी तीन राजा हुए हैं। दाक्षिणात्य वाण-राजवंश में भी प्रभुमेरुदेव-पुत्र विजयबाहु एक विक्रम पदवीधारी राजा हुआ है। इसी तरह कहा जाता है उज्जयिनी के भी असली विक्रमादित्य के सिवा; विक्रम पदवीधारी दो-एक राजा हुए हैं। इनमें एक हर्ष विक्रमादित्य नामक राजा भी है।

किन्तु विक्रमादित्य-पदवी धारण करने वाले और तदनुकूल थोड़ा-बहुत आचरण करने वालों में श्रेष्ठतत वास्तविक नराधिप तो प्रथम चन्द्रगुप्त विक्रमा-दित्य, समुद्रगुप्त-विक्रमादित्य और द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ही हैं।

यदि हमारी शास्त्रीय जनश्रुतियां सत्य हैं तो अनेक विद्वानों के शब्दों में यह मानना पड़ेगा कि उक्त तीनों सम्राटों के समय उज्जयिनी सम्राट परम भट्टारक

महाराज के विक्रम-काल का भव्य प्रभाव गुप्तकाल में भी नामशेष नहीं हुआ था, अपितु दिनानुदिन बढ़ ही रहा था। विशेषतः द्वितीय चन्द्रगुप्त के समय तो इतना बढ़ा कि ज्ञात इतिहास में भारत पहली बार पूर्णोन्नत कहलाने योग्य समझा जाने लगा। तिथि-क्रम की दृष्टि से चीनी, ईरानी और रोमन साम्राज्यों में भारत ही अपेक्षाकृत विस्तृत और उन्नत माना जाने लगा। और शासन-सौन्दर्य, ज्ञान-विज्ञान, सुखशान्ति और ऋद्धि-सिद्धि आदि सभी बातों में अद्वितीय भी प्रमाणित हुआ। ऐतिहासिक लोगों की दृष्टि में यह वह कमय था जब संसार का दिग्दिगन्त इसी के ज्ञानालोक से आलोकित था। इसी से चीन, जापान और योरुप ने भी प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में जागृति और सभ्यता का पाठ पढ़ा था।

हमारा विक्रमादित्य

□ श्री गोपालकृष्ण विजयवर्गीय

विक्रमादित्य इतना महान् था कि उसका यह नाम बाद के राजाओं और सम्राटों के लिए एक पदवी ही बन गया। बहुत से लेखक विक्रमादित्य के नाम के पहले सम्राट् शब्द लगाकर उसके समय की राज्य-व्यवस्था का अपमान करते हैं। मुझे तो सम्राट् की अपेक्षा गणाध्यक्ष विक्रमादित्य अधिक प्रिय लगता है; क्योंकि वह व्यवस्था हमारी आकांक्षित लोकतंत्री व्यवस्था के निकट जंचती है। इतने प्रसिद्ध गणाध्यक्ष की ऐतिहासिकता के विषय में ही अभी वादविवाद चल रहा है, यह हम भारतीयों के लिए बड़े खेद की बात है। किन्तु अब तो प्रायः अधिकांश विद्वानों ने विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता को स्वीकार कर लिया है। सन् 58-57 ईसवी पूर्व में विक्रमादित्य ने विदेशी शकों को हराकर स्वतंत्रता का झंडा ऊंचा किया था, तथा अपना संवत् प्रारम्भ किया था। भारतवर्ष के लिए यह अत्यन्त गौरव की बात है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्राचीनता, उच्च संस्कृति और महान् कार्यों का अभिमान होना चाहिए और इस दृष्टि से विक्रमादित्य हमारे लिए अत्यन्त गौरव और अभिमान की विभूति है।

गणाध्यक्ष विक्रमादित्य सम्बन्धी ऐतिहासिक खोजों के निरूपण में मैं पड़ना नहीं चाहता, मैं तो केवल यह बताना चाहता हूं कि विक्रमादित्य के प्रति हमारा दृष्टिकोण क्या होना चाहिए।

हमें विक्रमादित्य के महत्त्व को संकुचित नहीं बना डालना चाहिए। विक्रमादित्य किसी सम्प्रदाय का विरोधी नहीं था। राष्ट्रीय एकता का प्रतीक विक्रमादित्य मालवगण का महान् योद्धा नायक था। उसी रूप में हमें उसका आदर करना चाहिए। आज के संकुचित साम्प्रदायिक विद्वेष के लिए हमें विक्रमादित्य का उपयोग नहीं करना चाहिए, किन्तु गणतंत्रवादी और जनतंत्रवादी योद्धा नेता के रूप में हमें उसका स्मरण करना चाहिए। वह साम्राज्यवादी सम्राट् भी नहीं था। वह तो गणतंत्रवादी समाज का अगुआ था। अब तो जमाना बहुत बदल गया है। आज तो हमें हिन्दू-समाज की जाति-प्रथा तथा छूतछात आदि

कुरीतियों से घोर संघर्ष करना है। आज हम उस पुरानी हिन्दू-समाज-व्यवस्था को पुनः स्थापित नहीं कर सकते जो दो हजार वर्ष पूर्व प्रचलित थी। हर समाज और देश विकासोन्मुख है। हमें पुराने इतिहास और पुरानी संस्कृति का आदर करना चाहिए, तत्कालीन परिस्थिति में सब से आगे बढ़े हुए होने का अभिमान करना चाहिए, किन्तु अब हिन्दू-संगठन के बजाय सच्चे हिन्दुस्तानी-संगठन का आदर्श रखना चाहिए। विक्रमादित्य का सम्मान हमें प्रत्येक हिन्दू के हृदय में ही नहीं, प्रत्येक मुसलमान, ईसाई आदि के हृदय में भी, उत्पन्न करना चाहिए। इतनी शताब्दियों तक भारत में रह लेने के बाद हम एक-दूसरे को अपरिचित या विदेशी नहीं कह सकते। एक ही आर्य खून के हिन्दू और मुसलमान केवल धर्मभेद के कारण भिन्न-भिन्न या परदेशी नहीं माने जा सकते। जातीय श्रेष्ठता के सिद्धान्त ने संसार में कितनी खूनखराबी मचायी है, यह हम आज प्रत्यक्ष देख सकते हैं। गणाध्यक्ष विक्रमादित्य का सम्मान और गौरव हमें आधुनिक युग के आदर्शों से मेल खाने वाले रूप में मनाना चाहिए।

विक्रमादित्य न केवल योद्धा था, प्रत्युत अच्छा और न्यायपूर्ण शासन-व्यवस्थापक भी था। आज हमें जन-दुःख-भंजक, लोकहितैषी, न्याय-प्रेमी विक्रमादित्य से बहुत कुछ सीखना होगा। जनता की कष्ट-कथाओं की जांच करने के लिए वह छद्मवेश में जनता में फिरता था, यह भी एक जनश्रुति है। विक्रमादित्य विद्या और संस्कृति का उन्नायक भी था। विक्रमादित्य के नवरत्नों की कथा प्रसिद्ध ही है। नवरत्न उसके साथ थे या नहीं, इसमें ऐतिहासिक दृष्टि से भले ही सन्देह हो, परन्तु इसमें सन्देह नहीं रहा है कि उसने विद्या और संस्कृति को अवश्य प्रोत्साहन दिया था। अनेक विद्वान् उसके काल में थे और नाटककार कालिदास भी उसी समय में विद्यमान था।

भारतवर्ष का अतीत काल जैसा महान् और उज्ज्वल था, वैसा ही भविष्य भी महान् और उज्ज्वल होने वाला है। भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक प्रदेशों के अखिल भारतीय संघ के रूप में, भिन्न-भिन्न सुन्दर क्यारियों के उद्यान की भांति हमारा यह देश—यही विक्रमादित्य और विक्रमादित्यों का देश—फिर उच्च और गौरवशाली होने वाला है। हमारे पूर्वजों की कीर्ति जो आज हमारे अज्ञान के कूड़े-करकट में दबी पड़ी है, सच्चे तेज और चमक के साथ चमकेगी, और भारतीय सभ्यता का सच्चा उत्थान होगा।

जनता का विक्रम

□ श्री सम्पूर्णानन्द

विक्रमादित्य कौन थे, उनके राज्य का विस्तार कितना था, उनके जीवन में कौन-सी मुख्य-मुख्य घटनाएं हुईं, उन्होंने कभी अश्वमेध किया या नहीं, उनका शासनकाल किस वर्ष से किस वर्ष तक था, उनकी परिषद् कौन-कौन से विद्वान् सुशोभित करते थे—ये सब प्रश्न महत्त्वपूर्ण हैं; परन्तु इनका महत्त्व विद्वानों के लिए है। साधारण भारतीय, वह भारतीय, जिसका सामूहिक नाम 'जनता' है, इन बातों को नहीं जानता। उसने इन प्रश्नों को अब तक नहीं सुना है, सुनकर उसे इनमें कुछ विशेष रस भी नहीं आ सकता। वह जिस विक्रमादित्य, जिस राजा 'बिकरमाजीत' से परिचित है, उनका व्यक्तित्व ऐतिहासिक विक्रमादित्य से बहुत बड़ा है। जनश्रुति और सिंहासन-बत्तीसी के विक्रमादित्य ऐतिहासिक खोज की अपेक्षा नहीं करते। यदि देश-विदेश के विद्वान् मिलकर यह व्यवस्था दे दें कि इस नाम या उपाधि का कोई भी नरेश नहीं हुआ तब भी लोकसूत्रात्मा जिस विक्रमादित्य को जानती-मानती है, उनकी स्मृति सुरक्षित रहेगी। इसका कारण स्पष्ट है। जनता के विक्रमादित्य व्यक्ति नहीं हैं, वे कई विचारों, कई आदर्शों के प्रतीक हैं।

जनता के विक्रमादित्य आदर्श भारतीय नरेश थे। आदर्श नरेश में प्रायः वे सब गुण होते हैं, जो हीगेल के मत के अनुसार राजसता में पाये जाते हैं या यों कहिए कि आदर्श राजसत्ता में पाये जाने चाहिए। वह जनता के उत्तम 'स्व' का प्रतीक होता है। मनुष्य से भूल होती ही है, उसका राग-द्वेष, उसका अधम 'स्व' उसको नीचे खींचता है, इसलिए उसे दण्डित होना पड़ता है, परन्तु यदि राज की ओर से समुचित, निष्पक्ष, व्यक्तिगत प्रतिहिंसा आदि भावों से अरंजित न्याय होता है तो अपराधी का उत्तम 'स्व' दण्ड की [illegible]यता को स्वीकार करता है। दण्ड पाना, कष्ट भोगना, किसी को अच्छा न[illegible] लगता, परन्तु वास्तविक [illegible] भावना रहती है कि यह

दण्ड भी मेरे भले के लिए दिया जा रहा है। न्यायमूर्ति राजा भी मां-बाप की भाँति गुरुजनों में गिना जाता है। हीगेल के सिद्धान्त के अनुसार राज-सत्ता के साथ तादात्म्य स्थापित होने से व्यक्ति के 'स्व' की पूर्णता और पूर्णाभिव्यक्ति होती है। मैं इस राज का अवयव हूं, मैं इसका हूं, यह मेरा है, ऐसी अनुभूति से अपने में एक विशेष प्रकार की वृद्धि-सी प्रतीत होती है। राज के सुख-दुःख, वैभव में अपना सब कुछ खोकर मानव परिवर्द्धित हो जाता है, राज की महत्ता अपने में आरोपित हो जाती है। राज की आज्ञा भार की जगह कर्त्तव्य हो जाती है और उसके लिए जो कुछ त्याग करना पड़ता है वह सुखद बन जाता है। भारतीय जनता राम, कृष्ण, अर्जुन, युधिष्ठिर, भोज और विक्रम के प्रति ऐसा ही भाव आज भी रखती है। उसके लिए विक्रमादित्य एक राजा मात्र न थे। वे उसके अपने राजा थे; वह आज भी उनके सुख की कथा सुनकर सुखी, उनके दुःख से दुःखी होती है; उनके बल, विक्रम, वैभव, बुद्धि पर गर्व करती है। तोप, वायुयान, टैंक और महापोत के स्वामी किसी सम्राट् या अधिनायक को उनके बराबर मानने को तैयार नहीं है। और लोग बलवान् होंगे, शासन करते होंगे, अपनी आज्ञाओं को मनवा लेने की सामर्थ्य रखते होंगे, परन्तु विक्रमादित्य में जो अपनापन जान पड़ता है वह अन्यत्र नहीं मिलता।

आदर्श भारतीय राजा आदर्श हीगेलीय राज से कुछ बातों में अधिक ऊंचे स्तर पर होता है। एक तो राजा चेतन होता है, राज जड़ होता है। जड़ सत्ता के प्रति वैसा आदर, वैसा स्नेह नहीं हो सकता जैसा व्यक्ति के प्रति होता है। व्यक्ति के साथ जैसा आदान-प्रदान, जैसा विचार-विनिमय हो सकता है वैसा जड़ संस्था के साथ नहीं हो सकता। लोकतंत्रात्मक शासन और समाचार पत्रों के अभाव में इस प्रकार के सम्बन्ध की आवश्यकता बहुत बढ़ जाती है। यदि प्रजा-जन की पहुंच राजा तक न हो, यदि वह उनसे खुलकर बात न कर सके, यदि वह स्वयं उनके सुख-दुःख की सक्रिय खोज न करता रहे और उनके विचारों को जानने के लिए समुचित प्रबन्ध न करता रहे तो शासन शिथिल पड़ जायगा। विक्रम उन नरेशों में थे जिनके शरीर में भारतीय जनता अपने इस आदर्श को मूर्त मानती है। ऐसा विश्वास है कि विक्रम और उनकी प्रजा में पूरा स्नेह था, प्रजा को उनसे अपने मन की बात कहने का पूरा अधिकार था, वे जन-मत जानने के लिए इच्छुक रहते थे और उसके अनुसार ही आचरण करते थे। भारतीय नरेश में दूसरी बात यह होती थी कि वह धर्म का रक्षक होता था। ऐसा माना जाता है कि आदर्श नरेशों के मस्तक पर देवगण का वरद हाथ रहता था और सिद्ध, योगी, विद्याधर, वेताल, भैरव तथा विनायक हर काम में उनकी सहायता किया करते थे। ऐसे नरेशों के साथ सहयोग करने से ऐहिक के साथ-साथ आत्मिक लाभ भी था। विक्रम सम्बन्धी कहानियों से इस विश्वास की पर्याप्त

पुष्टि होती है।

विक्रम की गाथा की रचना का श्रेय कवियों को कम, जनता को अधिक है। विक्रमादित्य उपाधिधारी कोई ऐतिहासिक राजा रहा होगा, परन्तु यदि कोई ऐसा व्यक्ति न होता तो जनता किसी कल्पित राजा की सृष्टि करके उसको अपने आदर और स्नेह की माला पहिना देती। उसकी आत्मा तृषित थी और है; किसी ऐसे व्यक्ति को पाये या बनाये बिना उसको चैन नहीं मिल सकता था।

भारतीय, मुख्यतः हिन्दू-आत्मा की अतृप्ति का कारण सांस्कृतिक और राजनीतिक है। भारत आज सैकड़ों वर्षों से परतंत्र है। पठान और मुगल काल समस्त देश की दृष्टि से पराधीनता का युग भले-ही न रहा हो परन्तु यह मानना ही होगा कि हिन्दू दबा हुआ था। राजा मुसलमान था, शासन का सूत्र जिन लोगों के हाथ में था वे केवल इस्लाम धर्म के अनुयायी ही न थे वरन् या तो विदेशी थे या उनके कुछ ही पीढ़ियों पहले के पूर्वज विदेश से आये थे। हिन्दू मन्दिर ध्वस्त किये जाते थे, जो बच रहे थे वे शासकों की घृणा-मिश्रित दया या उपेक्षा-दृष्टि के सहारे खड़े थे। राजभाषा विदेशी थी; पण्डितों की जगह उलमा का समादर था; बातचीत, वेश-भूषा, शील, आचार, सब पर विदेशी छाप पड़ती जाती थी। हिन्दू की आत्मा त्रस्त, दलित, संकुचित हो रही थी। आज भी वही दशा है, अन्तर केवल इतना है कि जो अवस्था पहले केवल हिन्दुओं की थी, वह आज सारे समाज की है। इस मानस अवस्था को यदि कोई एक शब्द व्यक्त कर सकता है तो वह इच्छाभिघात है। भारतीय फैल नहीं सकता, जिधर बढ़ना चाहता है उधर ही उसकी इच्छा अभेद्य दीवार से टकराकर चूर्ण हो जाती है।

ऐसी दशा में आपन्न जाति या तो मर जाती है या फिर अपने अतीत के सहारे जीती है। भारत के भाग्य अच्छे हैं, उसे जीना है, इसलिए उसके अतीत ने उसे संभाल लिया। राष्ट्रीय आत्मा की परख अचूक होती है; वह अतीत में से उन्हीं तत्त्वों को पकड़ती है जो बल देने वाले, उभारने वाले होते हैं। महाभारत के नायक चिरस्मरणीय व्यक्ति थे, महाभारत निकटतर भी है, परन्तु महाभारत गृहकलह और अपने हाथों अपना सर्वनाश ही तो सिखलाता है। वह लोकप्रिय न हुआ। जनता ने रामायण को अपनाया। उसमें अपने विजय, साम्राज्य-स्थापन, उत्कर्ष की कथा है। हम आज पतित हैं, परन्तु सदा ऐसे न थे, कभी हम भी बड़े थे, पृथ्वी पर सम्मान के पात्र थे; रामायण के द्वारा यह भावना हृदयों में अवतरित होती है और उनको शान्ति देती है।

यही चीज विक्रम की गाथा में है। राम मनुष्य थे, विष्णु के अवतार भी थे। उनका देवत्व भुलाया नहीं जा सकता। विक्रम सर्वतः मनुष्य थे। उनका जीवन मनुष्य का जीवन था, उनका चरित्र मनुष्य का चरित्र था, उनका सुख-दुःख मनुष्य का सुख-दुःख था। उनके शरीर में भारत का साधारण मनुष्य अपने को

देखता है, परन्तु अपने को आज के रूप में नहीं, प्रत्युत उस रूप में जिसमें वह होना चाहता है। विक्रम भारत के गौरव, उत्कर्ष, धर्म, त्याग, वैभव और ज्ञान के प्रतीक हैं। उनकी चर्चा करते समय जनता को अपने अतीत की एक झलक देख पड़ जाती है और अनागत की आशाएं फिर हरी हो उठती हैं। न यह झलक व्यक्त होती है, न यह आशाएं। यदि ये व्यक्त होतीं, यदि इनको स्पष्ट शब्दों में बताया जा सकता तो फिर यह राजनीति के थोड़े से विद्वानों की विचार-सामग्री होकर रह जातीं। अव्यक्त होने के कारण ही इनका स्थान जनता के दिलों में है। जब तक भारतीय संस्कृति फिर अपना सिर नहीं उठा लेती तब तक जनता के विक्रम का स्थान कोटि-कोटि भारतीयों के हृदयों में सुरक्षित है। इसके बाद इतिहास-वेत्ताओं को अधिकार है, विक्रम की सत्ता को रखें या मिटाएं।

विक्रम—हमारा अग्नि-स्तम्भ

□ श्री कन्हैयालाल मणिकलाल मुंशी

यूरोपीय इतिहास के कैसर, जार अथवा सीजर की भांति ही विक्रमादित्य का नाम भी हमारे इतिहास में आकर्षण रखता है। महत्त्वाकांक्षी राजाओं ने उसके नाम से बढ़कर अन्य किसी पदवी को धारण करने की इच्छा नहीं की। गुजरात के सिद्धराज जयसिंह की भांति अनेक शासक उसके पराक्रम का अनुकरण करने में ही अपने जीवन को खपा गए थे। क्या दिल्ली के अन्तिम हिन्दू शासक के विक्रमादित्य पद ने ही उसे उस विदेशी से, जो मातृभूमि को दासता के बन्धन में जकड़ना चाहता था, युद्ध करने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया था?

वह क्या बात है जिसके कारण इस द्वि-सहस्राब्दी के अवसर पर सम्पूर्ण भारतवर्ष राष्ट्रीय त्योहार मना रहा है? वह कौन-सी भावना है जो हमें उस अविस्मरणीय वीर को पुनः दैवी श्रेणी में रखने के लिए प्रेरित कर रही है?

विदेशियों की दासता के बन्धन में जकड़े हुए हम लोगों के लिए विक्रमादित्य केवल एक ऐतिहासिक स्मृति अथवा एक गौरवशाली नाममात्र ही नहीं है प्रत्युत इससे कुछ अधिक है। वह भारतीय एकता का प्रतीक है, वह चक्रवर्ती हमारी राष्ट्रीय आकांक्षाओं का प्रतिनिधि है। हमारे लिए वह 2000 वर्ष की राष्ट्रीय स्मृति, अतीत गौरव, वर्तमान की स्पृहा, भविष्य की लालसा तथा राजनीतिक शक्ति की महत्ता, राष्ट्रीय स्वाधीनता, सामाजिक एकता एवं सांस्कृतिक ऐश्वर्य का सम्मिश्रण है।......

मगध का असुर राजा जरासन्ध कृष्ण द्वारा पराजित हुआ और उसका देश आर्यावर्त में सम्मिलित हो गया। परन्तु पराजित मगध ने अपने विजेताओं पर फिर विजय प्राप्त की। इसके बाद शिशुनागवंशी राजा (ईसा से लगभग 700 वर्ष पूर्व) भारत के चक्रवर्ती राजा हुए हैं। बुद्ध ने धर्म का प्रतिनिधित्व करने वाले सार्वभौम व्यक्तित्व के भाव को बहुत उन्नत किया। यद्यपि उनका प्रभाव कृष्ण की भांति तनिक भी राजनीतिक शक्ति पर आश्रित न था। साम्राज्यवादी शक्ति के देशव्यापी रूप का निर्माण तब हुआ जब चक्रवर्ती मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त (लगभग 325-301 ईसवी पूर्व) तथा शक्तिशाली राजकीय सूत्रों के शिल्पी

कौटिल्य इस भावना को मूर्त रूप प्रदान करने के लिए मिले कि भारतवर्ष, जो सांस्कृतिक दृष्टि से एक है, राजनीतिक दृष्टि से भी एक है। परन्तु भारत का वह स्वप्न उस समय पूरा हुआ जब चन्द्रगुप्त के पौत्र अशोक पाटलिपुत्र की गद्दी पर बैठे। शक्ति-चक्र और धर्म-चक्र दोनों का संचालन एक ही हाथ से होता था। यह स्वप्न, जो इतनी सुन्दरता से पूरा हुआ था, आगे चलकर हमारी प्राचीन संस्कृति की एक मूल भावना ही बन गया। हमारे राष्ट्रीय मस्तिष्क में यह भावना बद्धमूल हो गई कि एक जीवन के अन्तिम लक्ष्य और उद्देश्य की प्राप्ति के लिए धर्म का गठबन्धन अखिल भारतीय राजनीतिक शक्ति में होना आवश्यक है। इस समय राष्ट्रीय मस्तिष्क विक्रमादित्य के विचार को ग्रहण करने के उपयुक्त हो गया।···

शिशुनाग द्वारा स्थापित मगध का वैभव-पूर्ण साम्राज्य ईसा के 79 वर्ष पूर्व तक रहा। उसने भारत को सामाजिक संगठन की एकता और सांस्कृतिक दृष्टि प्रदान की। किन्तु मगध की शक्ति का ह्रास हुआ। बख्तर, यवन, पह्लव, यूची आदि बर्बर जातियां भारत में घुस आई। इसके पश्चात् इस वीर विक्रमादित्य का आगमन हुआ। उसके पराक्रम के विस्तृत विवरण हमें ज्ञात नहीं परन्तु उसने उन बर्बर जातियों को पूर्णरूपेण खदेड़ दिया, दमन किया और उनको आत्मसात् कर लिया। यह महान् कार्य था जो भारत के राष्ट्रीय मस्तिष्क में अमर ज्वाला के अक्षरों में अंकित है।···

परशुराम अवतारी पुरुष थे। उन्होंने धर्म के शत्रुओं का नाश किया। परन्तु वे अपनी उग्रता के कारण प्रिय न बन सके। श्रीकृष्ण भी अवतारी पुरुष थे। उन्होंने भी धर्म का पक्ष लिया था पर उनके लिए सिर पर राजमुकुट नहीं था। अशोक ने भी धर्म का पक्ष लिया परन्तु उन्हें सुरक्षित साम्राज्य 'पैतृक' सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हुआ था। यह सौभाग्य केवल विक्रमादित्य को प्राप्त हुआ कि वे जनता के सर्वाधिक प्रियपात्र अपनी मानवता के नाते बन सके। उन्होंने बर्बर जातियों को मार भगाया और शक्तिशाली राजशक्ति की स्थापना की। कला और साहित्य को प्रोत्साहित किया, धर्म की रक्षा की और सबसे अधिक उन्होंने पीड़ितों एवं सहायतार्थियों का प्रतिपालन किया। उनमें परशुराम, श्रीकृष्ण, बुद्ध और अशोक की उज्ज्वल स्मृतियों का अद्भुत सम्मिश्रण था। वे अपने मानवोचित अतएव प्रिय गुणों के कारण हम लोगों के अत्यधिक प्रिय हैं। विक्रमादित्य तभी से राष्ट्र के प्रिय बन गए।

(भाषण से उद्धृत)

गुजराती साहित्य में विक्रम

□ दीवान बहादुर श्री कृष्णलाल मोहनलाल झवेरी

विक्रम-संवत् की द्वि-सहस्राब्दी पर उत्सव के आयोजन के विचार की उत्पत्ति के साथ ही यह प्रश्न सम्पूर्ण देश के विवेचन का विषय बन गया है कि क्या इस संवत् के प्रवर्तक का अस्तित्व वास्तव में कभी रहा है ? और यदि रहा है तो इस नाम का कोई एक सम्राट् हुआ है अथवा एक से अधिक ? और वह कोई काल्पनिक व्यक्ति था अथवा वास्तविक, और यह प्राकृतिक है कि गुजराती लेखक भी इस पर विचार करने में संलग्न हों। शास्त्री रेवाशंकर मेघजी पुरोहित नामक संस्कृत के विद्वान् पंडित उनमें से एक हैं और उन्होंने ऐतिहासिक तथा पौराणिक उदाहरण उद्धृत करते हुए यह तथ्य स्थापित किए हैं—(1) विक्रमादित्य का अस्तित्व सम्राट् के रूप में रहा है, (2) उसकी राजधानी मालवान्तर्गत उज्जयिनी थी, (3) उसने ईसवी पूर्व 57 से पहले विक्रम संवत् का प्रवर्तन किया, तथा (4) यह संवत् युधिष्ठिर द्वारा प्रवर्तित संवत् के समाप्त होने पर प्रचलित किया गया। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी सिद्ध किया है कि यह संवत् मालव[1] संवत् के नाम से भी प्रसिद्ध था।

प्राचीन गुजराती साहित्य में शासक के रूप में विक्रम की अनेक विशेषताओं में हारू-उल-रशीद की भांति उसके साहसपूर्ण कार्यों का वर्णन भी मौलिक रूप में नहीं वरन संस्कृत से अनूदित रूप में किया गया है। जहां तक मराठी साहित्य का सम्बन्ध है वैताल पच्चीसी के पाठ का आधार मूल संस्कृत का हिन्दी अनुवाद था;[2] तथापि कवि सामल (विक्रम संवत् 1774-1821) द्वारा गुजराती में लिखित वैताल पच्चीसी अधिक प्राचीन थी। इसके छन्दों की रचना सन् 1719

---

1. 'शक-प्रवर्तक, पर-दुख-भंजन महाराज विक्रमादित्य' पृष्ठ 6 से 9 तक 'गुजराती' का दीवाली-अंक (24 अक्टूबर 1943 आषाढ़ वदी राम-एकादशी, संवत् 1999)।
2. किंकणी टेल्स ऑफ विक्रम (1927), भूमिका

तथा 1729 के बीच में हुई। इस ग्रन्थ की रचना करने में कवि को दस वर्ष लगे। इसका मराठी रूपान्तर सन् 1830 में किया गया। इस प्रकार गुजराती रूपान्तर लगभग एक शताब्दी अधिक प्राचीन था।

इसका रचयिता और इसका नाम 'सिंहासन बत्तीसी' अथवा सिंहासन की बत्तीस कहानियां रखनेवाला कवि सामल अठारहवीं शताब्दी में प्राचीन गुजराती साहित्य के तीन ज्योतिर्मय स्तम्भों में से एक था और आख्यानकारों का शिरोमणि माना जाता था। वह संस्कृत से पौराणिक उपाख्यानों का अनुवाद करके उनको गाकर सुनाता था। उस काल में असंस्कृतज्ञ श्रोताओं के बीच संस्कृत श्लोक के स्थान पर देशभाषा में आख्यान गाकर सुनाने की यह प्रणाली गुजरात में बहुत लोकप्रिय सिद्ध हुई थी।

सामल ब्रजभाषा जानते थे, फिर भी उन्होंने संस्कृत पाठ[1] को ही अपना आधार बनाया और उन्होंने जहां चाहा परिवर्तन भी कर दिए।

सामल के रचनाकाल में कविताओं के कथानकों का आधार शास्त्रों से ग्रहण करने की कवियों में प्रथा थी। कल्पना-प्रसूत रचनाएं निषिद्ध मानी जाती थीं। इस कारण सामल को अपनी रचना में धार्मिकता का पुट देना पड़ा।

सामल की कहानियों ने देश के भीतरी भाग में भी प्रवेश प्राप्त किया था। उसकी कहानियों ने केरा जिले में राखीदास नामक एक धनी जमींदार का ध्यान आकर्षित किया। वह विद्या का संरक्षक था। उसने सामल को बुलवाया, अपने साथ रहने को उसे आमंत्रित किया तथा उसके भरण-पोषण के निमित्त कुछ भूमि भी प्रदान की। इस उपहार के बदले सामल ने राखीदास का नाम अमर कर दिया और उसे भोज के समकक्ष बना दिया। सामल की प्रत्येक रचना में उसकी अत्यधिक प्रशंसा है।[2]

सामल के जीवन का उद्देश्य उपदेशात्मक था। लोकप्रिय भाषा में लिखित तथा पठित कहानियों तथा उपाख्यानों द्वारा वह जनसाधारण को अनियमित, अनैतिक तथा निरानन्द जीवन से दूर ले जाकर सदाचार के मार्ग पर ले जाना चाहता था, इसके लिए उसने प्रत्येक सहायक साधन को ग्रहण किया। सम्राट् विक्रमादित्य को वह सदैव 'पर-दुःख-भंजन' के नाम से पुकारता है और उसके साहसपूर्ण कार्यों का वर्णन करने वाली आख्यायिकाएं उसके उपर्युक्त उद्देश्य की सिद्धि के लिए

---

1. 'सिंहासन बत्तीसी' ले० अम्बालाल बी० जैन, बी० ए०, प्रथम भाग 1926, पृ० 3—जहां कवि कहता है कि उसने अपने प्राकृत में रचे ग्रंथ के लिए संस्कृत को आधार बनाया है।
2. Mile-stones in Gujrati Literature—ले० कृ० मो० झवेरी, पृ० 97 प्रथम संस्करण 1914।

उपयुक्त ज्ञात हुई, अत: उसने दस वर्ष पर्यन्त उन्हें उचित तथा लोकप्रिय रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया।

वह विक्रम का जन्म तथा उसके साहसपूर्ण कार्यों का उल्लेख संक्षेप अथवा विस्तार रूप से विभिन्न स्थानों पर करता है, जिसमें कुछ इस प्रकार हैं—

वह विक्रम का वंश-क्रम गन्धर्वसेन से बतलाता है जिसने अम्बकसेन की लड़की से विवाह किया। गन्धर्वसेन रात्रि को देवता का रूप तथा दिन में गधे का रूप धारण कर लेता था। एक दिन गधे का चर्म उसकी सास द्वारा जला दिया गया, और परिणामस्वरूप नगर के विनाश के रूप में आपत्ति आई। रानी, जो उस समय गर्भवती थी, भागी और उसने एक ऋषि के आश्रम में आश्रय लिया। जहां उसने एक पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम विको रखा गया। उसने उज्जैन में वेताल पर विजय प्राप्त की और उस स्थान का राजा हो गया तथा अन्तत: उसने भरत खण्ड पर एक-छत्र सम्राट् के रूप में शासन किया।[1] आगे नन्दा नाम की पुतली के मुख से कहलवाया गया है—'सुनो राजा भोज! यह उस राजा विक्रमादित्य का सिंहासन है जिसका नाम 'पर-दुख-भंजन' है। वह इन्द्र के पास से आया है, वह शूरवीर है तथा धैर्यवान भी है। उसने चक्रवर्ती के रूप में शासन किया तथा एक संवत् प्रचलित किया, वह सभी स्त्रियों के लिए (अपनी स्त्री के अतिरिक्त) भाई के समान था और वह नारायण का भक्त था। उसने संसारभर को मुक्त कर दिया और उसके राज्य में अहर्निश आनन्द ही आनन्द छाया रहता था।'[2]

उसकी उदारता का वर्णन करने के लिए 'अहरनी अवनीकारी' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। 'अहरनी' शब्द वास्तव में अऋणी है। यह आख्यायिका प्रचलित है कि आश्विन मास के अन्तिम दिन वह अपनी समस्त प्रजा को एक साथ बुलाता था और अनुसन्धान के पश्चात् ऋणी होने वाले प्रत्येक व्यक्ति को ऋणमुक्त कर देता था, जिससे प्रत्येक मनुष्य नव वर्ष के दिन कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा से अपनी-अपनी आय-व्यय पुस्तक को, जहां तक आरम्भ का सम्बन्ध है, बिना लिखे से प्रारम्भ कर सके। यही कारण है कि विक्रम-संवत् का नया वर्ष कार्तिक पृष्ठ शुक्ला प्रतिपदा से प्रारम्भ होता है।

पीछे भी एक आख्यायिका[3] में उसने विक्रम की उत्पत्ति तथा उसके राज्य वर्णन के विकास एवं विस्तार के लिए तीन पृष्ठ लिखे हैं। यहां उसने विक्रम

---

1. सिंहासन बत्तीसी, भाग 1, ले० अम्बालाल बी० जैन, बी० ए० (1926) पृ० 5, प्रथम आख्यायिका।
2. वही, पृ० 25-26।
3. वही, पृ० 160-63, चतुर्थ कथा।

के भाई भर्तृहरि का उल्लेख भी किया है, जो अन्ततः संन्यासी हो गया था।

विमला नाम की पुतली द्वारा कही गई दशम आख्यायिका, जो गन्धर्वसेन की आख्यायिका कही जाती है[1] इस कहानी से भिन्न है। उसमें विक्रम के जन्म तथा राज्य का सविस्तार वर्णन है। इसमें प्रभाव को, जो पीछे से विक्रम का सचिव हुआ, उसका भाई बना दिया है। उनकी माता त्र्म्बक घाडया त्र्म्बकवती में रहती थी जो भूकम्प द्वारा विनष्ट हो जाने के पश्चात् पुनर्निर्मित होने पर केम्बे (खम्भायत) के नाम से प्रसिद्ध हुई। प्रत्येक संवत् का वर्ष-चक्र प्रभव[2] के नाम से प्रारम्भ होता है। अपने वशीकृत वैताल से उसने यह जान लिया था कि वह 135 वर्ष 7 मास 10 दिवस तथा 15 घड़ी तक जीवित रहेगा। सम्भवतः यह समय पैठण के शालिवाहन (विक्रम संवत् के 135 वर्ष पश्चात्) के संवत् के प्रारम्भ के समकालीन होने से विक्रम का जीवन इतना रखा गया है।

विक्रम के जीवन तथा राज्य का और भी भिन्न रूप सामल की वैताल पच्चीसी नामक रचना में प्राप्त होता है, जो बत्तीस कहानियों की अपेक्षा अधिक विस्तृत रचना में सम्मिजित है। कहानी के भूमिका भाग में वह राजा भोज के शासन का यशोगान करता है और कुछ आगे चलकर पंचदण्ड के छत्र का वर्णन करता है तथा यह बतलाता है कि विक्रम ने कैसे और किन परिस्थितियों में जन्म लेकर राज्य किया।[3]

राजा विक्रम के शौर्य, औदार्य तथा अन्य सद्गुणों के साथ उसकी राजधानी का वर्णन एक अन्य स्थान पर भी प्राप्त होता है।[4]

जहां तक धार्मिक गुणों का सम्बन्ध है, सामल श्रीमद्भागवत, रामायण तथा विक्रम-चरित को समान मानता है। वह विक्रम-चरित को भी परमार्थ और पुण्य से ओतप्रोत पाता है।[5]

---

1. सिंहासन बत्तीसी, भाग 1, ले० अम्बालाल बी० जैन, बी० ए०, (1926), भाग 2, पृ० 501-540।
2. (1) कालिदास का ज्योतिर्विदाभरण (2) 'गुजराती' प्रेस बम्बई द्वारा प्रकाशित पंचांग।
3. वृहत् काव्यदोहन, भाग 6, पृ० 491-92, गुजराती प्रेस बम्बई द्वारा प्रकाशित।
4. कवि दलपतराय कृत काव्यदोहन, द्वितीय माला (1805)।
5. भगवानलाल बी० जैन कृत सिंहासन बत्तीसी का भाग 2, पृ० 570।

इस प्रकार विक्रम ने प्राचीन गुजरात के अत्यन्त विश्रुत कवियों में से एक की लेखनी द्वारा प्रत्येक गुजरात निवासी के हृदय में अमिट स्थान प्राप्त कर लिया है और उसके हृदय में विक्रम-प्रवर्तित संवत् की पुण्यस्मृति उस समय सजीव हो जाती है जब वह अपने दैनिक जीवन एवं कार्यों को सब कालों के सर्वश्रेष्ठ गुण-सम्पन्न एवं एक शूर सम्राट् द्वारा प्रवर्तित संवत् के वर्षों द्वारा नियंत्रित करता है ।

चीनी साहित्य में विक्रम

☐ श्री विश्व-पा (फा चँउ)

प्राचीन भारत के सर्वश्रेष्ठ शक्तिशाली और महान् शासकों में, जिन्होंने अपने आदर्श एवं शौर्यपूर्ण कार्यों से आर्य संस्कृति और सभ्यता को गौरव प्रदान किया तथा देशवासियों का ध्वंस करने वाले विदेशी आक्रमणकारियों को खदेड़ दिया, हमारे मत से विक्रमादित्य सबसे अधिक स्तुति एवं प्रशंसा के पात्र हैं। ये महान् शासक राष्ट्र-प्रेम तथा देश-प्रेम से ओत-प्रोत थे। उन्होंने अपने अद्वितीय सैन्य-सामर्थ्य से केवल सीथियनों को ही बाहर नहीं निकाल दिया था और न केवल सम्पूर्ण भारतवर्ष को ही एक सूत्र में बांध दिया था, वरन् अपने तीव्र उत्साह और गुण-ग्राहकता द्वारा वे धर्म, कला तथा साहित्य के संरक्षक एवं आश्रयदाता भी बने थे। इन महान् सम्राट् के सुशासन एवं सर्वोच्च नेतृत्व में देशवासियों ने धर्म-राज्य के शान्तिदायक वैभव तथा सौख्य का पूर्ण उपभोग किया था। यही कारण है कि जब चीनी यात्री शुआन्-चुआँङ् 630 ईसवी में बुद्ध-धर्म की उच्च-शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से भारत में आया, तब उसने इनकी उदार कृतियों के सम्बन्ध में बहुत कुछ सुना और उसे अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'सी-यू-की' अथवा 'पश्चिमी साम्राज्यों के बुद्ध-धर्म सम्बन्धी संस्मरण' में लिखा। उस ग्रन्थ से हमें ज्ञात होता है कि विक्रमादित्य कितने उदार थे। वे अपनी धन-राशि निर्धनों एवं भिक्षुकों को अत्यन्त मुक्त-हस्त होकर वितरित किया करते थे। अपने सुख अथवा भोग-विलास के लिए एक पैसा भी बचा रखने की चिन्ता वे नहीं करते थे। निम्नलिखित अवतरण से हमें उनके सम्बन्ध में स्पष्ट विवरण प्राप्त होता है —

'उस समय श्रावस्ती के महाराज विक्रमादित्य का यश दूर-दूर तक फैला हुआ था। उन्होंने अपने अमात्यों को सम्पूर्ण भारतवर्ष में पांच लक्ष स्वर्ण-मुद्राएं प्रतिदिन वितरित करने की आज्ञा दी थी और वे प्रचुर रूप से (सर्वत्र) निर्धन, अनाथ तथा पीड़ितों की आवश्यकताएं पूरी करते थे। साम्राज्य के साधन क्षीण होने के भय से महाराज के कोषाध्यक्ष ने स्थिति उनके समक्ष उपस्थित की और कहा, 'महाराज! आपका यश आपकी निम्नतम

प्रजा तक पहुंच गया है और उसका विस्तार पशु-सृष्टि तक हुआ है। आप निखिल-संसार के निर्धनों की सहायता के अर्थ (अपने व्यय में) पांच लक्ष स्वर्ण मुद्राओं की वृद्धि करने की आज्ञा देते हैं। इस प्रकार आपका कोष रिक्त हो जाएगा, तब कृषकों पर नवीन कर लगाने पड़ेंगे, अन्ततः जिनका परिणाम भूमि का चरम शोषण होगा और फिर असन्तोष का घोष सुनाई देगा तथा शत्रुओं को उत्तेजना मिलेगी। यह सत्य है कि सम्राट् दानशीलता का यश अर्जित करेंगे; परन्तु आपके अमात्य सबकी दृष्टि में सम्मान खो देंगे।' महाराज ने उत्तर दिया, 'किन्तु मैं अपनी निज की बचत में से निर्धनों की सहायता की इच्छा करता हूं। मैं किसी कारण से भी अपने निजी लाभ के लिए बिना विचारे देश पर भार नहीं डालूंगा।' तदनुसार उन्होंने निर्धनों के लाभ के लिए पांच लक्ष की वृद्धि की।[1]

किन्तु उनके शासनकाल में एक दुःखद घटना घट गई। प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक वसुबन्धु के आचार्य महातपस्वी मानोर्हित का देहावसान उस समय हो गया, और यह समझा जाता है कि इस तपस्वी की मृत्यु में विक्रमादित्य कारणभूत थे। विक्रमादित्य के प्रशंसकों और जीवनी लेखकों के लिए निम्न घटनाएं कुछ आकर्षक होंगी—

इसके कुछ समय पश्चात्[2] ये महाराज वाराह की मृगया में व्यस्त हुए। मार्ग भटक जाने पर उन्होंने एक व्यक्ति को मार्ग-निर्देश करने पर एक लक्ष मुद्राएं प्रदान कीं। इधर शास्त्रों के आचार्य मानोर्हित ने एक व्यक्ति से क्षौर कराया और उसे इस कार्य के लिए तत्काल एक लक्ष स्वर्ण मुद्राएं दे दीं। इस उदार कार्य का उल्लेख प्रधान इतिहासकार द्वारा इतिवृत्त में किया गया। महाराज इसे पढ़कर लज्जित हुए, उनका अभिमानी हृदय इससे निरन्तर व्यथित होने लगा और इसीलिए उन्होंने मानोर्हित पर दोषारोपण कर दण्डित करने की इच्छा की। इस उद्देश्य से उन्होंने विद्वत्ता की श्रेष्ठ कीर्ति वाले सौ विभिन्न धार्मिक व्यक्तियों की एक परिषद् की घोषणा की और यह आदेश दिया कि 'मैं विभिन्न (भ्रान्त) मतों को नियंत्रित और वास्तविक (शास्त्रार्थ की) सीमाओं का निर्धारण करना चाहता हूं। विविध धार्मिक सम्प्रदायों के मत इतने विभिन्न हैं कि किस पर विश्वास किया जाय—मस्तिष्क यह नहीं जान पाता। अतः आज अपनी अधिकतम योग्यता मेरे आदेशों के पालन में लगा दीजिए।' शास्त्रार्थ के लिए मिलने पर उन्होंने दूसरा आदेश दिया कि नास्तिक मत के आचार्य

1. 'बुद्धिस्ट रिकॉर्ड ऑव् दी वेस्टर्न वर्ल्ड' भाग 1, पृ० 107-108, एस० बीलकृत अंग्रेजी अनुवाद।
2. ऊपर अवतरित घटनाओं के पश्चात्।

अपनी योग्यता के लिए विश्रुत हैं। श्रमण तथा बौद्ध मतावलम्बियों को उचित है कि वे अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को भली प्रकार से देख लें। वे विजयी होकर बौद्धमत को समादर प्राप्त कराएंगे, किन्तु पराजित होने की दिशा में उनका उन्मूलन कर दिया जायगा।' इस पर मानोर्हित ने नास्तिकों से शास्त्रार्थ किया और उनमें से 99 को निरुत्तर कर दिया। अब एक नितान्त अयोग्य व्यक्ति उनके लिए शास्त्रार्थ को बिठाया गया तथा महत्त्वहीन वाद-विवाद के लिए (मानोर्हित) ने अग्नि तथा धूम का विषय प्रस्तुत किया। इस पर महाराज तथा नास्तिकों ने यह कहकर कोलाहल किया कि 'शास्त्रों का आचार्य मानोर्हित वाग्व्यवहार में भ्रान्त हो गया है। उसे पहले धूम तथा पीछे अग्नि कहना चाहिए था। वस्तुओं का यह स्थिर क्रम है।' कठिनाई का स्पष्टीकरण करने के इच्छुक मानोर्हित को एक शब्द भी सुनाने का अवसर नहीं दिया गया। इस पर लोगों के अपने साथ किए गए ऐसे व्यवहार से लज्जित होकर उन्होंने अपनी जिह्वा दांतों से काट डाली और अपने शिष्य वसुबन्धु को इस प्रकार उपदेश लिखा, 'दुराग्रही व्यक्तियों के समूह में न्याय नहीं होता; मूढ़ व्यक्तियों में विवेक नहीं होता।' इस प्रकार लिखने के पश्चात् उनकी मृत्यु हो गई। यह घटना वास्तव में शोचनीय है, परन्तु हम यह समझ सकते हैं कि संभवतः महाराज विक्रमादित्य का यह अभिप्राय नहीं था।[1]

यहां यह कहना असम्बद्ध न होगा कि चीनी भाषा में विक्रमादित्य का नाम 'छाँव् जिर्' है, जिसका अर्थ है विक्रम (विक्रमण करना, ऊपर निकालना) + आदित्य।

---

1. यह अधिक संभव है कि यह दन्तकथा शुआँन-चुआँङ् के समय में साम्प्रदायिक कारणों से प्रचलित की गई हो और यह निश्चय ही संवत्-प्रवर्त्तक उज्जयिनी-नाथ विक्रमादित्य से सम्बन्धित नहीं है, यह तो श्रावस्ती के महाराज की कथा है।—सं०।

जैन साहित्य में विक्रम

☐ डॉ० बनारसीदास जैन

महाराज विक्रमादित्य का नाम भारतवर्ष में जितना ही अधिक प्रसिद्ध है, पाश्चात्य विद्वानों ने उतना ही अधिक उनके अस्तिव में सन्देह प्रकट किया है। इसका कारण यह है कि न तो विक्रमादित्य के समय का बना हुआ कोई ऐसा ग्रन्थ विद्यमान है जिसमें उनका स्पष्ट उल्लेख हो, और न कोई ऐसे प्राचीन शिलालेख या मुद्रा प्राप्त हुए हैं, जिनमें उनका नाम या वृतांत अंकित हो। ऐसी दशा में पाश्चात्य विद्वानों के लिए विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता में सन्देह करना स्वाभाविक बात थी। यद्यपि कथासरित्सागर (लम्बक 18) तथा उसके पाश्चात्यकालीन ग्रन्थों में विक्रमादित्य सम्बन्धी बहुत से उल्लेख और कथाएं पायी जाती हैं, परन्तु वे अर्वाचीन तथा परस्पर विरोधी होने से विश्वसनीय नहीं समझी जातीं। इस प्रकार की अधिकतर सामग्री जैन साहित्य में मिलती है। लेकिन जैन साहित्य अति विशाल है। इसका बहुत बड़ा भाग अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ, और जो प्रकाशित हो चुका है, वह भी सारे का सारा किसी एक पुस्तकालय में प्राप्य नहीं है। अतः विक्रम सम्बन्धी जो वृत्तान्त यहां लिखा जाता है, वह सम्पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

पहले उन ग्रन्थों की सूची दी जाती है, जिनमें विक्रमादित्य का चरित्र अथवा उल्लेख मिलते हैं। ये ग्रन्थ प्रायः सबके सब श्वेताम्बर सम्प्रदाय के हैं। दिगम्बर ग्रन्थों का इस लेख में समावेश नहीं किया जा सका। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से उल्लेख होंगे। इन उल्लेखों में जो परस्पर भेद दिखाई देता है, उसका कारण यह है कि विक्रमादित्य किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं था, यह तो एक विरुद है, जिसे कई राजाओं ने धारण किया। पीछे होने वाले लेखकों ने एक विक्रमादित्य का वृतांत दूसरे के साथ मिला दिए। चूंकि उज्जयिनीपति महाराज विक्रमादित्य अधिक प्रसिद्ध थे, इसलिए सब घटनाएं उन्हीं के जीवन से सम्बद्ध हो गईं।

साहित्य-सूची

1. वीरनिर्वाण और विक्रम-संवत् का अन्तर बताने वाली प्राचीन गाथाएं जो बहुत से ग्रन्थों में उद्धृत मिलती हैं।
2. सं० 1290 अथवा 1294 में एक जैनाचार्य द्वारा रचित पञ्चदण्डात्मक विक्रमचरित्र (प्रकाशक—हीरालाल हंसराज, जामनगर; ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा)।
3. सं० 1334 में प्रभाचन्द्र द्वारा रचित प्रभावक-चरित (सिंघी जैन ग्रन्थ-माला)। विशेषकर कालकाचार्य, जीवसूरि और वृद्धवादिसूरि-चरित।
4. सं० 1361 में मेरुतुंग द्वारा रचित प्रबन्धचिन्तामणि (सिंघी जैन ग्रन्थ-माला)। विशेषकर विक्रमार्क-प्रबन्ध और सातवाहन-प्रबन्ध।
5. सं० 1364 और 1389 में जिनप्रभसूरि द्वारा रचित विविधतीर्थकल्प (सिंघी जैन ग्रन्थमाला)। विशेषकर अपापा-बृहत्कल्प, प्रतिष्ठानपुरकल्प, कुडुंगेश्वरकल्प।
6. सं० 1405 में राजशेखर द्वारा रचित प्रबन्धकोश (सिंघी जैन ग्रन्थ-माला)। विशेषकर जीवदेवसूरि-प्रबन्ध, वृद्धवादि-सिद्धसेन-प्रबन्ध, सातवाहन-प्रबन्ध, विक्रमादित्य प्रबन्ध।
7. सं० 1450 से पूर्व किसी आचार्य ने महाराष्ट्री प्राकृत में सिंहासन-द्वात्रिंशिका[1] रची।
8. सं० 1450 के आस-पास तपागच्छीय देवसुन्दरसूरि के शिष्य क्षेमंकरसूरि ने नं० 7 के आधार पर संस्कृत गद्यपद्यमयी सिंहासनद्वात्रिंशिका रची।
9. सं० 1471 के लगभग कासद्रहगच्छ के देवचन्द्रसूरि के शिष्य उपाध्याय देवमूर्ति ने विक्रमचरित नाम का ग्रन्थ रचा। इसमें 14 सर्ग हैं। उनके नाम—विक्रमादित्य की उत्पत्ति, राज्य-प्राप्ति, स्वर्ण-पुरुष-लाभ, पञ्च-दण्ड-छत्र-प्राप्ति, द्वादशावर्तवन्दनक-फलसूचक-कौतुक-नयवीक्षि, देवपूजा-फलसूचकस्त्रीराज्यगमन, विक्रमप्रतिबोध, जिन-धर्म-प्रभावसूचक-हंसावली-विवाह, विनयप्रभाव, नमस्कारप्रभाव, सत्त्वाधिक-कथा-कोश,

---

1. महाराष्ट्री की सिंहासन-द्वात्रिंशिका के होने में इजर्टन महोदय ने शंका प्रकट की है। देखिए विक्रमचरित, हार्वर्ड ओरियण्टल सीरीज, पुस्तक 26, प्रस्तावना, पृ० 55।

दानधर्मप्रभाव, स्वर्गारोहण, और अन्तिम सर्ग सिंहासन-द्वात्रिंशत्कथा।[1]

10. सं० 1490 में पूर्णिमागच्छीय अभयचन्द्रसूरि के शिष्य रामचन्द्रसूरि ने दर्भिका ग्राम (डभोई) में उपर्युक्त ग्रन्थ नं० 9 के आधार पर संस्कृत पद्यबन्ध 32 कथा रूप विक्रमचरित्र रचा। इसकी श्लोक-संख्या 6020 है।
11. सं० 1490 में उक्त रामचन्द्रसूरि ने संस्कृत गद्य-पद्य में 2250 श्लोक प्रमाण खम्भात में पंचदण्डातपत्र-छत्र-प्रबन्ध की रचना की। प्रकाशक—हीरालाल हंसराज, जामनगर, सन् 1912; प्रोफेसर वेबर, सन् 1877।
12. सं० 1494 में तपागच्छीय मुनि सुन्दरसूरि शिष्य शुभशीलगुण ने भी एक विक्रमचरित्र बनाया (हेमचन्द्र ग्रन्थमाला, अहमदाबाद)।
13. सं० 1616 में सिद्धिसूरि ने संस्कृत पर से सिंहासनबत्रीशी (गुजराती में) बनाई।
14. सं० 1636 में हीरकलश ने विस्तार करके सिंहासनबत्रीशी (गुजराती में) बनाई।
15. सं० 1638 में मंगलमाणिक्य ने विक्रम राजा और खापरा चोर का रास (गुजराती में) बनाया।
16. सं० 1638 में मल्लदेव ने विक्रम-चरित्र पंचदण्ड कथा की रचना की।
17. सं० 1678 में संघ (सिंह) विजय ने भी विस्तृत सिंहासनबत्रीशी की रचना की।
18. विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में समयसुन्दर ने संस्कृत गद्य में सिंहासन-द्वात्रिंशिका रची। (पंजाब जैन भंडार; सूची नं० 2937)।
19. सं० 1777 से 1785 में सामलभट्ट ने अपनी सिंहासनबत्रीशी की रचना की। इसमें पंचदण्ड की कथा उपर्युक्त ग्रन्थ नं० 2 से ली गई है।

---

1. मोहनलाल दलीचन्द देसाई कृत 'जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास', पृ० 682।

इस ग्रन्थ की दो प्रतियां ऐसी मिलती हैं जो कर्ता के समय के आस-पास लिखी गईं। एक तो सं० 1482 में मेदपाट (मेवाड़) में राजा कुम्भकर्ण के राज्य में वेसग्राम में कासद्रहगच्छ के देवचन्द्रसूरि (कर्ता के गुरु) के शिष्य उद्योतन सूरि के पट्टधर शिष्य सिंहसूरि ने अपने लिए वाचनार्थ शीलसुन्दर से लिखवाई (वेबर नं० 1773)। दूसरी उसी सिंहसूरि ने सं० 1495 में महीतिलक से लिखवाई (लींबड़ी भंडार)। इसकी श्लोक संख्या 5300 है।

20. राजमेर कृत विक्रमचरित्र। लगभग 2000 श्लोक प्रमाण। संस्कृत पद्य। (पंजाब जैन भंडार, सूची नं॰ 2327)।
21. लाभवर्द्धन कृत विक्रमादित्य चौपई। लगभग 1000 श्लोक प्रमाण। गुजराती (पंजाब जैन भंडार, सूची नं॰ 2330)।
22. पूर्णचन्द्र कृत विक्रमपंचदण्ड-प्रबन्ध। श्लोक प्रमाण 400 (जैन ग्रन्थावली, पृ॰ 260)।
23-24. जैन ग्रन्थावली, पृ॰ 260 पर दो विक्रमनृप-कथाओं का उल्लेख है। एक का श्लोक प्रमाण 234, दूसरी पद्यबद्ध का 225 है।
25-26. जैन ग्रन्थावली, पृ॰ 218 पर एक विक्रम-प्रबन्ध तथा दूसरे विद्यापति भट्ट कृत विक्रमादित्य-प्रबन्ध का उल्लेख है।
27. जैन ग्रन्थावली, पृ॰ 259 पर इन्द्रसूरि कृत विक्रमचरित्र का उल्लेख है (पीटर्सन, रिपोर्ट 5)।
28. कालकाचार्य-कथानक जिसमें बतलाया है कि किस प्रकार कालकाचार्य ने अपनी भगिनी सरस्वती के अपहारक गर्दभिल्ल को शकों द्वारा राज्यच्युत किया और फिर कुछ काल पीछे विक्रमादित्य ने शकों को परास्त करके उज्जयिनी का राज्य पुनः प्राप्त किया। इस कथानक की अनेक रचनाएं मिलती हैं, जिनमें से कुछ को प्रो॰ नार्मन ब्राउन ने 'स्टोरी ऑफ कालक' नामक अपने ग्रन्थ में संपादित किया है।
29. स्थविरावली, पट्टावली, गुर्वावली संज्ञक कृतियों में थोड़ा-बहुत विक्रमादित्य सम्बन्धी, विषय मिलता है। इनमें से हिमवत् स्थविरावली अति महत्त्वशाली है। इसका गुजराती अनुवाद हीरालाल हंसराज ने प्रकाशित किया है।

जैन साहित्य में विक्रम सम्बन्धी सामग्री की सूची देने के बाद इस सामग्री का जो अंश मुझे प्राप्त हो सका और उसमें से जो वृत्तान्त मैं संकलित कर सका हूं, उसका सार नीचे दिया जाता है।[1]—

विक्रमादित्य का मौर्यवंशी होना—अशोक ने अपने पुत्र कुणाल को युवराज की पदवी देकर उसे उज्जयिनी का शासक बना दिया। वहां रहते हुए कुणाल अन्धा हो गया। उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम था संप्रति। अशोक की मृत्यु के पश्चात् पाटलिपुत्र के सिंहासन पर संप्रति बैठा, लेकिन अशोक के दूसरे पुत्र ने संप्रति का विरोध किया। इसलिए दो बरस पीछे संप्रति पाटलिपुत्र

---

1. अहमदाबाद से 'जैन-सत्य-प्रकाश' का विक्रम-विशेषांक निकला है। उसके विविध लेखों में विक्रम सम्बन्धी जैन-साहित्य और परम्परा का विस्तृत विवेचन किया गया है।

छोड़कर अपने पिता की जागीर उज्जयिनी आ गया। यहां उसने शेष आयु शांतिपूर्वक व्यतीत की। अब पाटलिपुत्र का राज्य पुण्यरथ (या दशरथ) ने संभाल लिया। इस प्रकार मौर्य राज्य के दो हिस्से हो गये। संप्रति के कोई पुत्र नहीं था। उसके मरने पर उज्जयिनी का राज्य अशोक के पौत्रों, तिष्यगुप्त के पुत्रों बलमित्र और भानुमित्र नामक राजकुमारों ने हस्तगत कर लिया। ये दोनों भाई जैन धर्म के उपासक थे। ये वीर-निर्वाण से 294 वर्ष बाद उज्जयिनी के सिंहासन पर बैठे और 60 वर्ष तक राज्य करते रहे।

इनके पश्चात् बलमित्र का पुत्र नभोवाहन उज्जयिनी का राजा बना। यह भी जैनधर्मी था। इसकी मृत्यु वीर-निर्वाण से 394 बरस बाद हुई।

नभोवाहन के पश्चात् उसका पुत्र गर्दभिल्ल उज्जयिनी के राज्य सिंहासन पर बैठा। विक्रमादित्य इसी गर्दभिल्ल का पुत्र था।

मौर्य-राज्य का दो शाखाओं में विभक्त हो जाना तो कई विद्वानों ने माना है, परन्तु गर्दभिल्ल का मौर्यान्वयी होना केवल हिमवत् स्थविरावली में मिलता है, जिसका उल्लेख मुनि कल्याण विजय ने 'वीर-निर्वाण-संवत् और जैन कालगणना' नामक अपने निबन्ध में किया है।

विक्रमादित्य की राज्य-प्राप्ति—विक्रमादित्य को उज्जयिनी का राज्य बपौती रूप से घर बैठे-बिठाये नहीं मिला। उसने यह राज्य प्रबल शत्रुओं को जीतकर प्राप्त किया; क्योंकि गर्दभिल्ल ने एक ऐसी दुष्ट चेष्टा की थी जिसके कारण उज्जयिनी का राज्य उसके हाथों से निकलकर शकों के हाथ में चला गया था। यह घटना इस प्रकार हुई—

कालकाचार्य नामी एक बड़े प्रभावशाली जैन साधु थे। उनकी बहिन सरस्वती भी साध्वी बन गई थी। वह बहुत रूपवती थी। एक बार गर्दभिल्ल ने उसे देखा और वह उस पर आसक्त हो गया। उसे उठाकर उसने बलात्कार अपने अन्तःपुर में डाल दिया। इस पर कालकाचार्य ने गर्दभिल्ल को बहुत समझाया कि आप उसे छोड़ दें, इसका सतीत्व नष्ट न करें, आप सरीखे न्यायी राजा को ऐसा करना उचित नहीं, राजा तो प्रजा का रक्षक होता है, न कि भक्षक। गर्दभिल्ल ने कालकाचार्य की बात नहीं मानी। फिर उसके मंत्रियों ने प्रार्थना की कि आप साधु-साध्वी का शाप न लें, लेकिन राजा ने उनकी प्रार्थना भी नहीं सुनी।

तब कालकाचार्य उज्जयिनी में उन्मत्त पुरुष की भांति फिरने लगे। अन्त में वे सुराष्ट्र (सोरठ) देश को चले गए और वहां के शासक शक सामन्तों को; जो 'शाहि' कहलाते थे, अपने बुद्धिबल से प्रसन्न किया। एक बार अवसर पाकर उन सबको इकट्ठा होकर उज्जयिनी पर धावा करने की सलाह दी। उन्होंने मिलकर गर्दभिल्ल से उज्जयिनी का राज्य छीन लि[illegible]। स्वाभाविक बात है कि

विदेशी शासकों के हाथ से उज्ययिनी की प्रजा तंग आ गई होगी। उसकी दीन दशा देखकर विक्रमादित्य से न रहा गया। उसने अपने बुद्धिबल और पराक्रम से शकों को परास्त किया और वह स्वयं उज्जयिनी के सिंहासन पर बैठ गया।'[1]

विक्रमादित्य का जैन धर्म को अंगीकार करना—जैन न्याय को क्रमबद्ध करके इसे शास्त्र का रूप देने वाले, संस्कृत के अद्वितीय पण्डित, श्री सिद्धसेन दिवाकर विक्रमादित्य के समकालीन माने जाते हैं। इन्हीं सिद्धसेन के उपदेश से प्रभावित होकर विक्रमादित्य ने जैन धर्म को अंगीकार किया।[2] यह प्रसंग ऐसे बना।

जैनों के आगम ग्रन्थ अर्धमागधी प्राकृत में रचे हुए हैं। पण्डित मण्डली में इस भाषा का संस्कृत जैसा आदर नहीं था। सिद्धसेन ने सोचा कि यदि जैन आगमों का संस्कृत में अनुवाद हो जाय, तो जिनवाणी की बड़ी प्रभावना होगी।

---

1. विक्रमादित्य को राज्यप्राप्ति के सम्बन्ध में कई और कथाएं भी हैं। जैसे—
   (क) विक्रमादित्य भर्तृहरि का भाई था और उसके पश्चात् उज्जयिनी के सिंहासन पर बैठा। (इजर्टन, उक्त पुस्तक, पृ० 247)।
   (ख) विक्रम नामक एक राजपूत था जो जन्म से दरिद्र, पर बुद्धिमान था। एक बार घूमता-फिरता वह अवन्ती नगरी के पास आया। वहां का राजा मर चुका था। जो नया राजा बनता, उसे पहली ही रात में अग्नि-वेताल मार डालता। अब मंत्री लोग विवश थे। ज्योंही विक्रम ने नगर में प्रवेश किया, लोगों ने उसे राजा बना दिया। जब विक्रम को राक्षस का हाल मालूम हुआ तो उसने पलंग के समीप मिठाई का ढेर लगवा दिया। अब यथापूर्व राक्षस आया और विक्रम को खाने लगा। विक्रम ने कहा—'पहले आप मिठाई खा लीजिए।' मिठाई खाकर राक्षस प्रसन्न हो गया, और विक्रम को जीवित छोड़ दिया। विक्रम प्रतिदिन मिठाई का ढेर लगवा रखता। एक रात विक्रम ने राक्षस से पूछा कि मेरी कुल आयु कितनी होगी। उसने उत्तर दिया, 'पूरे एक सौ बरस, न एक दिन कम और न एक दिन अधिक।' अब अगले दिन विक्रम ने मिठाई का ढेर नहीं लगवाया। यह देख राक्षस बहुत क्रुद्ध हुआ, और विक्रम के साथ युद्ध करने लगा। विक्रम ऐसी शूरता से लड़ा कि राक्षस प्रसन्न हो गया। अब उसने उज्जयिनी में आना छोड़ दिया और वहां विक्रम आनन्दपूर्वक राज करने लगा। (देखिए प्रबन्ध-चिन्तामणि, विक्रमार्क-प्रबन्ध 1, 2; इजर्टन, उक्त पुस्तक, पृ० 250-51)।
2. प्रभावकचरित (विजयसिंहसूरिचरित) श्लोक 77, (वृद्धवादिचरित) श्लोक 61-65। प्रबन्ध-चिन्तामणि (विक्रम-प्रबन्ध) 7-8।

यह सोचकर सिद्धसेन ने आगमों का संस्कृत में अनुवाद करने की अपने गुरु से आज्ञा मांगी। गुरु ने कहा कि तेरे इस संकल्प मात्र से जिनवाणी की आशातना (निरादर) हुई है। अनुवाद कर लेने पर तो महापाप लगेगा। इस खोटे संकल्प के लिए तुझे पारांचित प्रायश्चित करना चाहिए, जिसके अनुसार बारह बरस तक अवधूत वेश में रहकर तुझे जैन धर्म का पालन करना होगा। इस अवस्था में सिद्धसेन एक बार उज्जयिनी में आये। वहां महाकाल के मन्दिर में जाकर भी उन्होंने शिवलिंग को प्रणाम नहीं किया। लोगों ने इस बात की सूचना राजा विक्रमादित्य को दी। राजा ने सिद्धसेन को बुलाकर पूछा कि आपने शिवलिंग को प्रणाम क्यों नहीं किया? सिद्धसेन ने उत्तर दिया कि यदि मैं शिवलिंग को प्रणाम करूंगा तो वह फट जाएगा और आप अप्रसन्न हो जाएंगे। यह सुनकर राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने सिद्धसेन के वचन की परीक्षा करने के उद्देश्य से उनसे कहा कि मेरे सामने शिवलिंग को प्रणाम कीजिए। इस पर सिद्धसेन ने पार्श्व-नाथ भगवान की स्तुति आरम्भ कर दी। पहला ही श्लोक पढ़ा था कि शिवलिंग से धूम की रेखा निकलने लगी। लोग समझे कि अब शंकर महादेव के नेत्र से आग निकलेगी और इस भिक्षु को भस्म कर देगी। लेकिन थोड़ी ही देर में शिवलिंग फट गया और उसमें से पार्श्वनाथ की दिव्य मूर्ति निकल पड़ी। इस कौतुक को देखकर विक्रमादित्य को जैन धर्म में दृढ़ आस्था हो गई और उसने श्रावक के बारह व्रत धारण किये।[1]

विक्रमादित्य और कालिदास—विक्रमादित्य विद्या का प्रेमी था और विद्वानों का बड़ा आदर-सम्मान करता था। ज्योतिर्विदाभरण में लिखा है कि उसकी सभा में नौ पण्डितरत्न थे, जिनके नाम ये हैं—1. धन्वन्तरि, 2. क्षपणक, 3. अमरसिंह; 4. शंकु, 5. वेतालभट्ट, 6. घटखर्पर, 7. कालिदास, 8. वराह-मिहिर और 9. वररुचि।

इनमें से क्षपणक से तात्पर्य सिद्धसेन दिवाकर का है। कालिदास विक्रमादित्य का जामाता था, क्योंकि उसका विवाह विक्रमादित्य की पुत्री प्रियंगुमंजरी से हुआ था। कालिदास एक पशुपालक का पुत्र था और कुछ पढ़ा-लिखा न था। प्रियंगुमंजरी की अवज्ञा से उसने काली की उपासना की और उससे आशुकवित्व का वर प्राप्त किया। तब उसने कुमारसंभव आदि तीन महाकाव्य और छह प्रबन्ध बनाये।[2]

---

1. प्रभावकचरित (वृद्धवादिसूरिचरित) श्लोक 21-50। इजर्टन, हार्वर्ड ओरियन्टल सीरीज, पुस्तक 26, पृ० 251।
2. प्रबन्ध-चिन्तामणि (विक्रमार्क-प्रबन्ध) 2।

विक्रम का बल पराक्रम—जैसाकि विक्रमादित्य के नाम से प्रकट है, वह विक्रम और साहस का पुतला था। निर्बलों की रक्षा और दीन-अनाथों के दुख दूर करना उसके जीवन का मुख्य ध्येय था। कैसा ही साहस का काम क्यों न हो, वह उसे करने से नहीं घबराता था। उसकी शूरवीरता की अनेक कथाएं विशेषकर सिंहासनद्वात्रिंशिका में मिलती हैं। इनका निर्देश यहां नहीं किया जा सकता। ऐसा करने से लेख का कलेवर बहुत बढ़ जायगा।

विक्रम की दानशीलता—विक्रमादित्य इतना दानशील था कि उसने समस्त पृथ्वी को ऋणमुक्त कर दिया था। यह बात आज तक प्रसिद्ध है।

विक्रम का नया संवत् चलाना—विक्रमादित्य के नया संवत् चलाने के कई उल्लेख मिलते हैं। प्रबन्ध-चिन्तामणि में विक्रमार्क-प्रबन्ध के अन्त में लिखा है, 'अन्त समय में नवनिधियों ने विक्रमादित्य को दर्शन देकर कहा कि कलियुग में तो आप ही एकमात्र उदार हैं। और वह परलोक को प्राप्त हुआ। उसी दिन से विक्रमादित्य का संवत्सर प्रवृत्त हुआ, जो आज भी जगत् में वर्तमान है।'

विक्रम और सातवाहन—एक बार विक्रम की सभा में किसी नैमित्तिक ने कहा कि प्रतिष्ठानपुर में सातवाहन राजा बनेगा।

सातवाहन की उत्पत्ति—महाराष्ट्र देश में प्रतिष्ठानपत्तन बड़ा प्रसिद्ध नगर था। एकदा उसमें अपनी विधवा भगिनी समेत दो पथिक आकर एक कुम्हार के घर ठहरे। दैवयोग से उनकी बहिन को गर्भ हो गया। इस पर वे उसे अकेला छोड़कर वहां से चल दिए। दिन पूरे हो जाने पर उसके बालक उत्पन्न हुआ, जो बड़ा होकर कुम्हार के लड़कों से खेला करता था। उनसे मिट्टी के हाथी, घोड़े, रथ आदि वाहन बनाना सीख लिये। इसीसे उसका नाम सातवाहन पड़ गया।

उधर उज्जयिनी में एक बूढ़ा आदमी मरा। मरते समय उसने अपने चारों पुत्रों से कहा कि मेरी चारपाई के पायों के नीचे चार घड़े दबे हैं। तुम उनको निकालकर एक-एक बांट लेना। जब धरती खोदी गई तो एक घड़े में सोना, दूसरे में काली मिट्टी, तीसरे में भूसा और चौथे में हड्डियां मिलीं। इस पर चारों में झगड़ा हुआ कि कौन किस घड़े को लेवे। वे झगड़ते हुए न्याय कराने के लिए विक्रमादित्य के पास आए। वह उनका न्याय न कर सका। फिर वे प्रतिष्ठानपुर पहुंचे। वहां उनको उदास देखकर सातवाहन ने पूछा कि क्या बात है? उदासी का क्या कारण है? झगड़ा बतलाये जाने पर उसने कहा कि जो सोने वाला घड़ा ले उसको और कुछ न मिले। जो मिट्टी वाला घड़ा ले, वह सब भूमि, खेत-क्यारियां आदि का स्वामी समझा जाय, भूसे वाले को खत्ते कोठों में भरा अनाज मिल जाए। हड्डियों वाला गौ, भैंस आदि पशुओं को ले ले। ऐसा करके हिसाब लगाने पर सबके हिस्से में बराबर-बराबर सम्पत्ति आई और

वे सब प्रसन्न हो गए।

जब वे उज्जयिनी में आये और विक्रम को सूचना मिली कि उनका न्याय हो गया, तो उसने उन्हें बुलाकर पूछा, 'तुम्हारा न्याय किसने किया?' उन्होंने उत्तर दिया सातवाहन ने। अब विक्रमादित्य को नैमित्तिक के वचन याद आये कि प्रतिष्ठानपुर में सातवाहन राजा होगा। यह सोचकर कि राजा बनकर सातवाहन मेरा विरोध करेगा, विक्रम ने प्रतिष्ठानपुर का घेरा डालकर दूत द्वारा उसे कहला भेजा कि मैं कल तुम्हें मार डालूंगा। यह सुन सातवाहन लड़ाई के लिए तैयार हो गया। उसने रातोंरात मिट्टी की बहुत-सी सेना बना डाली। फिर एक देवता की उपासना करके उसमें प्राणों का संचार करा दिया। इस सेना द्वारा सातवाहन ने विक्रम को भगा दिया।[1]

विक्रम के पुत्र—विक्रमादित्य के पुत्र विक्रमसेन को पुरोहित ने आशीर्वाद दिया कि आप अपने पिता विक्रमादित्य से भी अधिक प्रतापी हों। इस पर सिंहासन की पुत्तलियों ने हंसकर कहा कि विक्रमसेन की विक्रमादित्य से समता भी नहीं हो सकती, अधिकता तो दूर रही। कारण पूछने पर पुत्तलियों ने विक्रमादित्य के पराक्रम आदि लोकोत्तर गुणों का बखान किया और पूछा कि क्या विक्रमसेन ऐसा कर सकता है? इस प्रकार पुत्तलियों ने विक्रमसेन के गर्व का निराकरण किया।[2]

उपर्युक्त वृतान्त जैन साहित्य में पाये जाने वाले विक्रम सम्बन्धी उल्लेखों का एक नमूना है। खोज करने से यह काफी विस्तृत हो सकता है। इसका ऐतिहासिक महत्त्व कुछ हो या न हो पर यह कथा-साहित्य की दृष्टि से बड़ी सरस और उपयोगी है।

1. विविध-तीर्थकल्प (प्रतिष्ठानपुरकल्प), पृ॰ 59-60। प्रबन्धकोष (सातवाहन-प्रबन्ध), 82-86।
2. प्रबन्धकोष (विक्रम-प्रबन्ध), 98।

अरबी-फारसी में विक्रम

□ श्री महेश प्रसाद 'मौलवी'

भारतीय इतिहास में अपने गुणों तथा कार्यों के कारण महाराज विक्रमादित्य ने जो अक्षय कीर्ति प्राप्त की है, उससे अनेक भाषाओं में उनका नाम किसी-न-किसी रूप में अवश्य पाया जाता है। अरबी में 'किताबुलहिन्द' नाम का एक महान् ग्रन्थ है। उसकी रचना सन् 1030 ई० अथवा इस सन् के कुछ ही काल बाद हुई है। लेखक एक मुसलमान है जो प्राय: अलबेरूनी के नाम से विख्यात है। इस जगत्-विख्यात लेखक के उक्त ग्रन्थ में सबसे पहले महाराज विक्रमादित्यजी का नाम उनके काल के एक रासायनिक (वैज्ञानिक) के सम्बन्ध में इस प्रकार पाया जाता है —

'राजा विक्रमादित्य, जिसके संवत् के विषय में हम आगे उल्लेख करेंगे, कं समय में उज्जैन नगर में व्याडि नामक एक व्यक्ति था, जिसने अपना सम्पूर्ण ध्यान इस (रसायन) विज्ञान की ओर दिया था और अपना जीवन व धन दोनों को इसके निमित्त नष्ट कर दिया, किन्तु उसके उत्साह के कारण उसको इतना भी लाभ न हुआ था कि साधारण स्थितियों में भी उसे सुगमता के साथ सहायता होती। वह बहुत दुखी हो गया था, इस कारण उसे अपने उस उद्यम से बहुत घृणा हो गई जिसके निमित्त उसने कठिन परिश्रम किया था। निदान शोकातुर व निराश होकर वह एक नदी के तट पर बैठ गया। अपने हाथ में अपने उस रसायन-ग्रन्थ को लिया जिसमें से वह औषधियों के लिए योग तैयार किया करता था और उस ग्रन्थ में से एक-एक पन्ने को निकाल जल में प्रवाह करना आरम्भ किया। दैवयोग से उसी नदी के तट पर बहाव की ओर कुछ दूरी पर एक वेश्या बैठी थी। उसने बहते हुए पन्नों को एकत्र किया और रसायन-विषयक कुछ पन्नों को एक साथ कर दिया।

व्याडि जब समस्त पुस्तक को फेंक चुका, उसके पश्चात् व्याडि की दृष्टि उस वेश्या पर पड़ी। इसके पश्चात् वह वेश्या व्याडि के समीप आई और पूछा कि आपने अपनी पुस्तक के साथ क्यों ऐसा व्यवहार किया? व्याडि ने उत्तर दिया कि पुस्तक से कुछ लाभ नहीं हुआ, इस कारण मैंने ऐसा किया। मुझे जो

कुछ लाभ इससे होना चाहिए वह नहीं हुआ और इसी के निमित्त मैं धनहीन हो गया। मेरे पास बहुत सम्पत्ति थी किन्तु अब मैं बहुत दुखी अवस्था में हूं और मैं बहुत काल तक आशा लगाये हुए था कि इसके कारण मैं सुखी हूंगा। वेश्या बोली—'जिस कार्य के निमित्त आपने अपना जीवन लगाया है, जिस बात को ऋषियों ने सच्चा करके दिखलाया है, उसके होने की सम्भावना से निराश न बनें। आपकी इष्टसिद्धि में जो रुकावट है वह सम्भवतः केवल किसी प्राकृतिक घटना के कारण है, वह सम्भवतः किसी घटना से दूर हो जाएगी। मेरे पास बहुत-सा ठोस धन है। वह सब धन आपका है। सम्भवतः उस धन से आप अपने मनोरथ की सिद्धि में सफलीभूत होंगे।' ऐसा होने पर व्याडि ने अपना कार्य फिर आरम्भ किया।

रसायन-विषयक ग्रन्थ पहेलियों के ढंग पर रचे गये हैं। इस कारण व्याडि को एक शब्द समझने में धोखा हुआ था। ओषधि के योग में जो शब्द था उसका अर्थ है 'तेल' और 'मनुष्य का रक्त' और दोनों की आवश्यकता ओषधि में थी। वास्तव में 'रक्तामल' लिखा हुआ था और उसका अर्थ लाल आमलक लिया गया था। जब वह ओषधि को प्रयोग में लाता था तो किसी दशा में भी उससे लाभ न होता था। एक बार उसने विविध ओषधियों को आग पर ठीक करना आरम्भ किया और आग की लपट उसके सिर को छू गई। उसका भेजा सूख गया। उसने सर पर बहुत-सा तेल लगाया व डाला। वह भट्ठी पर से कहीं जाने के लिए उठा। जहां भट्ठी थी, उसकी छत में लोहे का एक कीला निकला हुआ था। वह उसके सिर में लगा और रक्त बहने लगा। उसको दर्द हुआ तो वह नीचे की ओर देखने लगा। ऐसी दशा में उसकी खोपड़ी के ऊपर से तेल मिले हुए रक्त की कुछ बूंदें ओषधि में पड़ गईं और उसको कुछ पता न लगा। तत्पश्चात् जब ओषधि की तैयारी का कार्य समाप्त हो गया, तो उसने और उसकी स्त्री ने ओषधि को परखने के लिए अपने शरीर पर मला तो दोनों हवा में उड़े।

इस बात को जानकर विक्रमादित्य अपने राज-भवन से निकले और उनको अपनी आंखों से देखने के निमित्त बाहर आये। इस पर उस पुरुष ने चिल्लाकर कहा—'अपना मुंह मेरे थूक के लिए खोलिए'। किन्तु एक घृणित बात होने के कारण राजा ने ऐसा नहीं किया और थूक कपाट के पास गिरा, डेवढ़ी तुरन्त सोने की हो गई।

व्याडि और उसकी स्त्री जहां चाहते थे, उड़कर चले जाते थे। उसने इस विज्ञान के विषय में सुप्रसिद्ध पुस्तकें लिखी हैं। जनता का ख्याल है कि स्त्री-पुरुष दोनों जीवित हैं।

महाराज विक्रमादित्य से सम्बन्ध रखने वाली बात कहीं और अंकित है या नहीं—मैं इस विषय में कुछ नहीं कह सकता। हां, मैं यह अवश्य कह देना

चाहता हूं कि उक्त बात के सिवा अलबेरूनी ने अपने अमूल्य ग्रन्थ में विक्रमीय संवत् पर भी आगे चलकर प्रकाश डाला है जैसा कि पिछली पंक्तियों में उल्लेख हो चुका है।

फारसी के तो अनेक ग्रन्थों में महाराज विक्रमादित्य की चर्चा है। अकबरी हाल विषयक ग्रन्थों—'आईने अकबरी' व 'मुन्तखबुत्तवारीख' में विशेषकर विक्रमीय संवत् सम्बन्धी बातें हैं, किन्तु अकबरी-काल के थोड़े ही काल बाद सन् 1606 या 1607 ई० की रचना 'तारीख फरिश्त:' नामी ग्रन्थ है उसमें जो कुछ मिलता है उसका सार आगे दिया जा रहा है।

'विक्रमाजीत जाति का पवार था, उसका स्वभाव बहुत अच्छा था। इसके विषय में जो कहानियां हिन्दुओं में प्रचलित हैं, उनसे स्पष्ट होता है कि उसका वास्तविक स्वरूप क्या था। युवा अवस्था में यह राजा बहुत समय तक साधुओं के भेष में घूमता रहा और उसने बड़ा तपस्वी जीवन व्यतीत किया। पचास वर्षों की वय हुई तो ईश्वरीय महिमा से उसने सैनिक-जीवन की ओर ध्यान दिया। ईश्वर की ओर से यह बात निश्चित थी कि यह साधु एक महाप्रतापी राजा हो और मनुष्यों को अत्याचारियों के पंजे से छुड़ाये, इस कारण दिन-प्रतिदिन उनके कार्य में उन्नति ही होती गई। थोड़े ही काल से नहरवाला और मालवा दोनों देश उसके अधिकार में आ गए। राज-कार्य को हाथ में लेते ही उसने न्याय को संसार में ऐसा फैलाया कि अन्याय का चिह्न बाकी न रहा और साथ-ही-साथ उदारता भी अनेक कार्यों में दिखलाई।'

हिन्दुओं का विश्वास है कि उस राजा का पद साधारण सांसारिक मनुष्यों से कहीं उच्च था। जो बात उसके हृदय में उत्पन्न होती थी, वह साफ-साफ प्रकट हो जाती थी। रात्रि में जो घटनाएं उसके राज्य में होती थीं वह प्रातःकाल उसको स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाती थीं।

यद्यपि वह राजा था तथापि समस्त मनुष्यों के साथ प्रेम का व्यवहार करता था। उसके निवास-स्थान में मिट्टी के एक प्याले और बोरियों (चटाई) के सिवा और कुछ न था। उसने अपने काल में उज्जैन बसाया और धार में दुर्ग बनाकर उसको अपना निवास-स्थान बनाया। उज्जैन में महाकाल नामक देवालय उसी ने बनवाया और ब्राह्मणों व साधुओं के निमित्त वृत्तियां नियुक्त कीं ताकि वह लोग पूजा-पाठ करते रहें।

वह अपने समय का अधिक भाग लोगों का हाल जानने और ईश्वर की उपासना में व्यतीत करता था। इसके निमित्त भारतवासियों के हृदयों में बड़ा स्थान है और इसके सम्बन्ध में नाना प्रकार की कथाएं बतलाते हैं। वर्ष और महीनों की तारीख का श्रीगणेश इसी राजा के मृत्यु-दिन और महीने से होता है और इस पुस्तक के रचनाकाल तक हिजरी सन् का एक हजार पन्द्रहवां वर्ष है,

विक्रमीय संवत् के आरम्भ को एक हजार छः सौ त्रेसठ वर्ष बीत चुके हैं।

ईरान का राजा उर्दशीर इसका समकालीन था। कुछ लोगों का मत है कि इसका और ईरान के राजा शापूर का काल एक ही था। इस राजा के अन्तिम दिनों में शालिवाहन नाम के एक जमींदार ने इस पर आक्रमण किया। नर्मदा के तट पर दोनों ओर की सेनाओं का घोर युद्ध हुआ। अन्त में शालिवाहन विजयी हुआ और विक्रमादित्य मारा गया। इस राजा (विक्रमादित्य) के समय से सम्बन्ध रखने वाली बहुत-सी दन्त-कथाएं ऐसी हैं जो मानने योग्य नहीं। इस कारण उनको नहीं लिखा जा रहा है।

विक्रमादित्य के पश्चात् बहुत समय तक मालवा की दशा अति शोचनीय रही। कोई उदार और न्यायी राजा न हुआ। किन्तु जब राजा भोज के हाथ में यहां का राज्य आया तो यहां की दशा सुधरी।

अन्त में मैं यह लिख देना चाहता हूं कि मैंने जो कुछ लिखा है, केवल विषय की सूची मात्र है। मेरा विश्वास है कि यदि विशेष उद्योग किया जाय तो इस प्रतापी राजा के विषय में कुछ अन्य ग्रन्थों में भी कुछ और बातें अवश्य मिलेंगी।

सन् 1742 ई० का काव्य संग्रह[1]

इस्तम्बोल के प्रसिद्ध राजकीय पुस्तकालय 'मकतब-ए-सुलतानिया' जिसे वर्तमान में 'मकतब-ए-जमहूरिया' कहते हैं, वह तुर्की ही नहीं, पूर्वीय-समस्त देशों में सबसे बड़ा और विशाल है। पुस्तकालय के अरबी विभाग में 1742 ई० का लिखा हुआ काव्यसंग्रह देखने को मिला, तुर्की के प्रसिद्ध राजा सुलतान सलीम ने अत्यन्त यत्नपूर्वक किसी प्राचीन प्रति के आधार पर लिखवाया था। यह हरीर (एक प्रकार का रेशमी कपड़ा जो ऐसे कामों के लिए ही बनाया जाता था) पर लिखा है, और अत्यन्त सुन्दर बेल-बूटेदार काम से सजा हुआ है। यह संग्रह तीन भागों में है। प्रथम भाग में अरब के आदि कवियों का—अर्थात् इस्लाम से पहिले के कवियों का जीवन, और उनके काव्यों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। दूसरे भाग में मुहम्मद साहब के प्रारम्भिक-काल से लेकर बनी-उम्मय्या-कुल के अन्त तक के कवियों का वर्णन है। और तीसरे भाग में बनी अब्बास कुल के आरम्भ से प्रसिद्ध राजा खलीफा हारूं-रसीद के दरबारी कवियों अर्थात् लेखक ने अपने समय तक के कवियों का वर्णन कर दिया है। पुस्तक का नाम 'सेअरुल ओकूल' है। इसका संग्रहकर्ता अरबी-काव्य का कालिदास अबू-आमिर अब्दुल-

1. देखिए 'विक्रम' के 'दीपोत्सवी अंक' संवत् 20[illegible] में श्री ईशदत्त शास्त्री का लेख।—सं०।

असमई है, जो इस्लाम के प्रसिद्ध राजा खलीफा हारूंरशीद का दरबारी कवि था। इस संग्रह-पुस्तक का प्रथम संस्करण सन् 1864 ई० में बर्लिन से प्रकाशित हुआ था, और दूसरा सन् 1932 ई० में बेरुत (फिलिस्तीन) से प्रकाशित हुआ है। इसे अरबी काव्य का बहुत प्रामाणिक और पुरातन संग्रह माना जाता है।

इस पुस्तक की भूमिका में प्राचीन-अरब की सामाजिक अवस्था, मेल-जोल, खेल-तमाशों के सम्बन्ध में भी काफी प्रकाश डाला गया है। इसके अतिरिक्त मुख्य रूप से प्राचीन-कालीन अरबों के प्रधान तीर्थ मक्का का भी सुन्दर वर्णन किया है। यहां लगने वाले वार्षिक मेले, जिसको 'ओकोज़' कहा जाता था, जिसमें कि अरबों के धार्मिक, राजनीतिक, साहित्यिक, सामाजिक आदि हर विषयों पर विवाद किया जाता था और उसके प्रदत्त निर्णय को समस्त अरब शिरसा-वन्द्य मानते थे, उसका वर्णन भी विस्तृतरूपेण किया गया है। इस मेले में विशाल कवि-सम्मेलन हुआ करता था, जिसमें अरब के प्रमुख सभी कवि भाग लेते थे। ये कविताएं पुरस्कृत होती थीं। सर्व-प्रथम कवि की कविता को सोने के पतरे पर अंकित कर मक्का के प्रसिद्ध मंदिर के अन्दर लटकवा दिया जाता था। और अन्य श्रेणी की कविताएं ऊंट की झिल्ली या भेड़-बकरी के चमड़े पर लिख-कर मंदिर के बाह्य-भाग में टंगवा दी जाती थीं। इस प्रकार अरबी-साहित्य का अमूल्य साहित्य-धन हजारों वर्षों से मंदिर में एकत्रित होता चला आता था। पता नहीं यह प्रथा कब से प्रारम्भ हुई थी, परन्तु हजरत मुहम्मद साहब के जन्म से 23-24 सौ वर्ष पुरानी कविताएं उक्त मंदिर में प्रस्तुत थीं। किन्तु मक्का पर इस्लामी सेना के अधिकारावसर पर ये सब नष्ट-भ्रष्ट कर दी गई थीं। परन्तु जिस समय यह सैन्य मक्का पर आक्रमण कर रही थी—उसके साथ हजरत मुहम्मद के दरबार का कवि-हस्सान विनसाबिक भी था, जिसने कुछ रचनाएं अपने पास उस समय सुरक्षित कर ली थीं। इसकी तीसरी पीढ़ी के समय हारूंरशीद जैसे साहित्यिक खलीफा का काल था। लाभ की आशा से यह पतरे लेकर वह कवि-वंशज मदीने से बगदाद जाकर लेखक—अबू-आमिर अब्दुल्ल असमई से मिला। उसे प्रयत्नस्वरूप हजारों पाउण्ड इसका पारितोषिक दिया गया। इनमें पांच सोने के पत्र थे, और 16 चमड़े के। इन पांच पत्रों पर दो अरब के आदि कवि लबी बने और अखतब-बिनतुर्फा के काव्य अंकित थे।

इन पत्रों से प्रेरित होकर खलीफा ने लेखक अबू-आमिर को एक ऐसा ग्रन्थ लिखने की आज्ञा दी, जिसमें अरब के तमाम कवियों के जीवन, और काव्य-काल का वर्णन हो। इस प्रकार जो संग्रह प्रस्तुत किया गया था, उससे एक कविता पाठकों की जानकारी के लिए यहां हम उद्धृत करते हैं।

हजरत मुहम्मद से एक सौ पैंसठ वर्ष पूर्व जर्हम बिनतोई नामक एक कवि हो गया है। जो निरन्तर 'ओकाज' के कवि-सम्मेलन में तीन वर्ष तक सर्वप्रथम

आता रहा है। इसकी तीनों उक्त कविताएं सोने के पत्रों पर अंकित होकर मन्दिर में लटकाई गई थीं। इससे यह स्पष्ट है कि वह बहुत प्रतिभा-सम्पन्न था। उसकी कविता का उदाहरण यह है:—

इत्रश्शफाई सनतुल बिकरमतुन, फ़हलमिन
करीमुन यर्तफ़ीहा वयोवस्सरू।
बिहिल्लाहायस्मीमिन एला मोतक़ब्बेनरन,
बिहिल्लाहा यूही क़ैद मिन होवा यफ़ख़रू।
फ़ज़्ज़ल-आसारि नहनो ओसारिम बेजेहलीन,
युरीदुन बिआबिन कज़न बिनयख़्तरू।
यह सबदुन्या कनातेफ़ नाते फी बिजेहलीन,
अतदरी बिलला मसीरतुन फ़कफ़ तसबहू।
कऊन्नी एज़ा माज़करलहुदा वलहुदा,
अशमीमान, बुरुकन क़द् तोलुहो वतस्तरू।
बिहिल्लाहा यक़ीजी बैनना वले कुल्ले अमरेना,
फ़हेया जाऊना बिल अमरे बिकरमतुन॥

(सेअरुल—ओकूल, पृष्ठ 315)

अर्थात्—वे लोग धन्य हैं जो राजा विक्रम के राज्य काल में उत्पन्न हुए, जो बड़ा दानी, धर्मात्मा और प्रजापालक था। परन्तु ऐसे समय हमारा अरब ईश्वर को भूलकर भोग-विलास में लिप्त था। छल-कपट को ही लोगों ने सबसे बड़ा गुण मान रखा था। हमारे तमाम देश (अरब) में अविद्या ने अन्धकार फैला रखा था। जैसे बकरी का बच्चा भेड़िये के पंजे में फसकर छटपटाता है, छूट नहीं सकता, ऐसे ही हमारी जाति मूर्खता के पंजे में फंसी हुई थी। ससार के व्यवहार को अविद्या के कारण हम भूल चुके थे, सारे देश में अमावस्या की रात्रि की तरह अन्धकार फैला हुआ था, परन्तु अब जो विद्या का प्रातः कालीन सुखदाई प्रकाश दिखाई देता है, वह कैसे हुआ, यह उसी धर्मात्मा-राजा विक्रम की कृपा है। जिसने हम विदेशियों को भी अपनी दयादृष्टि से वंचित नहीं किया, और पवित्र धर्म का सन्देश देकर अपनी जाति के विद्वानों को यहां भेजा, जो हमारे देश में सूर्य की तरह चमकते थे। जिन महापुरुषों की कृपा से हमने भुलाए हुए ईश्वर और उसके पवित्र ज्ञान को जाना, और सत्पथ-गामी हुए, वे लोग राजा-विक्रम की आज्ञा से हमारे देश में विद्या और धर्म के प्रचार के लिए आए थे।

0

इतिहास-अनुश्रुति में विक्रम

□ डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार

शिलालेख एवं मुद्रा सम्बन्धी साक्ष्य से ईसा की चतुर्थ शताब्दी से पूर्व विक्रमादित्य नाम के किसी भारतीय सम्राट् का अस्तित्व प्रमाणित नहीं होता। वास्तव में उस शताब्दी से पूर्व 'आदित्य' शब्दान्त उपाधियों के प्रचलित होने का कोई प्रमाण प्राप्त नहीं है। पुराणों के भविष्यानुकीर्तन खण्ड में ऐतिहासिक वर्णन को चतुर्थ शताब्दी के प्रारम्भ तक ले आते हैं; उनमें विक्रमादित्य का उल्लेख प्राप्त न होना, इस सम्बन्ध में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यदि वह महान् सम्राट् वास्तव में उनके समय से पूर्व हुआ होता तो अपेक्षाकृत अपरकालीन पुराणकर्ता विक्रमादित्य जैसे देदीप्यमान व्यक्तित्व की अवगणना सरलता से न कर सकते। जो हो, 58 ई० पू० से प्रारम्भ होने वाला एक संवत् अवश्य है, जो विक्रम-संवत् कहलाता है और पीछे की अनुश्रुति उसे उज्जयिनी सम्राट् विक्रमादित्य द्वारा प्रवर्तित मानती है। परन्तु ईसवी संवत् की प्रारंभिक शताब्दियों में विक्रम-संवत् के वर्ष 'कृत' कहलाते थे और कुछ काल पश्चात् मालवगणतन्त्र से उनका निकट सम्बन्ध होने का उल्लेख है। आठवीं तथा नवीं शताब्दियों में ही इस संवत् का सम्बन्ध विक्रमादित्य के नाम के साथ स्थापित किया गया। एक सम्भावना यह भी है कि यह संवत् प्राचीन सिथोपार्थियन काल-गणना हो, जिसे राजपूताना और मालवा में मालव जाति अपने जन्म-स्थान पंजाब के झंग जिले के आसपास से ले गई हो। विक्रम-संवत् के प्रवर्त्तक विक्रमादित्य नामक सम्राट् तथा सातवाहन वंश के गौतमीपुत्र शातकर्णि को एक मानने का सिद्धान्त हास्यास्पद है; क्योंकि यह गौतमीपुत्र ईसवी दूसरी शताब्दी के पूर्वार्ध में राज्य करता था और किसी भी साधन से उसे ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी में नहीं रखा जा सकता। अनुश्रुति से यह संकेत मिलता है कि गोदावरी-तट पर स्थित प्रतिष्ठानपुर इस राजा की राजधानी थी, जिसके सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि इसके राजा विक्रमादित्य की स्वीकृत राजधानी उज्जयिनी तथा पाटलिपुत्र से सम्बद्ध होने की सूचना कहीं प्राप्त नहीं होती। गौतमीपुत्र ने कभी किसी संवत् का प्रवर्त्तन नहीं किया; अर्थात् उसके उत्तराधिकारियों द्वारा उसके राज्य-वर्षों की परम्परा का

विस्तार नहीं किया गया। इसके अतिरिक्त कहीं भी उसे विक्रमादित्य अभिहित नहीं किया गया और उसका विशेषण 'वरवारण-विक्रम-चारु-विक्रम' उपर्युक्त उपाधि से नितान्त असम्बद्ध है। 'हाल' की सतसई में हुए विक्रमादित्य के उल्लेख से कुछ भी सिद्ध नहीं होता, कारण कि इसकी सम्पूर्ण गाथाओं का रचनाकाल ईसवी सन् की पांचवीं शताब्दी से पूर्व स्वीकार नहीं किया जा सकता।

प्राचीनतम ऐतिहासिक विक्रमादित्य, मगध का चक्रवर्ती, गुप्त राजवंश में उत्पन्न, चन्द्रगुप्त द्वितीय (376-414 ई०) था। उनके पिता दिग्विजयी सम्राट् समुद्रगुप्त भी पराक्रमांक और 'श्री विक्रम' विरुद से विश्रुत थे। पूर्व में बंगाल से पश्चिम में काठियावाड़ तक विस्तृत उत्तरी भारत की समस्त भूमि पर चन्द्रगुप्त द्वितीय शासन करता था। इसी ने पश्चिमी भारत के शक राजाओं का उन्मूलन किया और इसी सम्राट् का उल्लेख उज्जयिनी पुरवराधीश्वर तथा पाटलिपुरवराधीश्वर इन दोनों रूपों में धारवाड़ जिले में गुतल के गुत्तओं (गुप्तों) के शिलालेखों पर अंकित अनुश्रुतियों में है। मालवा, काठियावाड़ तथा राजपूताना से शकों का उच्छेदन हो चुकने पर उज्जयिनी प्रत्यक्षतः गुप्तवंश के सम्राटों की अप्रधान राजधानी-सी हो गई। चन्द्रगुप्त द्वितीय विदेशियों का मूलोच्छेदक एवं आर्यावर्त के विस्तीर्ण साम्राज्य का शासक ही नहीं था, वरन् उसके सम्बन्ध में यह भी विश्रुत है कि उसने नागों के शक्तिशाली राजवंश के साथ तथा बरावर के वाकाटकों के साथ और संभवतः कन्नड़ के कदम्बों के साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित करके दक्षिण के पर्याप्त भाग पर अपने राजनीतिक प्रभाव का विस्तार किया था। वैष्णव धर्म के भागवतस्वरूप की एवं परमभागवत उपाधि की, जिसका प्रयुक्त होना ईसवी पांचवीं शताब्दी से प्रारम्भ हुआ, लोकप्रियता का मूल निस्सन्देह वही था। वह विद्या का महान् संरक्षक भी था। यह प्रसिद्ध है कि पाटलिपुत्र के शाबवीरसेन जैसे प्रतिभा-सम्पन्न कवि पश्चिम भारत की विजय-यात्राओं में उसके साथ गये थे।

भारतवर्ष के अत्यन्त विस्तीर्ण भूभाग पर आधिपत्य, विदेशियों का उन्मूलन, साहित्य का संरक्षण तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय के अन्य अनेक सम्भाव्य उत्कृष्ट गुणों ने लोक की कल्पना पर अधिकार किया और उसके नाम को इस छोर से उस छोर तक सम्पूर्ण भारतवर्ष में लोकप्रिय बना दिया। उसके नाम तथा कार्यों को केन्द्र बनाकर प्रत्यक्षतः उसके जीवनकाल में ही आख्यायिकाओं का प्रादुर्भाव होने लगा एवं उसकी मृत्यु के पश्चात् भी अधिक काल तक उनमें असंदिग्ध रूप से वृद्धि ही होती रही। इस प्रकार सम्भव तथा असम्भव कथाएं प्रचुर संख्या में उसके जीवन से सम्बद्ध कर दी गईं। संसार के सभी भागों में बहुधा ऐतिहासिक व्यक्तियों के प्रिय नामों से सम्बद्ध आख्यायिकाओं का प्रादुर्भाव हुआ है और भारतवर्ष का सम्राट् विक्रमादित्य भी भारतवासियों द्वारा प्रधानतः उसकी प्रिय

स्मृति के प्रति सदैव अनुभव किए गए हार्दिक सम्मान से उत्पन्न विस्तृत आख्यायिकाओं के प्रभा-मंडल से आलोकित है। साधारण लोकमत प्राचीन काल के सम्राट् विक्रमादित्य को सभी शासकोचित गुणों से युक्त मानता है और उसके चरित्र में वह किसी भी सुन्दर, महान् एवं उदार तत्त्व की स्थिति को स्वीकृत करता है। एक लोकप्रिय कपोलकल्पना द्वारा उसका नाम कृत अथवा मालवगण-संवत् नाम से विश्रुत प्राचीन सिथोपार्थियन गणना के साथ सम्बद्ध कर दिया जाने के परिमाणस्वरूप उसकी स्थिति ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी में कही जाती है। वह समस्त भारतवर्ष पर शासन करने वाले सम्राट् के रूप में माना गया है। कहा जाता है कि नवरत्न अथवा तत्कालीन भारतीय कला, साहित्य एवं विज्ञान के प्रतिनिधि नौ महान् साहित्यिक व्यक्तियों को सम्राट् विक्रमादित्य का संरक्षण प्राप्त था। यह भी विश्वास किया जाता है कि महाराज विक्रमादित्य दुष्टों को दण्ड देने तथा गुणीजनों को पुरस्कृत करने में कभी न चूकते थे। असंदिग्ध रूप से कुछ आख्यायिकाओं का आधार, भले ही वह आंशिक हो, ऐतिहासिक तथ्यों पर है, किन्तु यह भी निश्चित है कि उनमें से अनेक काल्पनिक तथा अनैतिहासिक हैं। अशोकावदान में लिपिबद्ध प्रचलित अनुश्रुतियां मौर्यवंशी अशोक के जीवन के सम्बन्ध में सदा प्रामाणिक नहीं मानी जातीं। गाहड़वाल जयचन्द्र तथा चन्देल परमार्दिदेव के साथ देहली, अजमेर तथा सांभर के राजा पृथ्वीराज तृतीय के सम्बन्धों के विषय में पृथ्वीराज राइसा तथा आल्हाखण्ड में उपन्यस्त प्रचलित अनुश्रुतियों में अधिकांश चौहान, गाहड़वाल तथा चन्देल राजवंशों के समकालीन अधिक विश्वस्त लेखों के प्रमाणों से असमर्थित होने के साथ-साथ निश्चित रूप से उनके प्रतिकूल भी हैं। अतः भारतीय आख्यायिकाओं के विक्रमादित्य से सम्बद्ध सभी अनुश्रुतियों पर, विशेषतः यह देखते हुए कि उनमें से कुछ की पुष्टि विश्वसनीय प्रमाणों से नहीं होती तथा शेष सर्वविदित ऐतिहासिक सत्यों के स्पष्टतः विरुद्ध हैं, असंदिग्ध रूप से विश्वास करना अनुचित है। उदाहरणार्थ, वराहमिहिर विक्रमादित्य की राजसभा के नवरत्नों में से एक उज्ज्वल रत्न था; ज्योतिर्विदाभरण की यह अनुश्रुति निस्सन्देह अवास्तविक है, क्योंकि इसी सुविश्रुत ज्योतिर्विद् के स्वयं के लेखों और उसकी टीका से इसकी मृत्यु 587 ई० में होना, 476 ई० में जन्म और आर्यभट्ट का इसका पूर्ववर्ती होना असंदिग्ध रूप से प्रमाणित है। अतः न तो वह विक्रमादित्य के अनुश्रुति-सिद्ध काल ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी में हुआ और न प्रथम ऐतिहासिक विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल ईसवी चतुर्थ-पंचम शताब्दी में हुआ।

इतिहास का निर्णय कुछ भी क्यों न हो, अनुश्रुति के विक्रमादित्य—जिसकी स्मृति में हम आज उत्सव मना रहे हैं—किसी प्रकार भी अस्तित्वहीन व्यक्ति-विषयक निरर्थक कल्पना नहीं हो सकती। वह भारतीय राजत्व का आदर्श है

तथा हिन्दू-इतिहास के स्वर्ण-युग का महान् प्रतिनिधि है। वह भारतीय देशभक्तों के कल्पना-जगत् में आज भी यशःशरीर से सर्वोपरि वर्तमान है। उसकी उपाधि अथवा भूमिका ग्रहण करने वाले उसके पश्चात्वर्ती राजाओं तथा साम्राज्य-संस्थापकों द्वारा एवं विभिन्न युगों में उसका उल्लेख करने वाले अनेक लेखकों द्वारा भी उसकी स्मृति को अमरत्व प्रदान कर दिया गया है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के उत्तराधिकारी गुप्त विक्रमादित्यों, बादामी और कल्याणी के चालुक्यवंशी विक्रमादित्यों, वाण राज-परिवार के विक्रमादित्यों, कलचुरि-वंश का गांगेयदेव विक्रमादित्य तथा गुहिलोत विक्रमाजीत (विक्रमादित्य) इस यशःशालिनी उपाधि को धारण करने वाले भारतीय राजाओं में से कुछ हैं। राष्ट्रकूट गोविन्द चतुर्थ आदि कुछ मध्यकालीन राजा शौर्य अथवा अन्य राजोचित गुणों में विक्रम से उच्चतर होने की घोषणा करते थे, तथा परमार सिन्धुराज प्रभृति अन्य राजा स्वयं को नवसाहसांक (नवीन-विक्रमादित्य) कहते थे। सिन्धुराज के पुत्र, सरस्वती के आलम्ब भोज और विक्रमादित्य को एक मानने वाली अनुश्रुति भी निरर्थक नहीं है। मध्यकाल के पिछले भाग में दिल्ली के राजसिंहासन पर आधिपत्य जमाने वाले हेमू जैसे व्यक्ति द्वारा एवं बंगाल के अन्तर्गत जैसोर के प्रतापादित्य के पिता द्वारा विक्रमादित्य उपाधि धारण किया जाना सुविश्रुत है। मुगल सम्राट् अकबर का नौरतनों (नवरत्नों) को संरक्षण देकर प्राचीन भारत के सम्राट् विक्रमादित्य से प्रतिस्पर्धा करना भी प्रसिद्ध है। विक्रमादित्य का उल्लेख करने वाले बहुसंख्यक लेखकों में से परमार्थ, सुबन्धु, ह्वेनत्संग, कथा-सरित्सागर तथा द्वात्रिंशत् पुत्तलिका के रचयिता, अलबेरूनी, वामन एवं राजशेखर आदि अलंकार-शास्त्र के आचार्य तथा काव्यशास्त्रकार, मेरुतुंग आदि अनेक जैन ग्रंथकार, अमोघवर्ष के संजनदान पत्र तथा गोविन्द चतुर्थ के कैम्बे एवं सांगलीदान पत्र सदृश लेखों के लेखकों आदि के नामों का हम उल्लेख कर सकते हैं। इस प्रकार इस महान् सम्राट् की स्मृति क्रमानुगत उत्तरकालों में भारत के समस्त सत्पुत्रों के कृतज्ञतापूर्ण अनुस्मरण से संवर्धित होती रही।

विक्रमादित्य के प्रति प्रेम और आदर उन संयोजक तत्त्वों में से हैं जो सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक विभिन्नताओं के कारण दुर्भाग्यवश विभाजित हुए भारतवर्ष के विभिन्न भाषाभाषी दलों को एक सूत्र में आबद्ध करेंगे। अब विशेषतः वर्तमान लौह-युग के असंख्य उत्पीड़नों से उत्पन्न हमारी वेदना में अपने पुण्य नाम द्वारा शान्ति प्रदान करनेवाले महान् विक्रम की स्वर्ण-पताका के नीचे पारस्परिक सहयोग की भावना के साथ हमें आ जाना चाहिए।

अन्त में हम हृदय से वासवदत्ता के रचयिता सुबन्धु की शोकवाणी को अनुनादित करते हैं—

सा रसवत्ता विहता नवका विलसंति चरित नो कंकः ।
सरसीव कीर्तिशेषं गतवति भुवि विक्रमादित्ये ॥

दीन दुखियों के सुहृद् भारतीय संस्कृति एवं धर्म के संरक्षक, विद्या के अवलम्ब, विदेशियों के उन्मूलक, महान् विक्रमादित्य के लिए आज पुनः हमारा सामूहिक क्रन्दन स्फुटित होता है—

'विक्रम ! भारत तेरे बिना दैन्य का अनुभव करता है, कहीं तू आज हमारे बीच होता !'

अनुश्रुतियों में विक्रम

□ श्री हरिहरनिवास द्विवेदी

भारतीय कल्पना को अत्यधिक स्पर्श करने का सौभाग्य जितना विक्रमादित्य को प्राप्त है, उतना केवल कतिपय महापुरुषों को ही प्राप्त हो सका है। सुभाषितों में, धार्मिक ग्रन्थों में, कथा-साहित्य में एवं लोक-कथाओं में विक्रम-चरित्र ओतप्रोत है। भावुक एवं वीरपूजक भारतीय हृदयों में शकों के अत्याचार एवं अनाचार से त्राण दिलानेवाले इस महान् वीर की मूर्ति सदा के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रूप से स्थापित हो गई। यही कारण है कि विक्रमीय प्रथम शती से लेकर आज तक विक्रमादित्य विषयक साहित्य की वृद्धि ही होती गई है। संस्कृत से लेकर प्राकृत, अपभ्रंश और वर्तमान प्रान्तीय भाषाओं में विक्रम चरित्र सम्बन्धी सैकड़ों ही ग्रन्थ भरे पड़े हैं।

इस लेख में हम अत्यन्त संक्षेप में विक्रमीय साहित्य की विशाल राशि में से केवल कुछ को ही प्रस्तुत करना चाहते हैं। इनके देखने से यह तो ज्ञात होगा ही कि बहुत प्राचीन समय से ही लोक-मस्तिष्क में विक्रमादित्य की क्या भावना रही है, ऐतिहासिक दृष्टि से भी इस साहित्य का मूल्य बहुत अधिक है। इनका प्रत्येक विवरण भले ही इतिहास की कसौटी पर खरा न उतरे परन्तु इनका समन्वित रूप, साहित्य की विशिष्ट वर्णन-शैली को हटाकर ऐतिहासिक अन्वेषक के लिए भी महत्त्वपूर्ण है। उसके द्वारा ज्ञात ऐतिहासिक सामग्री के ढांचे में रूप-रंग भरा जा सकता है। अतः आगे क्रमशः एक-एक विक्रम विषयक ग्रन्थ का ऐतिहासिक मूल्यांकन कर उसमें निहित विक्रम विषयक उल्लेख देने का प्रयत्न करेंगे। इस प्रकार तुलना एवं परख से विक्रमादित्य की अनुश्रुति-सम्मत मूर्ति की धुंधली रूप-रेखा प्रस्तुत हो सकेगी। इस आशय के लिए यहां केवल गाथासप्तशती, कालकाचार्य-कथा, कथासरित्सागर, वेतालपच्चीसी, सिंहासन-बत्तीसी, राजतरंगिणी, प्रबन्ध चिन्तामणि, ज्योतिर्विदाभरण तथा भविष्य-पुराण को ही लिया गया है; क्योंकि विक्रम-विषयक सम्पूर्ण साहित्य का इस प्रकार विवेचन करना तो एक महान् ग्रंथ का विषय है तथा बहुत ही कष्ट-साध्य कार्य है—यद्यपि वह किए जाने

योग्य अवश्य है। वैसे तो इन ग्रन्थों के विषय में कालक्रम के अनुसार लिखना उचित होगा परन्तु उससे हमारे कथा-प्रवाह में भंग होगा। अतः आगे हम-उनको उसी क्रम से लेंगे, जिससे कथा-प्रवाह बना रहे।

कालकाचार्य-कथा—कालकाचार्य नामक चार जैनाचार्य हो गए हैं। पहले श्यामार्य नामक कालकाचार्य, जिनका समय वीर-निर्वाण-संवत् 335 के लगभग है, दूसरे गर्दभिल्ल राजा से साध्वी सरस्वती को छुड़ाने वाले, जिनका अस्तित्वकाल वीर-निर्वाण-संवत् 453 के आसपास है तथा चौथे कालक का समय वीर-संवत् 113 है।[1] इनमें से दूसरे आचार्य कालक का सम्बन्ध विक्रमी-घटना से है।

कालकाचार्य-कथा जो आज प्राप्त होती है उसमें इन चारों की कथाएं सम्मिलित कर दी गई हैं, इनमें से हमारे लिए तो गर्दभिल्ल के राज्य का उन्मूलन करनेवाले कालकाचार्य की कथा ही उपयोगी है। इस कथा में गर्दभिल्ल की शकों द्वारा पराजय एवं गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य द्वारा शकों की पराजय का उल्लेख है। मेरुतुंगाचार्य रचित पट्टावली में पिछली घटना का समय वीर-निर्वाण-संवत् 470 (अर्थात् 50 ई० पू० अर्थात् विक्रम-संवत् की प्रारम्भ तिथि के 7 वर्ष पूर्व) बतलाया है। प्रबन्ध-कोश में भी संवत् प्रवर्त्तन की यही तिथि बतलाई है। धनेश्वर सूरि रचित शत्रुंजय माहात्म्य में विक्रमादित्य के प्रादुर्भाव का समय वीर-संवत् 466 बतलाया है। इस प्रकार सम्पूर्ण जैन अनुश्रुति इस तिथि तथा घटना का समर्थन करती है। इधर पुराणों में भी गर्दभिन् वंश का राज्य-काल यही ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी बतलाया गया है।

सप्तगर्दभिला भूयो भोक्ष्यन्तीमां वसुन्धराम्।[2]
शतानि त्रीण अशीतिञ्च शका ह्यष्टा दशैव तु ॥—(मत्स्यपुराण)

इस कथा में प्रधान घटना शकों के मालव आक्रमण की है। प्रश्न यह है कि क्या कोई शक-आक्रमण प्रथम शती ईसवी में मालव पर हुआ था ? इसका उत्तर 'खरोष्ट्री इन्सक्रिपशन्स' की भूमिका में स्तीन कोनो ने दिया है। इसमें इस विद्वान ने भारतवर्ष के बाहर तथा भारत में प्राप्त सामग्री के आधार पर शकों का इतिहास प्रस्तुत किया है। वह लिखता है, 'भारतवर्ष के प्रथम शक-साम्राज्य के इतिहास का पुनर्निर्माण इस प्रकार किया जा सकता है: ई० पू० 88 में मिथ्रा-डेटस द्वितीय की मृत्यु के थोड़े समय पश्चात् ही शीस्तान के शकों ने अपने आपको पर्थिया से स्वतंत्र कर लिया और उस विजययात्रा का प्रारम्भ कर दिया, जिसने उन्हें सिन्धु-नद के देश तक पहुंचा दिया।...बाद को ई० पू० 60 के

---

1. द्विवेदी अभिनन्दन-ग्रंथ, पृ० 94-96।
2. Pagiter, The Purana Text of the Dynasties of the Kali Age, pp. 45, 46, 72

लगभग शकों ने अपना साम्राज्य उस प्रदेश तक बढ़ा लिया था जिसे कालकाचार्य-कथानक में हिन्दुक देश कहा गया है। (सिन्धु-नद का निचला प्रदेश) और उसके पश्चात् वे काठियावाड़ और मालवे की ओर बढ़े, जहां उन्होंने सम्भवतः अपना राष्ट्रीय-संवत्सर चलाया। यहां सन् 57-56 ई० पू० में विक्रमादित्य ने उनका उन्मूलन किया और अपनी इस विजय के उपलक्ष में अपने संवत्सर का प्रवर्तन किया, जो हमें उसके प्रायः 70 वर्ष पश्चात् मथुरा में प्रयुक्त मिलता है।[1]

कालकाचार्य-कथा की ऐतिहासिकता का यह विद्वान् बड़े उत्साह एवं दृढ़ता के साथ समर्थन करता है। वह लिखता है—'मुझे तो इसका थोड़ा-सा भी कारण नहीं दिखता कि अन्य लोगों के समान मैं इस कथा को असत्य मान लूं।[2]' स्तीन कोनो ही नहीं रेप्सन के कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया भाग 1, पृष्ठ 532 पर इस कथा की घटनाओं के विश्वसनीय होने के विषय में लिखा है। श्री नारमन ब्राउन भी अपने कालकाचार्य-कथानक की भूमिका में इसकी घटनाओं की ऐतिहासिकता को स्वीकार करते हैं।

कालकाचार्य-कथा के वर्तमान पाठों के विषय में श्री नारमन ब्राउन ने लिखा है कि सभी ज्ञात पाठों को एक ही मूल स्रोत से प्रवाहित मान लेना असम्भव है। यह स्रोत न तो इन पाठों में से कोई एक है और न कोई अप्राप्त पाठ। सम्भव है कि कालक नाम के साथ बहुत समय तक बहुत-सी जनश्रुतियां सम्बद्ध रही हों जो श्वेताम्बर सम्प्रदाय में प्रचलित थीं। यह जब मौखिक रूप में थीं, तब जैन साधु इसे विस्तृत अथवा संक्षिप्त रूप में अपने शब्दों में सुनते रहे। और जब यह कथा लिपिबद्ध की गई तो वह इसी मौखिक स्रोत से लिखी गई।[3] आगे इस कालक-कथा के केवल सम्बद्ध भाग का संक्षिप्त रूप दिया जाता है।

इस संसार के जम्बू द्वीप के भारत देश में धारावास नामक एक नगर था। उसमें वज्रसिंह नामक प्रतापी राजा रहता था। सुरसुन्दरी नामक उसकी रानी थी। इस रानी से कालक नामक उसके एक पुत्र हुआ। इस कालक की एक बार गुणाकर नामक (जैन) आचार्य से भेंट हुई। उनके उपदेश से यह बहुत अधिक प्रभावित हुआ और उनका शिष्य हो गया। कालक को विद्वान् एवं साधना में सम्पन्न देख गुणाकर ने उसे सूरि पद दिया।

कालकाचार्य अपने शिष्यों सहित उज्जयिनी नगरी में आए और वहां रहने लगे। उज्जयिनी नगरी में गर्दभिल्ल नामक राजा राज्य करता था। उसने एक

---

1. स्तीनकोनो, खरोष्ट्री इंस्क्रिप्शंस, पृ० 36।
2. वही, पृ० 27।
3. The Story of Kalaka; Norman Brown; p. 3.

दिन अत्यन्त रूपवती कालक की छोटी बहिन साध्वी सरस्वती को देखा और उसके रूप पर मुग्ध होकर उसे अवरुद्ध करके अपने अन्तःपुर में डाल दिया। कालक सूरि ने राजा को बहुत समझाया परन्तु कामान्ध राजा ने एक न मानी। सूरि ने जैन-संघ द्वारा भी राजा को समझवाया परन्तु राजा ने जैन संघ की बात भी न मानी। क्रुद्ध होकर कालक ने प्रतिज्ञा की कि यदि गर्दभिल्ल का उन्मूलन न करूं तो प्रवंचक, संयमोपघातक और उनके उपेक्षकों की गति को प्राप्त होऊं।

सूरि ने विचार किया कि गर्दभिल्ल का बल उसकी 'गर्दभी' विद्या है। अतः उसका उन्मूलन युक्ति से ही करना होगा। उन्होंने उन्मत्त का वेश बना लिया और प्रलाप करने लगे—'यदि गर्दभिल्ल राजा है तो क्या ? यह अन्तःपुर रम्य है तो क्या ? यदि देश मनोहर है तो क्या ? यदि लोग अच्छे वस्त्र पहने हैं तो क्या ? यदि मैं भिक्षा मांगता हूं तो क्या ? यदि मैं शून्य देवल में सोता हूं तो क्या ?' इस प्रकार इनका हाल देखकर पुर के लोग कहने लगे 'हाय, राजा ने अच्छा नहीं किया।' राजा की यह निन्दा सुनकर मंत्रियों ने भी उसे साध्वी को छोड़ देने की सलाह दी, परन्तु राजा ने एक न मानी।

सूरि ने वह नगर छोड़ दिया और वह चलते-चलते शककुल नामक (सिन्धुनद के) कूल पर पहुंचे। वहां के सामन्त साहि कहलाते थे और उनका नरेन्द्र 'साहानुसाहि' कहलाता था। वहां एक 'साहि' के समीप सूरि रहने लगे, जिसे उन्होंने अपने मंत्र-तंत्र से प्रसन्न कर लिया था।

जब सूरि साहि के साथ आनन्द से रह रहे थे, उसी समय एक दूत आया जिसने साहि को साहानुसाहि की भेजी हुई एक कटारी दी और उसको यह सन्देश दिया कि उससे साहि अपना गला काट ले। साहि को भयभीत देखकर कालक ने पूछा कि साहानुसाहि केवल उसी से अप्रसन्न हैं अथवा और किसी से भी। ज्ञात यह हुआ कि इसी प्रकार 95 अन्य साहियों को आदेश दिया गया है। कालक की सलाह से यह 96 साहि इकट्ठे हुए और उन्होंने 'हिन्दुक देश' को प्रयाण किया।

वे समुद्र मार्ग से सुराष्ट्र (सूरत या सौराष्ट्र) आए। उस देश को 96 भागों में बांटकर वे सब वहां राज्य करने लगे।

वर्षाऋतु बीतने पर कालकसूरि ने गर्दभिल्ल से बदला लेने के विचार से साहियों को उत्तेजित किया और कहा कि इस प्रकार निरुद्यम क्यों बैठे हो; उज्जयिनी नगरी को हस्तगत करो क्योंकि वह 'वैभवशालिनी मालव भूमि की कुञ्जी है।'

उन्होंने कहा कि हम ऐसा करने को तैयार हैं परन्तु हमारे पास धन नहीं है। कालक सूरि ने ईंटों के एक भट्ठे को सोने का बना दिया। उसे लेकर

साहियों ने उज्जयिनी पर आक्रमण किया। लाट देश के राजा ने भी उनका साथ दिया। दोनों ओर की सेनाओं में भयंकर युद्ध हुआ। गर्दभिल्ल की सेना के पैर उखड़ गए। गर्दभिल्ल ने नगर के भीतर शरण ली। नगर घेर लिया गया।

गर्दभिल्ल ने गर्दभी विद्या सिद्ध की। गर्दभिल्ल उसे प्रत्यक्ष करने लगा। प्रत्यक्ष होने पर वह बड़ा भयंकर शब्द करती जिसे सुनकर शत्रु-सेना का कोई भी मनुष्य अथवा पशु भय-विह्वल होकर रुधिर वमन करता हुआ अचेत पृथ्वी पर गिर पड़ता। कालक सूरि यह रहस्य जानते थे। उन्होंने सब सेना को पीछे हटा दिया और अपने साथ केवल 108 तीरन्दाज रख लिये। उन्हें सूरि ने समझा दिया कि जैसे ही गर्दभी शब्द करने को मुंह खोले, वे तीर चलाकर उसका मुहं भर दें। इस प्रकार गर्दभी विद्या निष्फल हुई। गर्दभिल्ल हारकर पकड़ा गया और सूरि के सामने लाया गया। अपमानित गर्दभिल्ल निर्वासित कर दिया गया।[1]

जिस साहि के साथ कालक सूरि रहे थे, वह सब साहियों का मुखिया बना और वे उज्जयिनी में रहने लगे। वे शककुल से आए थे, अत: शक कहलाते थे

---

1. अभी अनेक विद्वानों ने एक नवीन चर्चा प्रारम्भ की है। मालवे में सोनकच्छ के पास गन्धावल नामक स्थान है। वहां एक गन्धर्वसेन का मन्दिर खोज निकाला गया है। गन्धावल के विषय में यह भी लिखा है कि वहां जैनमतावलम्बियों का प्रभुत्व है। ऐसे स्थान पर जैन-धर्म विरोधी गर्दभिल्ल का मन्दिर क्योंकर हो सकता है, यह सोचने की बात है। इसके विषय में एक विद्वान् ने यह अनुमान किया है कि गर्दभिल्ल का अपमान करने के लिए ही उसकी यह गर्दभमुखी प्रतिमा बनाई गई है। परन्तु अपमान करने के लिए मन्दिर बनाने की अभिनव कल्पना से हम सहमत नहीं हो सकते। फिर यह प्रतिमा अत्यन्त अर्वाचीन भी है। इसके लिए उक्त विद्वान् (श्री कवचाले) ने यह लिखा है कि यह किसी प्राचीन प्रतिमा की प्रतिकृति है। बात यह ज्ञात होती है कि यह वराह-प्रतिमा है। मध्यकाल की वराहावतार की मूर्तियां अनेक ग्रामों में पायी जाती हैं। वराह-पूजन की प्रथा कम होनें पर वराह मूर्तियों के नाम भी विभिन्न हो गए। एक ग्राम में हमने लोगों को उसे दाने की मूर्ति भी कहते सुना। ज्ञात यह होता है कि गन्धावल के जैनी उस वैष्णव सम्प्रदाय के मन्दिर को गन्धर्वसेन का मन्दिर कह उठे और वराह के मुख को गर्दभ के मुख की कल्पना कर उठे। यह भी कोई आश्चर्य नहीं कि यह फूहड़ रीति से गढ़ी हुई मूर्ति वराह की शास्त्रोक्त मूर्तियों से भिन्न हो।

और इस प्रकार 'शक-वंश' चला।

कुछ समय बाद विक्रमादित्य हुआ, जिसने शक-वंश का नाश किया और मालवे का राजा बना। वह पृथ्वी पर एक ही वीर था, जिसने अपने विक्रम से अनेक नरेन्द्रों को दबाया और अपने कार्यों से सुन्दर कीर्ति का संचय किया, जिसने अपने साहस से कुबेर की आराधना की और उनसे वरदान प्राप्त कर शत्रु तथा मित्र सभी को अगणित दान दिए, जिसने अपार धनराशि देकर सबको ऋण-मुक्त करके अपने संवत्सर का प्रवर्त्तन किया।[1]

कुछ समय पश्चात् एक शक राजा हुआ, जिसने विक्रमादित्य के वंशजों का भी उन्मूलन किया और विक्रम-संवत् के 135 वर्ष पश्चात् उसने अपना शक-संवत् चलाया।

इस कथा के पढ़ने पर तथा ज्ञात ऐतिहासिक तथ्यों से इसे मिलाने पर यह स्पष्ट होता है कि इसमें बहुत कुछ उस समय का इतिहास सच्चे रूप में ही सन्निहित है। यह जैन सम्प्रदाय की धार्मिक कथा है, अतः कालकाचार्य के व्यक्तित्व में अलौकिकता का जुड़ जाना तो सम्भव है परन्तु उसमें इतिहास की घटनाओं को बिगाड़कर लिखने की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। दूसरे, जैन सम्प्रदाय में धार्मिक साहित्य को अपरिवर्तित रूप में सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति बहुत अधिक है। अतः भले ही यह कथा प्रारम्भ में मौखिक रूप में प्रचलित थी, फिर भी उसमें अधिक परिवर्तन की प्रवृत्ति न रही होगी। यद्यपि स्मृति-दोष तथा संक्षेप एवं विस्तार की इच्छा ने अच्छा प्रभाव नहीं डाला होगा।

कथासरित्सागर—सोमदेवभट्ट-कृत कथासरित्सागर यद्यपि विक्रमी बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक भाग में लिखी गई है, परन्तु अनेक कारणों से उसका ऐतिहासिक महत्त्व बहुत अधिक है। यह कथा गुणाढ्य-रचित पैशाची प्राकृत में लिखी गई बृहत्कथा को आधार मानकर रची गई है। स्वयं सोमदेव ने लिखा है 'बृहत्कथायाः सारस्यं संग्रहं रचयाम्यहम्।'

बृहत्कथा का लेखक गुणाढ्य सातवाहन हाल का समकालीन था। अतः कथासरित्सागर विक्रमादित्य के प्रायः एक शताब्दी पश्चात् ही लिखे गए ग्रन्थ के आधार पर होने के कारण उसका (विक्रमादित्य का) उल्लेख महत्त्वपूर्ण है।

कथासरित्सागर में विक्रमादित्य का नाम चार स्थान पर आया है।

पहले तो छठे लम्बक की प्रथम तरंग में उज्जैन के राजा विक्रमसिंह का

---

1. डॉ० अनन्त सदाशिव अल्तेकर ने कालक-कथा के विक्रमादित्य सम्बन्धी श्लोकों को प्रक्षिप्त अनुमानित किया है। परन्तु इस अनुश्रुति का प्रतिपादन अन्य सभी जैन ग्रन्थों द्वारा होता है, अतः उसे अकारण ही प्रक्षिप्त मानना उचित नहीं है।

उल्लेख है। इसमें केवल विक्रमसिंह की बुद्धि एवं उदारता सम्बन्धी कथा है।— राजा शिकार खेलने निकलता है। उसने मार्ग के एक मन्दिर में दो आदमियों को बात करते पाया। लौटने पर फिर वे वहीं मिले। उसे सन्देह हुआ। बुलाकर उसने उनका हाल पूछा। उनके सत्य कहने पर उसने उन्हें आश्रय दिया।

उसके पश्चात् लम्बक 7 की तरंग 4 में पाटलिपुत्र के विक्रमादित्य का उल्लेख है। 'विक्रमादित्य इत्यासीद्राजा पाटलिपुत्रके।' यह कथा भी उज्जयिनी-पति विक्रमादित्य से सम्बन्धित न होकर पाटलिपुत्र-पुरवराधीश से सम्बन्धित है। यह विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि इससे ज्ञात होता है कि सोमदेव के सामने उज्जयिनीनाथ विक्रमादित्य के अतिरिक्त भी एक विक्रमादित्य थे। यह पाटलिपुत्र के राजा विक्रमादित्य निश्चय ही 57 ई० पू० के संवत्-प्रवर्तक विक्रमादित्य से भिन्न थे।

आगे बारहवें लम्बक में उज्जैन के विक्रम-केशरी का उल्लेख है। उसमें प्रतिष्ठान देश के राजा विक्रमसेन के पुत्र त्रिविक्रम के साथ विक्रम कथा में प्रसिद्ध वाचाल वेताल तथा उनके 'अपराजिता' नामक खड्ग को सम्बद्ध कर दिया है। इस बारहवें लम्बक में प्रख्यात 'वेताल पंचविंशतिका' सम्मिलित है। यह स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में एवं विभिन्न पाठों में मिली है। उसका वर्णन आगे किया गया है।

वास्तव में जिसे विक्रमादित्य का विस्तृत उल्लेख कहा जा सकता है वह तो अठारहवें लम्बक में है। (यही कथा क्षेमेन्द्रकृत बृहत्कथा-मंजरी के दसवें लम्बक में है) इस लम्बक में पांच तरंग हैं। इनमें प्रधान पहली तरंग है, जिसमें विक्रमादित्य का जन्म, गुण, शील आदि का वर्णन किया गया है। उसका संक्षिप्त रूप नीचे दिया जाता है—

अवन्ति देश में विश्वकर्मा द्वारा बनाई हुई अत्यन्त प्राचीन नगरी उज्जयिनी है जो पुरारिं शंकर का निवास-स्थान है।

वहां पर महेन्द्रादित्य[1] नामक राजा राज्य करता था जो अत्यन्त बली, शूर तथा सुन्दर था। उसकी सौम्यदर्शना नामक अत्यन्त रूपवती रानी थी और

---

1. यदि यह 'महेन्द्रादित्य' गुप्तवंशीय कुमारगुप्त को मानें तो यह कथा 'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य' से सम्बन्धित मानी जायगी। कुमारगुप्त के सिक्कों पर 'परम भागवत महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्त महेन्द्रादित्यः' लिखा मिलता है। अतः स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के पिता का विरुद 'महेन्द्रादित्य' था, यह माना जा सकता है। परन्तु इस कथा का विक्रमादित्य पाटलिपुरवराधीश से भिन्न है, अतः यह नाम-साम्य केवल आकस्मिक ज्ञात होता है।

सुमति नामक मंत्री था। उसके प्रतीहार का नाम वज्रायुध था। परन्तु उसके कोई सन्तान नहीं थी। पुत्र-प्राप्ति के लिए राजा अनेक व्रत, तप आदि कर रहा था।

उसी समय एक दिन जब शिवजी कैलाशपर्वत पर पार्वती सहित विश्राम कर रहे थे, उनके पास इन्द्र पहुंचे और निवेदन किया कि महीतल पर असुर म्लेच्छों के रूप में अवतरित हो गए हैं। वे यज्ञादि क्रियाओं में विघ्न डाल रहे हैं, मुनि-कन्याओं का अपहरण कर लेते हैं और अनेक पापाचार करते हैं। षट्वकार आदि क्रिया न होने से देवों को हवि प्राप्त नहीं होता। इनके नाश का कोई उपाय बतलाइए।[1] भगवान् शंकर ने कहा कि आप अपने स्थान को जायं, मैं इसका उपाय कर दूंगा। उनके चले जाने पर भगवान् शंकर ने माल्यवान् गण को बुलाकर कहा कि उज्जयिनी महानगरी के राजा महेन्द्रादित्य के घर में तुम जन्म लो और देवताओं का कार्य करो। वहां यक्ष-राक्षस वेताल को अपने वश में करके म्लेच्छों का उन्मूलन करो और मानवों के भोग भोगकर पुनः लौट आओ। माल्यवान्[2] ने उज्जयिनी में महेन्द्रादित्य की रानी के गर्भ में प्रवेश किया।

भगवान् शंकर ने महेन्द्रादित्य को स्वप्न में दर्शन देकर कहा कि 'मैं तुम पर प्रसन्न हूं, तुम्हारे ऐसा पुत्र होगा जो द्वीपों सहित इस पृथ्वी पर विक्रमण करेगा, यक्ष-राक्षस-पिशाचादि को वश में करेगा और म्लेच्छ संघ को विनष्ट करेगा। इस कारण उसका नाम 'विक्रमादित्य' होगा और रिपुओं से वैर रखने के कारण वह 'विषमशील' भी कहलाएगा। प्रातःकाल जब राजा मंत्रियों को यह स्वप्न सुना रहे थे, उसी समय अन्तःपुर की एक चेटी ने एक फल लाकर दिया और कहा कि रानी को स्वप्न में यह फल मिला है। राजा को विश्वास हुआ कि उसे पुत्र प्राप्त होगा।

रानी का गर्भ अत्यन्त तेजस्वी था और समय पाकर महेन्द्रादित्य के बालार्क के समान पुत्र उत्पन्न हुआ और उसका नाम विक्रमादित्य तथा विषमशील रखा गया। इसके साथ ही मंत्री सुमति और वज्रायुध के घर पुत्र उत्पन्न हुए और उनके नाम क्रमशः महामति तथा भद्रायुध रखे गए। बाल विक्रमादित्य इनके साथ क्रीड़ा करने लगे और उनका तेज, बल और वीर्य दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगा। समय पर उनका यज्ञोपवीत एवं विवाह हुआ। अपने पुत्र को युवा एवं प्राज्य-विक्रम जानकर राजा ने उसका विधिवत् अभिषेक किया और स्वयं काशी में रहकर शिव की आराधना करने चला गया।

---

1. म्लेच्छों के इस अत्याचार के वर्णन की तुलना शकों के उस अत्याचार के वर्णन से की जा सकती है जो गर्ग-संहिता के एक अध्याय 'युग-पुराण' में दिया गया है।
2. यहां व्यंजना से मालवजाति और गणतंत्र का अर्थ लिया जा सकता है।

फिर अत्यन्त प्रभावशाली शब्दों में सोमदेव ने विक्रमादित्य के शौर्य, पराक्रम एवं प्रजापरायणता का वर्णन किया है—

सोऽपि तद्विक्रमादित्यो राज्यमासाद्य पैतृकम्।
नभो भास्वानिवारेभे राजा प्रतपितुं क्रमात् ॥61॥
दृष्ट्वैव तेन कोदण्डे नमत्यारोपितं गुणम्।
तच्छिक्षयेवोच्छिरसोऽप्यानमत् सर्वतो नृपाः ॥62॥
दिव्यानुभावो वेतालराक्षसप्रभृतीनपि।
साधयित्वानुशास्ति स्म सम्यगुन्मार्गवर्तिनः ॥63॥
प्रसाधयन्त्यः ककुभ सेनास्तस्य महीतले।
निश्वेसविक्रमादित्यादित्यस्येवं रश्मयः ॥64॥
महावीरोप्यऽभूद्राजा स भीरुः परलोकतः।
शूरोऽपि चाचण्डकरः कुभर्तार्प्यंगनाप्रियः ॥65॥
स पिता पितृहीनानामबन्धूनां स बान्धवः।
अनाथानां च नाथः सः प्रजानां कः स नाभवत् ॥66॥

(वह विक्रमादित्य भी पैतृक राज्य को पाकर पृथ्वी पर अपने प्रताप को इस प्रकार फैलाने लगा जैसे आकाश में सूर्य अपने प्रताप को फैलाता है। धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाते हुए उस राजा को देखकर बड़े-बड़े अभिमानी राजा नतमस्तक हो जाते थे। दिव्यानुभाववाला वह राजा उन्मार्गवर्ती वेताल राक्षस आदि की साधना करके उन पर शासन करता था। पृथ्वी पर विक्रमादित्य की सेना सम्पूर्ण दिशाओं में इस प्रकार व्याप्त हो गई थी जैसे सूर्य की किरणें। अत्यन्त वीर्यवान् होते हुए भी वह राजा परलोक से डरनेवाला था—शूरवीर होते हुए भी वह अचण्डकर था और कुभर्ता (पृथ्वीपति) होते हुए भी स्त्री-प्रिय था। वह पितृहीनों का पिता था, बन्धुहीनों का बन्धु था, अनाथों का नाथ था एवं प्रजाजनों का सर्वस्व था।)

एक बार जब विक्रमादित्य अपनी सभा में बैठे थे तो दिग्विजय को निकले हुए उनके सेनापति 'विक्रमशक्ति' का दूत उन्हें मिला। उसने कहा—

'सापरान्तश्च देवेन निर्जितो दक्षिणापथः।
मध्यदेशः ससौराष्ट्रः सर्वगांगा च पूर्वदिक् ॥76॥
सकश्मीरा च कौबेरी काष्ठा च करदीकृता।
तानि तान्यपि दुर्गाणि द्वीपानि विजितानि च ॥77॥
म्लेच्छसंघाश्च निहताः शेषाश्च स्थापिता वशे।
ते ते विक्रमशक्तेश्च प्रविष्टाः कटके नृपाः ॥78॥
स च विक्रमशक्तिस्तै राजभिः सममागतः।
इतः प्रयाणकेष्वास्ते द्वित्रेष्वेव खलु प्रभो ॥79॥

(आपके द्वारा अन्य देशों सहित दक्षिणापथ, सौराष्ट्र सहित मध्यदेश और वंग एवं अंग सहित पूर्व दिशा जीत ली गई है। कश्मीर सहित कौबेरी काष्ठा को करद बना लिया गया है, अन्य दुर्ग और द्वीप भी जीत लिये गए हैं। म्लेच्छ संघों को नष्ट कर दिया है, और शेष को वशवर्ती कर लिया है और वे सब राजा विक्रमशक्ति की सेना में भरती हो गए हैं। वह विक्रम शक्ति उन राजाओं के साथ आ रहे हैं।)

इस प्रकार सोमदेव ने विक्रमादित्य के राज्य विस्तार का भी वर्णन कर दिया है। इस समाचार को सुन विक्रमादित्य बहुत प्रसन्न हुआ और उसने कहा कि यात्रा में जो-जो घटनाएं हुई हों, वह सुनाओ।

इस प्रकार विक्रमादित्य सम्बन्धी अनेक कथाएं दी गई हैं। उनका ऐतिहासिक महत्त्व अधिक नहीं है। जनश्रुति में प्रसिद्ध अग्निवेताल इनमें भी आया है। समुद्रपार मलयद्वीप की राजकुमारी से विवाह का उल्लेख बृहत्तर भारत का चिह्न है। लोक-कथाओं के राजा सिंहल की पद्मिनियों से सदा विवाह करते रहे हैं। अन्य स्त्रियों के अतिरिक्त सिंहल की राजकुमारी मदनलेखा से भी विक्रम का विवाह होना लिखा है। परन्तु क्या वर्तमान सीलोन यह सिंहल हो सकता है? वहां की वर्त्तमान 'पद्मिनियों' (?) को देखते हुए तो इसमें सन्देह है।

अन्त में सोमदेव ने लिखा है कि इस प्रकार आश्चर्यों को सुनता हुआ, देखता हुआ और करता हुआ वह भूपति विक्रमादित्य द्वीपों सहित पृथ्वी को जीतकर राज्य करने लगा।

इत्याश्चर्याणि श्रृण्वन्सः पश्यन्कुर्वंश्च भूपतिः।
विजित्य विक्रमादित्यः सद्वीपां बुभुजे महीम्॥

जैन अनुश्रुति का गर्दभिल्ल इस कथा में नहीं है। उसके स्थान पर विक्रम के माता-पिता, भाई-बन्धु आदि के नाम भी विभिन्न हैं। परन्तु भविष्यपुराण, वेतालपंचविंशतिका एवं कथासरित्सागर के नाम प्रायः मिलते हैं। इसमें तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों की ओर भी संकेत है। मालवगण, शकों का अत्याचार आदि के संकेत बिखरे हुए मिलते हैं, भले ही शिवजी के गण माल्यवान को मालवगण मानने में एवं म्लेच्छों को 'शक' मानने में अनुमान एवं कल्पना का सहारा अधिक लेना पड़े।

वेतालपंचविंशतिका—पीछे कथासरित्सागर के प्रसंग में लिखा है कि 'वेतालपंचविंशतिका' मूल में क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथामंजरी' तथा सोमदेव के 'कथासरित्सागर' का अंश है। यह अपनी मूल पुस्तक से पृथक् होकर कब, कैसे और किसके द्वारा स्वतंत्र कथा के रूप में जनमनरंजन करने लगी है, यह ज्ञात नहीं है। परन्तु इस मनोरंजक ग्रन्थ के विविध पाठों की तुलना करने से एक बात

अवश्य ज्ञात होती है कि क्रमशः लोककल्पना ने इसके त्रिविक्रम राजा को विक्रमादित्य में परिवर्तित कर दिया और विक्रम-परिवार का विवरण भी कथा में जोड़ दिया। इस ग्रन्थ के अनेक पाठों में कथासरित्सागर और सिंहासनद्वात्रिंशिका की कथाएं मिश्रित पायी जाती हैं।

जम्भलदत्त विरचित वेतालपंचविंशतिका का प्रारम्भ 'विक्रम केशरी' नाम से किया गया है—

'इह हि महिमण्डले नरपतितिलको नाम विविधमणिकुण्डलमण्डितगण्डस्थलो नानालंकार विभूषितसर्व शरीरो···पुरन्दर इव सर्वांगसुन्दरो राजचक्रवर्ती श्रीमान् विक्रमकेशरी बभूव ॥'[1]

परन्तु आगे जम्भलदत्त ने 'विक्रमादित्य' संज्ञा का उल्लेख किया है—

'विक्रमादित्योऽपि भ्रमति एक शाखायाम् धृतवान्।'

'त्वम् इतो महासत्त्वमहाराजश्रीविक्रमादित्यस्य राजधानीम् गत्वा ॥'[2]

परन्तु सूरतकवि ने जयपुराधीश सवाई महाराज जयसिंह के आदेश पर जिस संस्कृत पाठ का हिन्दी भाषान्तर किया है, उसमें तो पुराण, सिंहासन-द्वात्रिंशिका तथा अन्य प्रचलित कथाओं का सम्मिश्रण है। उसके प्रारम्भिक भाग में विक्रमादित्य के माता, पिता, परिवार आदि का विस्तृत उल्लेख है।

उसके अनुसार गन्धर्वसेन धारा नगर का राजा था। उसके चार रानियां थीं। उनसे छह बेटे थे। गन्धर्वसेन की मृत्यु के पश्चात् बड़ा राजकुमार 'शंख' गद्दी पर बैठा। शंख को मारकर उसका छोटा भाई विक्रम गद्दी पर बैठा। विक्रम बहुत प्रतापी था। वह धीरे-धीरे सम्पूर्ण जम्बू द्वीप का राजा बन गया और उसने अपना संवत् चलाया। देशाटन के लिए उत्सुक होने के कारण उसने अपना राजपाट अपने छोटे भाई भर्तृहरि को सौंप दिया और स्वयं यात्रा को चला गया।

इसके पश्चात् भर्तृहरि और उसकी रानी की प्रसिद्ध अमृत-फल की कथा दी हुई है। (यह कथा सिंहासन द्वात्रिंशिका में भी है और आगे उक्त प्रकरण में दी गई है।) भर्तृहरि के वैराग्य के कारण सिंहासन रिक्त हो गया। यह सुन विक्रम अपने देश को लौटा और यहां उसकी उस योगी से भेंट हुई, जिसने उसे वेताल के पास भेजा। इस प्रारम्भिक कथा के पश्चात् वेताल की कहानियां प्रारम्भ होती हैं।

जम्भलदत्त की वेतालपंचविंशतिका की मूलकथा यह है कि विक्रमादित्य के

---

1. वेताल पंचविंशति—M. B. Cineneau द्वारा सम्पादित, पृ० 12।
2. वही, पृ० 150।

पास एक योगी आया और उसने राजा को प्रसन्न कर उससे यह याचना की कि वह उसे एक अनुष्ठान में सहायता करे। वास्तव में यह योगी राजा विक्रम से द्वेष रखता था तथा उसकी बलि देना चाहता था। उदारता एवं सरलतावश राजा ने यह स्वीकार कर लिया। योगी ने रात को राजा को श्मशान में बुलाया और दूर वृक्ष के नीचे लटकते हुए शव को लाने को कहा। अत्यन्त भयंकर वातावरण में लटकते हुए शव को राजा उठाने लगा तो वह शव उचककर उस वृक्ष की ऊपर की डाल से लटक गया। राजा ने बड़ी कठिनाई से उसे पकड़ लिया और उसे लाद ले चला। उस शव में एक वेताल घुस गया था। वह राजा के साहस से प्रसन्न था। उसने एक-एककर राजा को पच्चीस कथाएं सुनाईं। अन्त में इस वेताल की सहायता से राजा ने उस योगी को ही मार डाला।

यह कथा सिंहासनद्वात्रिंशिका में भी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कथा-सरित्सागर के विक्रम केशरी और वेताल की कथा क्रमशः विक्रमोन्मुखी होती गई। और इससे यह भी ज्ञात होता है कि विक्रम-कथा ने लोक-मस्तिष्क पर तथा कथा-साहित्य पर अपना प्रभाव पूर्णतः स्थापित कर लिया था।

विक्रम और वेताल की जोड़ी लोक-कथा एवं अनुश्रुति में दृढ़ करने में वेतालपंचविंशतिका ने अधिक सहायता की है। विक्रम के नवरत्नों के वेतालभट्ट और अनेक कथाओं के अग्निवेताल तथा इस वाचाल वेताल में क्या सम्बन्ध है? इस प्रश्न का समाधान कर सकना हमारे लिए सम्भव नहीं है।

सिंहासन-द्वात्रिंशिका—विक्रम-साहित्य में विक्रम-चरित् या सिंहासन-द्वात्रिंशिका का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह सम्पूर्ण भारतवर्ष में प्रचलित रही है। इसकी कथाएं भारत के सभी प्रान्तों में एवं सभी भाषाओं में प्रचलित हैं। यह ग्रन्थ वास्तव में विक्रमादित्य के प्रायः एक सहस्र वर्ष पश्चात् राजा भोज के विक्रमत्व का प्रतिपादन करने के लिए लिखा गया है और उससे यह प्रकट होता है कि विक्रमादित्य के आविर्भाव के लगभग एक सहस्र वर्ष बाद जनता के विक्रमादित्य का क्या रूप था।

कथा-साहित्य जहां जनमत का अत्यन्त सुन्दर दर्पण है, वहां इतिहास के लिए उसका उपयोग अत्यन्त सावधानी से करने की आवश्यकता है। जो बात अनेक मुखों से कही जाय अथवा अनेक लेखनियों से लिखी जाय और सिंहासन-द्वात्रिंशिका के ही एक पाठ के अनुसार जिसका उद्देश्य 'सकललोकचित्तचमत्का-रिणीकथा' कहना मात्र हो, तब उसमें कल्पना-प्रसुत तथ्यों के सम्मिश्रण की बहुत संभावना है। इस ग्रन्थ के संस्कृत भाषा में ही (इजर्टन: विक्रमचरित की भूमिका, पृष्ठ 29) पांच विभिन्न पाठ मिले हैं। इन पांचों में पर्याप्त अन्तर है। इनके अतिरिक्त फिर मराठी, गुजराती आदि प्रान्तीय भाषाओं में अनेक लेखकों ने इसे अपनी रचनाओं का आधार बनाया है। इस कथा के साथ एक बात और

विशेष हुई। इसे जैन साधुओं ने पूर्ण रूप से अपना लिया और विक्रमादित्य की मूर्ति जैन सम्प्रदाय के सांचे में ढालने का प्रयत्न किया। सिंहासन-द्वात्रिंशिका के जैन पाठ में बहुत-सी ऐसी कथाएं भी जुड़ी हुई हैं जो जैन सम्प्रदाय की अन्य पुस्तकों में पायी जाती हैं। चौदहवीं शताब्दी में विरचित मेरुतुंगाचार्य के प्रबन्ध-चिन्तामणि की अनेक कथाएं इस ग्रन्थ से मिलती-जुलती हैं। मेरुतुंगाचार्य ने इस चिन्तामणि में जैन सम्प्रदाय में प्रचलित निबन्धों का संग्रह मात्र किया है। अतः प्रबन्ध चिन्तामणि एवं सिंहासन-द्वात्रिंशिका की कथाओं में समानता एक ही मूल स्रोत-जैन अनुश्रुति को आधार बनाने के कारण ज्ञात होती है।

यह ग्रन्थ अनेक नामों से प्रचलित है। विभिन्न पाठों में इसके यह नाम प्राप्त हुए हैं—विक्रम-चरित्र, विक्रमार्कचरित, विक्रमादित्यचरित्र, सिंहासन द्वात्रिंशिका, सिंहासनद्वात्रिंशत्कथा तथा सिंहासनकथा। यह छह नाम तो ऊपर उल्लेख किए गए संस्कृत के पांच पाठों की विभिन्न प्रतियों में ही मिलते हैं। वर्तमान प्रान्तीय भाषाओं में प्रयोग किए गए नाम इनसे पृथक् हैं।

सबसे कठिन बात इस पुस्तक के लेखक के नाम का पता लगाना तथा इसके रचनाकाल का निर्णय करना है।

कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि यह कथा धारा नरेश परमार भोजदेव के समय में लिखी गई, और इसका कारण यह बतलाते हैं कि इसमें भोज के महत्त्व स्थापन को लक्ष्य बनाया गया है। परन्तु इसके अतिरिक्त अन्य अटकल भी लगाए हैं। इस पुस्तक के कुछ पाठों में हेमाद्रि विरचित चतुर्वर्गचिन्तामणि के दानखण्ड का उल्लेख है, जिससे यह अनुमान किया गया कि यह हेमेन्द्र के समय (13वीं शताब्दी ई०) के पश्चात् लिखी गई। एक पाठ में तो हेमाद्रि को उसका रचयिता भी बतलाया है। ऐसी दशा में यह काल उक्त पाठों का ही माना जा सकता है, न कि मूल पुस्तक का। इसके रचना-काल के विषय में किसी निष्कर्ष पर पहुंच सकना यद्यपि सम्भव नहीं परन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि यह तेरहवीं शताब्दी (ईसवी) के पूर्व की रचना है और भोज देव के समय में या उनके पश्चात् लिखी गई है।

इस कथा के रचयिता की खोज भी हमें किसी निश्चित परिणाम पर नहीं पहुंचाती। विभिन्न पाठों में रचयिताओं के नाम नन्दीश्वर, कालिदास, वररुचि, सिद्धसेन दिवाकर एवं रामचन्द्र लिखे हैं।

इनमें से कालिदास, वररुचि एवं सिद्धसेन दिवाकर इनके रचयिता नहीं हो सकते। किसी ने स्वयं लिखकर यह बड़े-बड़े नाम जोड़ दिये हैं। इन पाठों में जैन-पाठ के रचयिता का नाम कुछ निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है। जैन पाठों की अनेक प्रतियों में यह ज्ञात होता है कि मूल महाराष्ट्र में इसे क्षेमंकर मुनि ने संस्कृत में लिखा है—

श्रीविक्रमादित्यनरेश्वरस्य चरित्रमेतत् कविभिर्निरूपितम्।
पुरामहाराष्ट्रवरिष्ठभाषामयं महाश्चर्यकरं नराणाम् ॥
क्षेमंकरेण मुनिना वरगद्यपद्यबन्धेन युक्तकृतसंस्कृतबन्धुरेण।
विश्वोपकारविलसद्गुणकीर्तनाय चक्रे ऽचिरादमरपण्डितहर्षहेतुः ॥

परन्तु मूल विक्रमा चरित का रचयिता कौन था यह ज्ञात नहीं है। संस्कृत-साहित्य के निर्माता व्यक्तिगत यश तथा कीर्ति से अपने आपको दूर ही रखते रहे। ग्रन्थ की रचना कर वे उसमें अपने अस्तित्व को निमज्जित कर देते थे।

अब आगे यह देखना है कि इस विक्रम-चरित में विक्रमादित्य के चरित्र को कैसे और किस रूप में चित्रित किया है।

उज्जैन नगर के राजा भर्तृहरि थे। अनंगसेना नाम की उनकी अत्यन्त सुन्दरी पत्नी थी तथा उनके भाई का नाम था विक्रमादित्य। एक निर्धन ब्राह्मण ने तपस्या करके पार्वतीजी को प्रसन्न कर लिया और उनसे अमरता का वरदान मांगा। पार्वतीजी ने उसे एक फल दिया, जिसके खाने से वह अजर-अमर हो सके। उसे खाने के पूर्व उसने विचार किया कि यदि वह उस फल को खा लेगा तो निर्धनता के कारण दुखी ही रहेगा। अतः उसने वह राजा भर्तृहरि को दिया। राजा अनंगसेना को अत्यधिक प्रेम करता था। उसने उसके सौन्दर्य को स्थिर एवं अमर करने के विचार से वह फल अनंगसेना को दे दिया। अनंगसेना ने वह फल अपने प्रेमी सारथी को दिया। सारथी ने उसे अपनी प्रेमिका एक दासी को दिया, दासी ने एक ग्वाले को और ग्वाले ने अपनी प्रेमिका एक गोबर उठाने वाली लड़की को दे दिया। वह लड़की उस फल को अपनी गोबर की डलिया के ऊपर रखकर ले जा रही थी कि राजा की दृष्टि उस पर पड़ी। राजा उस फल को पहचान गया। निश्चय करने के लिए उसने उस निर्धन ब्राह्मण को बुलाया। ब्राह्मण ने वह फल पहचान लिया। राजा ने जब रानी से पूछताछ की तो उसे सारा रहस्य ज्ञात हुआ। उसे अत्यधिक ग्लानि हुई। उसने वह फल स्वयं खा लिया और राजपाट अपने भाई विक्रमादित्य को देकर वैरागी हो गया।

विक्रमादित्य ने प्रजा का रंजन करते हुए नीतिपूर्वक राज्य करना प्रारम्भ किया। एक बार एक कपटी साधु राजा के पास आया और एक अनुष्ठान में सहायता देने की याचना की। राजा ने उसे स्वीकार किया। अनुष्ठान में उस साधु ने राजा की बलि देनी चाही, परन्तु राजा ने उसकी ही बलि दे दी। इसी प्रसंग में एक बेताल राजा पर प्रसन्न हो गया। उसने वचन दिया कि जब राजा उसे बुलाएगा, वह उपस्थित होगा। उसने राजा को अष्टसिद्धि प्रदान की। (यह कथा वेतालपच्चीसी के प्रसंग में विस्तार से दी गई है।)

इसी समय विश्वामित्र की तपस्या से इन्द्र को बहुत भय हुआ। उसने निश्चय किया कि रंभा या उर्वशी में से एक अप्सरा को विश्वामित्र की तपस्या भंग करने

के लिए भेजा जाय। उसने देव सभा में उनके नृत्यकौशल का प्रदर्शन कराया और दोनों में जिसका प्रदर्शन अधिक उत्तम हो उसको ही विश्वामित्र के पा.. भेजने का विचार किया। परन्तु देवसभा यह निर्णय ही न कर सकी कि किसका नृत्य अधिक श्रेष्ठ है। नारदजी की सलाह से इन्द्र ने अपने सारथि मातलि को भेजकर विक्रमादित्य को बुलाया। विक्रमादित्य ने नृत्य को देखकर उर्वशी को दोनों में श्रेष्ठ ठहराया। कारण पूछने पर उसने नृत्य की अत्यन्त सुन्दर शास्त्रीय व्याख्या की और अपने निर्णय के औचित्य को सिद्ध कर दिया। प्रसन्न होकर देवराज ने उसे अपना सिंहासन भेंट में दिया। इस सिंहासन को राजा अपनी राजधानी में ले आए और उपयुक्त समय में उस पर आरूढ़ हुए।

कुछ समय पश्चात् प्रतिष्ठान नगर में एक छोटी-सी लड़की के शेषनाग शालिवाहन नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उस समय उज्जैन में अशुभ चिह्न दिखाई देने लगे। ज्योतिषियों ने राजा के विनाश की भविष्यवाणी की। राजा को शंकर द्वारा यह वरदान प्राप्त हो चुका था कि उसे केवल वही व्यक्ति मार सकेगा जो ढाई वर्ष की लड़की से उत्पन्न हुआ हो। राजा ने अपने मित्र वेताल को बाहर भेजा कि वह इस बात की खोज करे कि कहीं ऐसा बालक उत्पन्न तो नहीं हो गया है। प्रतिष्ठान में वेताल ने शालिवाहन को देखा और उसके जन्म का हाल जाना। उसने राजा को वह हाल सुना दिया। राजा ने प्रतिष्ठान पर आक्रमण कर दिया, परन्तु शालिवाहन ने उसे आहत कर दिया। उस घाव से राजा उज्जैन आकर मर गया।

राजा के मरने पर उसकी रानी ने अपने सात मास के गर्भ से राजकुमार को निकाला। मंत्रियों की देखरेख में राज्य चलने लगा। परन्तु इन्द्र के सिंहासन पर बैठने योग्य कोई व्यक्ति शेष न था, अतः उसको एक पवित्र खेत में गाड़ दिया गया।

बहुत समय पश्चात् यह सिंहासन धार के राजा भोज को प्राप्त हुआ। जब वह इस पर बैठने की तैयारी करने लगा। तो इसमें लगी हुई बत्तीस पुत्तलियों में से एक मानवी भाषा में बोल उठी—'हे राजन्! यदि तुझमें विक्रमादित्य जैसा शौर्य, औदार्य, साहस तथा सत्यवादिता हो तभी तू इस सिंहासन पर बैठने का प्रयत्न करना!' राजा भोज ने उस पुत्तलिका से विक्रमादित्य की उदारतादि का वर्णन करने को कहा।

इस प्रकार उस सिंहासन की बतीसों पुतलियों द्वारा एक-एक करके विक्रम के गुणों का अतिरंजित वर्णन कराया गया है।

पहली पुतली ने विक्रम के दान का वर्णन इस प्रकार किया है—

'निरीक्षिते सहस्रंतु नियुतं तु प्रजल्पिते।
हसने लक्षमाप्नोति संतुष्टः कारिवो नृपः॥'

दूसरी पुत्तली ने विक्रमादित्य की परोपकारिता की कहानी कही है। राजा एक ब्राह्मण के ऊपर देवी को प्रसन्न करने के लिए अपने सिर को बलि देने को तैयार हो गया। राजा की उदारता की नीचे लिखे शब्दों में प्रशंसा करते हुए देवी ने ब्राह्मण का अभीष्ट सिद्ध किया—

छायामन्यस्य कुर्वन्ति स्वयं तिष्ठंति चाऽतपे।
फलन्ति परार्थेषु नाऽत्महेतुर्महाद्रुमाः॥
परोपकाराय वहन्ति निम्नगाः।
परोपकाराय दुहन्ति धेनवः॥
परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः।
परोपकाराय सतां विभूतयः॥

तीसरी पुत्तलिका ने विक्रमादित्य की उदारता की कहानी कही है। किस प्रकार विक्रम ने समुद्र द्वारा प्रदत्त चारों रत्न ब्राह्मण को उदारतापूर्वक दे दिए थे, इसका वर्णन इसमें है। अन्त में इस पुत्तलिका ने कहा है—'ओ राजन्! औदार्य तो सहज उत्पन्न गुण होता है। वह औपाधिक नहीं है क्योंकि—

चम्पकेषु यथा गन्धः कान्तिर्मुक्ताफलेषु च।
यथेऽक्षुखण्डे माधुर्यम् औदार्यं सहजं तथा॥

यदि तुममें ऐसा औदार्य हो, तो इस सिंहासन पर आरूढ़ हो।'

चतुर्थ पुत्तलिका द्वारा राजा के उपकार मानने के स्वभाव का वर्णन कराया गया है। देवदत्त नामक ब्राह्मण ने राजा का उपकार किया। उसके बदले में राजा ने उसे अपने पुत्र का हत्यारा समझकर भी उस एक उपकार के बदले में क्षमा कर दिया, क्योंकि वह समझता था 'यः कृतमुपकारं विस्मरति स पुरषाधम इव।'

पांचवीं पुत्तलिका ने विक्रमादित्य की उदारता की कहानी कही है, जिसमें राजा द्वारा अमूल्य रत्नों को दान में देना बतलाया है।

छठी पुतली ने भी विक्रम के औदार्य का ही वर्णन किया है, जिसमें विक्रम ने असत्यवादी किन्तु आर्त ब्राह्मण की मनोवांछा पूरी की है क्योंकि—

'दत्त्वाऽर्तस्य नृपो दानं शून्यलिंगं प्रपूज्य च।
परिपाल्याऽश्रितान्नित्यम् अश्वमेधफलं लभेत॥'

सातवीं पुत्तलिका राजा के पराक्रम की गाथा कहती है। इस कथा में विक्रमादित्य के उस पराक्रम का वर्णन है, जिसके कारण वह छिन्न मस्तक स्त्री-पुरुषों के युग्म को जीवित करने के लिए स्वयं अपने मस्तक की बलि देने को तत्पर हो गया था। जब भुवनेश्वरी उस पर प्रसन्न हुई तब राजा ने उस युग्म के लिए ही राज्य की याचना की, अपने लिए कुछ न मांगा। इस कथा में प्रसंगवश

राजा विक्रमादित्य के राज्य की दशा का भी वर्णन आ गया है। 'विक्रमादित्य के राज्य में सर्वजन सुखी थे, लोक में दुर्जनरूपी कंटक नहीं थे। सर्वजन सदाचारी थे। ब्राह्मण वेद शास्त्र के अभ्यास में लग्न तथा स्वधर्मचर्या-पर एवं षट्कर्म में निरत थे! सब वर्ण के लोगों में पाप का भय था, यश की इच्छा थी, परोपकार की वासना थी, सत्य से प्रेम था, लोभ से द्वेष था, परोपकार का आदर था, जीवदया का आग्रह था, परमेश्वर में भक्ति थी, शरीर की स्वच्छता थी, नित्यानित्य वस्तु का विचार था, वाणी में सत्य था, बात के पालन में दृढ़ता थी और हृदय में औदार्य गुण था।' इस प्रकार सब लोग सद्वासनायुक्त पवित्र अन्तः-करण होकर राजा के प्रसाद से सुखी रहते थे।'

आठवीं पुत्तलिका की कथा के अनुसार राजा विक्रमादित्य ने प्राणों की बाजी लगाकर एक जलहीन तालाब को पानी से भर दिया। उस तालाब में पानी नहीं ठहरता था। आकाशवाणी द्वारा यह ज्ञात हुआ कि जब तक बत्तीस लक्षणों से युक्त पुरुष अपने रक्त को अर्पित नहीं करेगा, उस तालाब में पानी नहीं ठहरेगा। राजा इसके लिए तैयार हो गया।

नवमी पुत्तलिका की कथा इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि इसमें विक्रमादित्य से सम्बन्धित अन्य नाम आए हैं। यह भी राजा के औदार्य और धैर्य की कहानी है। विक्रमादित्य का महि नाम का मंत्री था, गोविन्द नामक उपमंत्री था, चन्द्र नामक सेनापति था तथा त्रिविक्रम नामक पुरोहित था। इस त्रिविक्रम के कमलाकर नामक पुत्र था। इसी कमलाकर के लिए राजा ने कांची नगर की एक वेश्या नरमोहिनी को राक्षस के पास से मुक्त किया था।

दसवीं पुत्तली ने राजा विक्रम की उस उदारता का वर्णन किया जिसके द्वारा उसने कठोर तपस्या द्वारा प्राप्त किया हुआ अजर-अमरता प्रदान करने वाला फल भी एक रुग्ण ब्राह्मण को दान कर दिया था।

ग्यारहवीं पुत्तलिका द्वारा वर्णित कहानी में एक विशेषता है। वह महा-भारत की एक कथा से बिलकुल मिलती-जुलती है। महाभारत में एक कथा है कि वनवास के समय कुन्ती सहित पाण्डव एक ऐसे नगर में पहुंचे जहां प्रत्येक परिवार में से क्रमशः एक व्यक्ति एक राक्षस को खाने के लिए भेंट किया जाता था। पाण्डवों को आश्रय देने वाले ब्राह्मण के घर यह क्रम आने पर उसके बदले भीम गये और उन्होंने उस राक्षस को ही मार डाला। सिंहासनबत्तीसी की कथा में राजा विक्रम इस प्रकार के नगर का हाल पक्षियों से सुनते हैं और उनके द्वारा अपने आपको राक्षस को अर्पित करने पर वह उसकी उदारता पर मुग्ध होकर उन्हें नहीं खाता है।

बारहवीं पुत्तलिका की कथा में विक्रमादित्य द्वारा एक राक्षस को मारकर एक शापग्रस्त ब्राह्मण-पत्नी का उद्धार करना तथा एक ब्राह्मण-पुत्र को धन दान

देने की कथा है।

तेरहवीं पुतली विक्रमादित्य द्वारा डूबते हुए ब्राह्मण युग्म को बचाकर वरदान पाने की कथा कहती है। इस वरदान के फल को भी राजा ने एक ब्रह्म-राक्षस को दान कर उसे स्वर्ग दिलाया।

चौदहवीं कथा में राजधर्म की व्याख्या है और विक्रम द्वारा प्राप्त चिन्तामणि के समान मनवांछित फल देने वाले 'काश्मीरलिंग' के दान का उल्लेख है।

पन्द्रहवीं कथा में राजा विक्रमादित्य के पुरोहित का नाम वसुमित्र बतलाया गया है। यह भी राजा के परोपकार की कथा है।

सोलहवीं पुतली द्वारा कही गई कथा में विक्रमादित्य के दिग्विजय का उल्लेख है। उसने उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम में परिभ्रमण करके वहां के नृपतियों को अपने वश में किया और उनके द्वारा अर्पित किए हुए हाथी, घोड़े तथा धन आदि लेकर उन्हें उनके राज्यों में पुनः प्रतिष्ठित कर वापस लौटा। यहां आकर उसने एक ब्राह्मण को कन्यादान के लिए बहुत-सा स्वर्ण दिया।

सत्रहवीं पुत्तलिका ने राजा के त्याग और उदारता की कथा कही है। राजा ने अपने प्रतियोगी को कष्ट से बचाने के लिए अपने शरीर का ही दान देना स्वीकार किया।

अठारहवीं कथा राजा के अपूर्व दान की कहानी है। राजा ने सूर्य द्वारा प्राप्त प्रतिदिन स्वर्णभार देने वाली अंगूठियों को एक निर्धन ब्राह्मण को दान में दे डाला।

उन्नीसवीं पुत्तलिका द्वारा कहलाई गई कथा में पुनः विक्रम के राज्य का वर्णन है। जब विक्रम पृथ्वी पर शासन कर रहा था, सर्वलोक आनन्द-परिपूर्ण-हृदय थे, ब्राह्मण श्रौतकर्म में निरत थे, स्त्रियां पतिव्रता थीं, पुरुष शतायु थे, वृक्ष फलयुक्त थे, इच्छानुसार जल की वर्षा होती थी, मही सदा सम्पूर्ण शस्यमती थी, लोक में पाप का भय था, अतिथि की पूजा होती थी, जीवों पर कृपा होती थी, गुरुजनों की सेवा होती थी और सत्पात्र को दान मिलता था, ऐसी प्रजा की प्रवृत्ति थी। आगे इस कथा में विक्रम द्वारा उस रस और रसायन के दान का वर्णन है जो उसे बलि से प्राप्त थे। इसी प्रकार के दान का वर्णन बीसवीं कहानी में है।

इक्कीसवीं पुत्तलिका की कथा में विक्रमादित्य के एक और मंत्री का नाम आया है। उसका नाम बुद्धिसिन्धु था। इसके पुत्र अनर्गल के बतलाने पर राजा को अष्टसिद्धियों से जो वरदान प्राप्त हुए उनके दान का वर्णन है। बाईसवीं कथा भी विक्रम द्वारा एक ब्राह्मण के हेतु जीवन-दान देने के लिए तत्पर होने की है। तेईसवीं कथा में दुःस्वप्न के फल निवारणार्थ विक्रम द्वारा किए गए दान की कथा है।

चौबीसवीं पुतली द्वारा बतलाई गई कहानी महत्त्वपूर्ण है। इसमें विक्रम के मारने वाले शालिवाहन एवं उसके नगर प्रतिष्ठान का उल्लेख है। एक सेठ ने मरते समय अपने धन का बंटवारा अपने चारों बेटों के बीच करने के लिए चार घड़े रख दिए। उसके मरने पर उनमें क्रमश मिट्टी, घास, कोयला तथा हड्डियां भरी हुई थीं। इसका अर्थ न समझकर वे विक्रम के पास गए। परन्तु वहां भी कोई इस बात का अर्थ न बता सका। जब वे प्रतिष्ठानपुर निवासी शालिवाहन के पास गए तो उसने बतलाया कि मिट्टी, घास, कोयला एवं हड्डियों का अर्थ क्रमशः भूमि, अन्न, स्वर्ण तथा पशुधन है। यह समाचार सुन विक्रम नें शालिवाहन को बुलाया। परन्तु शालिवाहन ने आने से मना कर दिया और बड़ा अपमानजनक उत्तर दिया। राजा विक्रम ने प्रतिष्ठान पर चढ़ाई कर दी। शालिवाहन कुम्हार के यहां रहता था। उसने मिट्टी की सेना बनाई। उसके पिता शेष ने उस सेना को जीवित कर दिया। परन्तु विक्रम की फौज को यह सेना हरा न सकी। तब शेष ने सर्पों को भेजा। विक्रम ने वासुकी को प्रसन्न कर अमृत-घट प्राप्त कर लिया। शालिवाहन द्वारा भेजे गये ब्राह्मणों ने जब राजा को वचनबद्ध करके वह अमृत-घट मांगा तो केवल अपने वचन-पालन के लिए विक्रमादित्य ने वह अमृत-घट जान-बूझकर शालिवाहन के आदमियों को दान दे दिया।

पच्चीसवीं कहानी में देश का अन्नदुर्भिक्ष मिटाने के लिए विक्रम द्वारा आत्म-बलि देने का निश्चय करने की कथा है। छब्बीसवीं कथा रघुवंश में वर्णित नन्दिनी और दिलीप की कथा का स्मरण दिलाती है। गाय की रक्षा के लिए राजा सारी रात वृष्टि में सिंहों के मुकाबले में खड़ा रहा। सत्ताईसवीं कथा में वर्णन है कि राजा विक्रम ने अष्टभैरवों को अपने रक्त की बलि देकर सिद्धि प्राप्त कर उसे एक जुआरी को इसलिए दे दी कि वह उससे धन प्राप्त करे और जुआ खेलना छोड़ दे। अट्ठाईसवीं कहानी में राजा एक देवी से इस बात का वरदान मांगता है कि वह मानव-बलि लेना बन्द कर दे। उन्तीसवीं कथा में विक्रम द्वारा 50 करोड़ दान देने का उल्लेख है। तीसवीं कहानी विशेष रूप से इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि इसमें राजा विक्रम द्वारा पांड्य देश के राजा द्वारा भेजे हुए कर के धन को एक इन्द्रजालिक को दे दिया। अतः पांड्य देश के राजा का विक्रम का करद होना प्रकट होता है

इकतीसवीं पुत्तलिका द्वारा वेतालपंचविंशतिका की कथा कहलाई गई है। राजा से एक योगी अनुष्ठान में सहायता करने का वचन लेता है। उसे श्मशान से शव लाने को कहता है। वहां उसे शव पर वाचाल वेताल मिलता है। परन्तु इस ग्रन्थ में पच्चीस कथाएं नहीं दी गई हैं, केवल एक दी गई है।

बत्तीसवीं अन्तिम पुतली राजा विक्रम का यशोगान करती है। वह कहती

कि विक्रम जैसा राजा भूमण्डल पर नहीं है। उसने काष्ठमय खड्ग से सारे संसार को जीत लिया था और पृथ्वी पर एकछत्र राज्य स्थापित किया था। उसने शकों को पराभूत कर अपना संवत् चलाया। उसने दुष्टों का नाश किया, निर्धनों की निर्धनता मिटा दी। दुर्भिक्ष मिटा दिए।

बत्तीसों पुत्तलिकाएं इस प्रकार कथा सुनाकर फिर यह कहती हैं कि वे शापग्रस्त देवांगनाएं थीं जो पार्वती के शाप से पुत्तलिकाएं बनकर इस सिंहासन से लग गई थीं। भोजराज को यह विक्रम की कथा सुनाने से वह शाप मुक्त हुई हैं।

विक्रम-चरित की इस कथा के जैन पाठ में अन्य पाठों से बहुत भेद है। इसमें प्राय: छह कथाएं नयी जोड़ी गई हैं। पहली कथा अग्निवेताल और विक्रम की है। अग्निवेताल का स्थान अभी भी उज्जैन में है। इसमें यह कथा विशेष महत्त्वपूर्ण है। एक कथा में सिद्धसेन दिवाकर का विक्रम का गुरु होना बतलाया है। यह कथाएं प्रबन्ध-चिन्तामणि में भी हैं। अत: उसी प्रसंग में इन पर प्रकाश डालेंगे।

जैन पाठकारों ने विक्रमादित्य के जन्म की एक कहानी भी जोड़ दी है। इसके अनुसार विक्रम की उत्पत्ति दैवी एवं अलौकिक बतलाई है। प्रेमसेन राजा के मदनरेखा नामक अत्यन्त रूपवती कन्या थी। इस राजा के नगर में गन्धर्वसेन नामक एक शापग्रस्त यक्ष गर्दभ के रूप में रहता था। उसने राजा से कहा कि यदि वह कन्या मदनरेखा का विवाह उसके साथ न करेगा तो उसके नगर का क्षेम नहीं। यक्ष की अलौकिक शक्ति का परिचय पाकर राजा ने अपनी कन्या का विवाह उसके साथ कर दिया। नगर की रक्षा का विचार कर तथा विधि के विधान को समझकर कन्या ने उस गर्दभ से विवाह कर लिया। यक्ष सुन्दर रूप धारण कर रात्रि के समय राज्यकन्या के साथ विहार करता था। एक दिन मदनरेखा की माता उससे मिलने आई। उसने देखा कि गन्धर्वसेन ने गर्दभ की खाल एक ओर फेंक दी है और अत्यन्त सुन्दर रूप धारण किए बैठा है। माता ने गर्दभ की खाल को जला दिया। गन्धर्वसेन ने कहा कि अब वह शापमुक्त हो गया है। और स्वर्ग जाएगा। उसने कहा कि जो बालक तुम्हारे हो उसका नाम विक्रमादित्य रखना। तुम्हारी दासी के जो गर्भ है उसका नाम भर्तृहरि रखना। समय पाकर दोनों पुत्र उत्पन्न हुए।

यह गन्धर्वसेन गर्दभिल्ल से प्राय: मिलता-जुलता है।

प्रबन्ध चिन्तामणि—मेरुतुंगाचार्य-कृत प्रबन्ध-चिन्तामणि जैन ऐतिहासिक ग्रंथों में प्रधान है। इसकी रचना संवत् 1361 वि० में की गई थी। इस ग्रंथ को लिखने में मेरुतुंग का उद्देश्य विशुद्ध ऐतिहासिक था। उन्होंने स्वयं इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में लिखा है—'यद्यपि विद्वानों द्वारा वृद्धि (संकलन) .. कहे

गये प्रबन्ध (कुछ-कुछ) भिन्न-भिन्न भावों वाले अवश्य होने हैं; तथापि इस ग्रन्थ की रचना सुसम्प्रदाय (योग्य परम्परा) के आधार पर की गई है इसलिए (इसके विषय में) चतुरजनों को वैसी चर्चा न करनी चाहिए।' इस पर टिप्पणी करते हुए प्रसिद्ध विद्वान् श्री जिनविजयजी लिखते हैं—'मेरुतुंग सूरि ने इस ग्रन्थ को संकलन करने में कुछ तो पुराने प्रवन्ध ग्रन्थों की सहायता ली और कुछ परम्परा से चली आती हुई मौखिक बातों का आधार लिया।...प्रबन्ध-चिन्तामणि की कुछ बातें ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वथा भ्रान्त भी मालूम होती हैं। लेकिन मेरुतुंगाचार्य उनके लिए निष्पक्ष और निराग्रह हैं—यह बात इस श्लोक के गत कथन से सूचित होती है।' तात्पर्य यह कि प्रवन्ध-चिन्तामणि में उस समय प्रचलित अनुश्रुतियों को विना किसी फेरबदल के लिपिवद्ध किया गया है।

इस ग्रंथ का प्रथम प्रवन्ध ही विक्रमार्क (विक्रमादित्य) के विषय में है। मेरुतुंग की ऐतिहासिक प्रणाली से इतना तो निश्चित है कि उन्होंने अपनी ओर से कुछ मिलाया न होगा, अत: प्रबन्ध-चिन्तामणि का विक्रमार्क-चरित्र विक्रमीय चौदहवीं शताब्दी में जैन सम्प्रदाय में प्रचलित रूप माना जा सकता है।

विक्रमादित्य के राजा होने के पूर्व के जीवन के विषय में इस ग्रन्थ के दो स्थलों पर उल्लेख है। प्रकीर्णक प्रवन्ध में भर्तृहरि की उत्पत्ति की कथा में लिखा है कि अवन्तिपुरी में एक व्याकरण का विद्वान् पण्डित रहता था। उसके चार वर्णों की चार स्त्रियां थीं। क्षत्राणी से विक्रमादित्य उत्पन्न हुए और शूद्रा से भर्तृहरि का जन्म हुआ। यह भर्तृहरि वैराग्यशतक आदि के कर्त्ता थे।

विक्रमार्क राजा के प्रवन्ध में लिखा है—'अवन्ति देश के सुप्रतिष्ठान[1] नामक नगर में असम साहस का एकमात्र निधि, दिव्य लक्षणों से लक्षित, सत्कर्म, पराक्रम इत्यादि गुणों से भरपूर राजपुत्र था।' यह राजपुत्र बहुत निर्धन था। धन पाने हेतु वह अपने मित्र भट्टमात्र के साथ रोहण पर्वत को गया। रोहण पर्वत की यह विशेषता थी कि ललाट को हथेली से 'हा दैव!' कहकर चोट मारने से, अभाग्यवान् मनुष्य को भी रत्न मिलते थे। परन्तु विक्रम यह करने को तैयार न था। भट्टमात्र विक्रम को लेकर उस पहाड़ के पास पहुंचा और जब विक्रम कुदाल से उस पर्वत में प्रहार कर रहा था, तो उसे अपनी माता की मृत्यु का दुखद समाचार मिला। विक्रम ने कुदाल फेंक दिया और 'हा दैव' कहकर माथा ठोका। तुरन्त ही एक सवा लाख का हीरा निकल आया। जब विक्रम को यह ज्ञात हुआ तो उसने वह रत्न उस पर्वत पर यह कहकर फेंक दिया कि इस

1. अवन्ति देश में सुप्रतिष्ठान नामक नगर का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। सम्भवत: यह उज्जयिनी के लिए ही लिखा गया है।

रोहणगिरि को धिक्कार है जो 'हा दैव' ही कहलाकर दरिद्रों का निर्धनतारूपी घाव भरता है।

इसके पश्चात् विक्रमादित्य के राज्य-प्राप्ति की कथा है। इसी प्रकार की कथा सिंहासन-बत्तीसी के जैनपाठ में भी मिलती है। उसने अवन्ति देश में एक राक्षस को सन्तुष्ट किया। वह उसी प्रकार प्रतिदिन भक्ष्य-भोज्य पाकर सतुष्ट रहने लगा। एक दिन विक्रम राजा ने उससे अपनी आयु पूछी। अग्निवेताल ने कहा कि विक्रम की आयु 100 वर्ष है और किसी भी प्रकार कम या अधिक नहीं हो सकती। अगले दिन राजा ने उसे कुछ खाने को न दिया और लड़ने को तैयार हो गया। युद्ध में जब राक्षस हार गया तो वह बोला, 'मैं तुम्हारे अद्भुत साहस से प्रसन्न हूं। तुम जो कहो उस आदेश का पालन करनेवाला मैं अग्निवेताल तुम्हें सिद्ध हुआ।'

इसके पश्चात् मेरुतुंग ने लिखा है, 'इस प्रकार अपने पराक्रम से दिग्मण्डल को आक्रान्त करने वाले उस राजा ने छियानबे प्रतिद्वन्द्वी राजाओं के राज्य को अपने अधिकार में किया और कालिदासादि महाकवियों द्वारा की हुई स्तुति से अलंकृत होकर उसने चिरकाल तक विशाल साम्राज्य का उपभोग किया।'

इसके पश्चात् विक्रमादित्य विषयक 11 कथाएं और दी गई हैं। एक कथा में विक्रमादित्य की लड़की का नाम प्रियंगुमंजरी बतलाया है। वररुचि उसका उपाध्याय है। प्रियंगुमंजरी की अशिष्टता से अप्रसन्न होकर वररुचि ने उसे शाप दिया कि उसका पति 'पशुपाल' होगा। कन्या ने प्रण किया कि वह ऐसे व्यक्ति से विवाह करेगी जो वररुचि का गुरु हो। जब वररुचि इस कन्या के लिए वर खोज रहे थे तो जंगल में भैंस चराते हुए कालिदास मिले। उन्होंने उन्हें 'करचंडी' शब्द का अर्थ बतलाया; अतः गुरु बने। कालिदास का विवाह प्रियंगुमंजरी के साथ हुआ। जब इनकी मूर्खता प्रकट हुई तो प्रियंगुमंजरी ने उनका अपमान किया। दुखी होकर विद्वत्ता प्राप्त करने के लिए कालिदास के काली की आराधना की। देवी प्रसन्न हुई और कालिदास ने कुमारसम्भव प्रभृति तीन काव्य तथा छह प्रबन्ध बनाए।

अगली कथा 'सुवर्ण पुरुष की सिद्धि' के प्रबन्ध में विक्रम की उदारता और धैर्य का वर्णन है। यह कथा सिंहासन बत्तीसी के जैन पाठ में इकतीसवीं पुत्तलिका द्वारा कहलाई गई है। इसमें दांता नामक सेठ के धवलगृह (महल) की कथा है। सेठ ने जो नवीन धवलगृह बनवाया था, उसमें उसे 'गिरता हूं' शब्द सुनाई दिया और 'मत गिरो' यह कहकर वह भागकर राजा के पास आया। राजा ने वह धवलगृह (महल) स्वयं खरीद लिया। रात को जब वही 'गिरता हूं' शब्द हुआ तो राजा ने कहा 'शीघ्र गिरो'। उसके ऐसा कहते ही सुवर्ण-पुरुष वहां गिरा और राजा को उसकी प्राप्ति हुई।

अगला विक्रमादित्य के सत्य का प्रबन्ध है। यह कथा भी सिंहासन बत्तीसी के जैनपाठ में सम्मिलित है और बत्तीसवीं पुतली द्वारा कहलाई गई है। इसमें राजा के सत्त्व (साहस) के प्रेम का संकेत है। अवन्तिकापुरी में बिकने आई हुई कोई वस्तु बिना बिके नहीं लौटती थी। एक व्यक्ति 'दारिद्र्य' की मूर्ति बनाकर लाया। किसी के न खरीदने पर स्वयं राजा ने उसे क्रय कर लिया। दारिद्र्य के आने पर लक्ष्मी आदि राजा को छोड़ गईं। परन्तु जब सत्त्व (साहस) छोड़कर जाने लगा तो राजा आत्महत्या को तैयार हो गया। सत्त्व प्रसन्न हुआ और रह गया। परिणाम यह हुआ कि लक्ष्मी आदि फिर लौट आए।

अगला 'सत्त्व परीक्षा' नामक निबन्ध भी इसी प्रकार राजा के साहस का वर्णन करता है। इसमें विक्रम के साहस को देखकर उसके पास आए हुए ज्योतिषी ने कहा है 'तुम्हारा यह सत्त्व (साहस) रूपी लक्षण बत्तीस लक्षणों से भी बढ़कर है।' यह कथा सिंहासन बत्तीसी के जैन पाठ में उन्तीसवीं पुतली द्वारा कहलाई गई है।

विद्यासिद्धि के प्रबन्ध में विक्रमादित्य की उदारता का वर्णन है। जब वह 'परकाया प्रवेश' की विद्या सीखने श्रीपर्वत पर भैरवानन्द योगी के पास जाने लगा तो एक ब्राह्मण उसके साथ हो लिया और उसने विक्रम से यह वचन ले लिया कि पहले यह विद्या मुझे सिखाना फिर तुम सीखना। राजा ने दुख उठाकर भी यह वचन पाला।

अगले प्रबन्ध में विक्रमादित्य के जैन साधु सिद्धसेन दिवाकर से प्रभावित होने की कथा है। यह कथा सिंहासन बत्तीसी के जैन पाठ में विस्तार से मिलती है।

विक्रमादित्य सिद्धसेन दिवाकर के 'सर्वज्ञ पुत्र' विरुद को सुनकर उनकी परीक्षा लेते हैं। वे मन-ही-मन उन्हें प्रणाम करते हैं। अपने श्रुतज्ञान से राजा का मनोगत भाव जान सिद्धसेन ने उन्हें दाहिना हाथ उठाकर धर्म लाभ का आशीर्वाद दिया। यह देखकर राजा बहुत चमत्कृत हुआ। इस प्रबन्ध में राजा द्वारा पृथ्वी को अनृण करने का भी उल्लेख है।

अगले प्रबन्ध में विक्रमादित्य की मृत्यु से विक्रम संवत् प्रवर्त्तन होना कहा गया है। आगे प्रकीर्णक प्रबन्ध में 'विक्रमादित्य की पात्र परीक्षा' नामक कथा और है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रबन्ध चिन्तामणि तथा सिंहासन बत्तीसी के जैन पाठ में जैन सम्प्रदाय में प्रचलित विक्रमादित्य की कथाओं का संग्रह किया गया है। हम इस प्रकरण का अन्त मेरुतुंग द्वारा की गई विक्रमादित्य की प्रशंसा से करेंगे।

अन्त्योऽप्याद्यः समजनि गुणैरेक एवावनीशः ।
शौर्योदार्यप्रभृतिभ्भारंतोर्वीतले विक्रमार्कः ॥
श्रोतुः श्रोतामृतसमनवत्तस्य राज्ञः प्रवन्धं ।
संक्षिप्योच्चैर्विपुलमपितं वच्मि किंचित्तवादौ ॥

पुराण—अर्थशास्त्रकार ने इतिहास की परिभाषा में छह बातें सम्मिलित बतलाई हैं । 1. पुराण, 2. इतिवृत्त, 3. आख्यायिका, 4. उदाहरण, 5. धर्मशास्त्र और 6. अर्थशास्त्र । अतएव पुराण भी इतिहास के एक अंग माने गए हैं । यद्यपि पाश्चात्य विद्वानों ने पुराणों के प्रति बहुत अश्रद्धा प्रकट की है, यहां तक कि किसी समय विल्सन आदि योरोपियन विद्वान् इनका रचनाकाल ईसवी ग्यारहवीं शताब्दी के पश्चात् तक बतलाते थे । परन्तु अब पुराणों का ऐतिहासिक मूल्य विद्वानों द्वारा माना जा चुका है। उनके आधार पर प्राचीन भारतीय इतिहास का पुनर्निर्माण किया गया है । अतः यह देखना उचित होगा कि विक्रमादित्य का वर्णन पुराणों में क्या दिया हुआ है ।

कालकाचार्य कथानक में गर्दभिल्ल से मिलते हुए एक गर्दभिन् वंश का उल्लेख है, जिसने 72 वर्ष राज्य किया (पार्जीटर, पुराण-पाठ, पृष्ठ 45-46) । इसके अतिरिक्त पुराणों में विक्रमादित्य का उल्लेख कम ही मिलता है । केवल भविष्य पुराण के प्रतिसर्ग पर्व में विक्रमादित्य का विशद् वर्णन दिया है । भविष्य पुराण को पार्जीटर आंध्र राजा यज्ञश्री के समय में ईसवी दूसरी शताब्दी के अन्त में लिखा हुआ बतलाते हैं। अतः वह बहुत बहुमूल्य उल्लेख है । परन्तु स्मिथ का मत है कि भविष्य पुराण का वर्तमान रूप बहुत कुछ प्रक्षिप्त एवं घटाबढ़ा है, अतः इतिहास की दृष्टि से बेकार है । जो हो, विक्रमादित्य का पुराणवर्णित रूप यहां दिया जाता है ।

भविष्य पुराण में विक्रमादित्य का उल्लेख दो स्थल पर आया है । द्वितीय खण्ड के अध्याय 23 में लिखा है—

तस्मिन्काले द्विजः कश्चिज्जयंतो नाम विश्रुतः ॥
तत्फलं तपसा प्राप्तः शक्रतः स्वगृहं ययौ ।
जयतो भर्तृहरये लक्षस्वर्णेन वर्णयन् ॥
भुक्त्वा भर्तृहरिस्तत्र योगारूढ़ो वनं गतः ।
विक्रमादित्य एवास्य भुक्त्वा राज्यमकंटकम् ॥

इसमें जयन्त नामक ब्राह्मण के तपोबल से इन्द्र से अमृत फल लाने का उल्लेख है । इस ब्राह्मण ने इसे भर्तृहरि को बेच दिया । भर्तृहरि योगारूढ़ होकर

वन को चले गए, तब विक्रमादित्य उनके स्थान पर राजा हुआ। यही कहानी सिंहासन बत्तीसी आदि अन्य पुस्तकों में जिस रूप में प्राप्त है, अन्यत्र दिया गया है।

भविष्य पुराण के अनुसार कलियुग के 3710 वर्ष पश्चात् (सप्तत्रिंशशते वर्षे दशाब्दे चाधिके कलौ) अवन्ति में प्रमर नामक राजा हुआ। उसके पश्चात् उसके वंश में पश्चात् क्रमशः महामद, देवापि, देवदूत और गन्धर्वसेन हुए। गन्धर्वसेन अपना राज्य अपने पुत्र शंख को देकर वन को चले गए। वहां वन में इन्द्र द्वारा भेजी हुई वीरमती नामक देवांगना से गन्धर्वसेन के विक्रमादित्य उत्पन्न हुए। विक्रमादित्य का जन्म शकों का विनाश करने के लिए, आर्य धर्म की स्थापना करने के लिए हुआ था। स्वयं शंकर का गण 'शिव दृष्टि' विक्रम रूप में अवतरित हुआ था। इस विक्रमादित्य को शिवजी ने बत्तीस पुत्तलियों युक्त सिंहासन भी दिया। माता पार्वती ने सिंहासन के साथ वैताल नामक गण भी विक्रमादित्य की रक्षा के लिए भेजा। विक्रमादित्य ने बहुत समय तक राज्य किया। उसने दिग्विजय तथा अश्वमेध यज्ञ किए।

इस पर भविष्य पुराण का यह अंश विक्रम सम्बन्धी सभी कथाओं को एक नवीन रूप में प्रस्तुत करता है। यह कथा मूल भविष्य पुराण में होगी, यह शंकास्पद है; क्योंकि यह तो प्रमर, चाहमान आदि राजपुत्रों की दैवी उत्पत्ति बतलाने के लिए गढ़ी गई ज्ञात होती है।

स्कन्द पुराण में भी विक्रमादित्य का उल्लेख है। कुमारिका खण्ड में लिखा है कि कलियुग के 3000 वर्ष बीत जाने पर अर्थात् लगभग 100 ई० पू० विक्रमादित्य का जन्म हुआ था।

अन्य स्फुट ग्रन्थ—इस प्रसंग में हम गाथा सप्तशती, ज्योतिर्विदाभरण तथा राजतरंगिणी का उल्लेख करेंगे। इन पुस्तकों में विक्रमादित्य का उल्लेख आया है।

इन तीनों में गाथासप्तशती बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह कुन्तल देश के राजा, प्रतिष्ठान (पैठण) नगर के अधीश, शतकर्ण (शातकर्णि) उपनामवाले द्वीपिकर्ण के पुत्र, मलयवती के पति और हालादि उपनाम वाले आंध्रभृत्य सातवाहन के लिए अथवा उसके द्वारा लिखी गई है। इस सातवाहन वंश का ईसवी सन् 225 के आसपास अन्त हो गया था।[1] ऐसी दशा में यह ग्रन्थ उक्त समय के पूर्व ही लिखा

1. स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० 232।

माना जाएगा। इसके रचनाकाल के विषय में बहुत विवाद चलाया गया है। डॉ० देवदत्त भाण्डारकर इसका रचनाकाल ईसा की छठी शताब्दी बतलाते हैं।[1] यह सब खींचतान इस कारण से की गई थी कि डॉ० रामकृष्ण भाण्डारकर का यह मत पुष्टि पा सके कि गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त द्वितीय ही प्रथम एवं शकारि संवत-प्रवर्त्तक विक्रमादित्य था। यदि गाथासप्तशती का रचनाकाल दूसरी शताब्दी विक्रमी मान लिया जाय तो सर भाण्डारकर की यह कल्पना असत्य सिद्ध होती है। परन्तु अब तो इस कल्पना को असत्य सिद्ध करने के एकाधिक आधार ज्ञात हो गए हैं।

डॉ० देवदत्त भाण्डारकर के मत के खण्डन में महामहोपाध्याय रायबहादुर गौरीशंकर हीराचन्द ओझाजी द्वारा दिए गए तर्क हम यहां उद्धृत करते हैं—

'देवदत्त रामकृष्ण भाण्डारकर ने विक्रम-संवत् सम्बन्धी अपने लेख में 'गाथासप्तशती' के राजा विक्रम के विषय में लिखते हुए उक्त पुस्तक के रचनाकाल के सम्बन्ध में लिखा है कि 'क्या गाथासप्तशती वास्तव में उतना पुराना ग्रंथ है जितना कि माना जाता है ? बाण के हर्षचरित के प्रारम्भ के 13वें श्लोक में सातवाहन के द्वारा गीतों के 'कोश' के बनाए जाने का उल्लेख अवश्य है परन्तु इस 'कोश' को हाल की सप्तशती मानने के लिए कोई कारण नहीं है जैसा कि प्रो० वेबर ने अच्छी तरह बतलाया है। उसी पुस्तक में मिलने वाले प्रमाण उसकी रचना का समय बहुत पीछे का होना बतलाते हैं। यहां पर केवल दो बातों का विचार किया जाता है। एक तो उस (पुस्तक) में कृष्ण और राधिका का (1।89) और दूसरा मंगलवार (3।61) का उल्लेख है। राधिका का सबसे पुराना उल्लेख जो मुझे मिल सका, वह पंचतंत्र में है, जो ई० सन् की पांचवीं शताब्दी का बना हुआ है। ऐसे ही तिथियों के साथ या सामान्य व्यवहार में वार लिखने की रीति 9वीं शताब्दी से प्रचलित हुई, यद्यपि उसका सबसे पुराना उदाहरण बुधगुप्त के ई० सन् 484 के एरण के लेख में मिलता है। यदि हम गाथा सप्तशती के हाल का समय छठी शताब्दी का प्रारम्भ मानें तो अधिक अनुचित न होगा' (आर० जी० भांडारकर कोम्मेमॉरेशन वॉल्यूम, पृ० 188-89)। हम उक्त विद्वान् के इस कथन से सर्वथा सहमत नहीं हो सकते क्योंकि बाणभट्ट सातवाहन के जिस सुभाषित रूपी उज्ज्वल रत्नों के कोश (संग्रह, खजाने) की प्रशंसा करता है (अविनाशिनमग्राम्यमकरोत्सातवाहनः। विशुद्धजातिभिः कोशं रत्नैरिव सुभाषितैः॥ 13) वह 'गाथासप्तशती' ही है, जिसमें सुभाषित रूपी रत्नों का ही संग्रह है। यह कोई प्रमाण नहीं कि प्रो० वेबर ने उसे

---

1. भाण्डारकर स्मृति-ग्रन्थ, पृ० 188-89।

गाथासप्तशती नहीं माना इसलिए वह उससे भिन्न पुस्तक होना चाहिए। वेबर ने ऐसी-ऐसी कई प्रमाणशून्य कल्पनाएं की हैं जो अब मानी नहीं जातीं। प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० सर रामकृष्ण गोपाल भांडारकर ने भी वेबर के उक्त कथन के विरुद्ध बाणभट्ट के उपर्युक्त श्लोक का सम्बन्ध हाल की सप्तशती से होना माना है (बम्बई ग्रं० जि० 1, भा० 2, पृ० 171 तै), ऐसा ही डॉक्टर फ्लीट ने (ज० रॉ० ए० सो०; ई० स० 1916, पृ० 820) और 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' के कर्त्ता मेरुतुंग ने माना है (प्रबन्ध-चिन्तामणि, पृ० 26)। पांचवीं शताब्दी के बने हुए पंचतंत्र में कृष्ण और राधिका का उल्लेख होना तो उलटा यह सिद्ध करता है कि उस समय कृष्ण और राधिका की कथा लोगों में भलीभांति प्रसिद्ध थी, अर्थात् उक्त समय के पहले से चली आती थी। यदि ऐसा न होता तो 'पंचतत्र' का कर्ता उसका उल्लेख ही कैसे करता? ऐसे ही तिथियों के साथ या सामान्य व्यवहार में वार लिखने की रीति का 9वीं शताब्दी में प्रचलित होना बतलाना भी ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि कच्छ राज्य के अंधे गांव से मिले हुए क्षत्रप रुद्रदामन् के समय के (शक) संवत् 52 (ई० सन् 130) के 4 लेखों में से एक लेख में 'गुरुवार' लिखा है। (वर्षे द्विपंचाशे 52-2 फाल्गुण बहुलस द्वितीया वी 2 गुरुवास (रे) सिहलपुत्रस ओपशतस गोत्रस० स्वर्गीय आचार्य वल्लभजी हरिदत्त की तय्यार की हुई उक्त लेख की छाप से) जिससे सिद्ध है कि ई० सन् की दूसरी शताब्दी में वार लिखने की रीति परम्परागत प्रचलित थी। राधिका और बुधवार के उल्लेख से ही 'गाथासप्तशती' का छठी शताब्दी में बनना किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता है। डॉ० रामकृष्ण गोपाल भांडारकर ने भी गाथासप्तशती के कर्ता हाल को आंध्रभृत्य वंश के राजाओं में से एक माना है (बम्बई ग्रं० जिल्द 1, भाग 2, पृ० 171) जिससे भी उसका आंध्रभृत्य (सातवाहन) वंशियों के राजत्वकाल में अर्थात् ई० सन् की पहली या दूसरी शताब्दी में बनना मानना पड़ता है।'[1]

'गाथासप्तशती' में विक्रमादित्य के उल्लेख से जहां उसकी ऐतिहासिकता पर प्रभाव पड़ता है, वहां उसके गुणों पर भी प्रकाश पड़ता है। विक्रमादित्य अपार दानी था, यह लोक कल्पना पिछले विक्रमादित्य विरुदधारियों के कारण ही अस्तित्व में नहीं आई है, वह मूल विक्रमादित्य के विषय में भी थी, यह बात सप्तशती की विक्रम विषयक गाथा से स्पष्टतया प्रकट होती है। वह गाथा इस प्रकार है—

1. प्राचीन लिपिमाला, पृ० 168-69।

'संवाहण सुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खं ।
चलणेण विक्कमाइच्च चरिअमणुसिक्खअंतिस्सा ॥ 464 ॥

इस गाथा में चरणों के संवाहन के सुखरस से तुष्ट हुई नायिका द्वारा विक्रमादित्य के चरित्र का अनुकरण करके 'लक्खं' (लाल रंग की लाख या लक्ष मुद्रा) नायक के कर में दिए जाने का भाव प्रकट किया गया है। इसके शृंगार पर के भाव के अनूठेपन से हमें कोई सम्बन्ध नहीं है, न हमें कवि के उपमेय से सम्बन्ध है, हम तो इस गाथा के उपमान 'विक्रमादित्य' पर ही विचार करेंगे। वह विक्रमादित्य ऐसा था जो केवल चरण-स्पर्श से प्रसन्न होकर लाखों मुद्राएं दान दे देता था।

इस गाथा से विक्रमादित्य के दान का पता तो चलता ही है, परन्तु आज के वातावरण में—जबकि विक्रमादित्य के अस्तित्व पर ही शंका की जा रही है अधिक महत्त्व की सूचना तो यह है कि विक्रमीय द्वितीय शताब्दी के पूर्व एक विक्रमादित्य था। इस प्रकार विक्रमीय संवत्सर के प्रवर्त्तन का सेहरा चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा अन्य तथाकथित संवत् प्रवर्त्तकों के सिर नहीं बांधा जा सकता।

विक्रमीय संवत् की तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में (संवत् 1205 वि० के लगभग) लिखी गई कल्हण की प्रख्यात राजतरंगिणी में भी शकारि विक्रमादित्य का उल्लेख मिलता है। परन्तु इसके द्वारा विक्रम-समस्या में गड़बड़ी ही फैली है।

सबसे पहले विक्रमादित्य का उल्लेख कल्हण ने राजतरंगिणी की दूसरी तरंग के पांचवें तथा छठे श्लोक में किया है—

'अथ प्रतापादित्याख्यास्तैरानीय दिगन्तरात् ।
विक्रमादित्य भूभर्तुर्ज्ञातिराभिषिच्यत ॥ 5 ॥
शकारि विक्रमादित्य इति संभ्रममाश्रितैः ।
अन्यैरत्रान्यथालेखि विसंवादिकदर्थितम् ॥ 6 ॥

प्रतापादित्य विक्रमादित्य का रिश्तेदार था, यह लिखकर कल्हण ने यह टिप्पणी की है कि यह वह विक्रमादित्य नहीं जो शकारि था, जैसा कि कुछ लोग भ्रमवश मानते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि राजतरंगिणीकार के समय में यह विवाद था कि प्रतापादित्य का बान्धव विक्रमादित्य शकारि था या नहीं। कल्हण ने अपना यह मत स्थिर किया है कि इस प्रतापादित्य का बान्धव विक्रमादित्य शकारि नहीं था। कल्हण के मस्तिष्क में केवल एक ही 'शकारि' की भावना थी।

इस प्रतापादित्य का समय राजतरंगिणी की गणना से लगभग 169 ई० पू० होता है। अतः यह उल्लेख मूल विक्रमादित्य का ही हो सकता है और एक सौ बारह वर्ष का अन्तर कालगणना की भूल के कारण हो सकता है। इस काल की कल्हण की गणना ठीक मानी भी नहीं जा सकती।

कल्हण ने जिस विक्रमादित्य को शकारि माना है, वह मातृगुप्त का आश्रय-दाता विक्रमादित्य है। वह लिखता है—

तत्रानेहस्युज्जयिन्यां श्रीमान् हर्षापराभिधः।
एकच्छत्रश्चक्रवर्ती विक्रमादित्य इत्यभूत ॥ 125 ॥

काश्मीर में मातृगुप्त के राज्य के समय में उज्जयिनी में किसी हर्ष विक्रमादित्य का राज्य नहीं था। दसवीं शताब्दी में मालवे में एक हर्षदेव परमार अवश्य हुए हैं। फिर यह कल्हण के 'शकारि' हर्ष विक्रमादित्य कौन हो सकते हैं। मातृगुप्त के समय में मालवे पर स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य का शासन था। अतः अनुमान यह किया जाता है कि उक्त श्लोक का मूल पाठ 'श्रीमान् हर्ष पराभिधः' के स्थान पर 'श्री स्कन्द पराभिधः' होगा। और स्कन्दगुप्त के लिए ही कल्हण ने आगे लिखा है—

म्लेच्छोच्छेदाय वसुधां हरेश्वतरिष्यतः।
शकान्विनाश्य येनादौ कार्यभारो लघूकृतः ॥

परन्तु चूंकि कल्हण इस एक विक्रम विरुदधारी को शकारि समझता था इसलिए उसने प्रतापादित्य के समकालीन विक्रमादित्य के शकारित्व पर अविश्वास किया। काश्मीर के इतिहास को केन्द्रविन्दु बनाने वाले इतिहासकार कल्हण ने 57 ई० पू० के मालव विक्रमादित्य के अस्तित्व पर यदि नहीं, तो कम से कम उनके शकारित्व पर शंका का सूत्रपात किया था। परन्तु हमें तो उनसे केवल एक बात लेनी है; वह यह कि ई० पू० में एक विक्रमादित्य था। उस समय उज्जैन से उसने शकों को खदेड़ भगाया था, यह बात हम दूसरी अनुश्रुतियों से पूर्णतः पुष्ट कर सके हैं।

ज्योतिर्विदाभरण कालिदास नामक ज्योतिषी ने लिखा है। यह कालिदास अपने आपको विक्रमकालीन महाकवि कालिदास मनवाने पर तुला हुआ है। वह अपने आपको उज्जयिनी पति विक्रम का मित्र बतलाता है, रघुवंश आदि तीनों काव्यों का कर्त्ता कहता है। वह पुस्तक का रचनाकाल भी संवत् 24 वि० लिखता है। परन्तु इस पुस्तक की घटिया रचनाशैली कहती है कि यह ग्रन्थ रघुवंश के रचयिता का नहीं हो सकता। दूसरे संवत् 24 विक्रमीय में की गई

इस रचना में वि० सं० 135 में प्रारम्भ होने वाले शक-संवत् का भी उल्लेख है, जिससे उक्त ग्रन्थ की भ्रामक तिथि भी प्रकट होती है। परन्तु इस ग्रन्थ को अप्रामाणिक मानने में हमारे अनेक मित्रों का जी दुखता है। इस विवाद में पड़ना यहां अभीष्ट भी नहीं है, अतः हम यहां तो केवल इतना ही कह देना चाहते हैं कि 'भारतीय ज्योतिःशास्त्र' में श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित इस ग्रंथ का रचनाकाल विक्रमीय तेरहवीं शताब्दी के अन्त में मानते हैं।

इस ग्रन्थ में विक्रम की सभा के जो नवरत्न गिनाए गए हैं उनका उल्लेख हो चुका है। उनके अतिरिक्त मणि, अंशु, गिष्णु, त्रिलोचन, हरि कवि तथा सत्य श्रुतसेन, बादरायण, मणित्थ और कुमारसिंह ज्योतिषी और गिनाए हैं। उसकी सेना भी बहुत विशाल बताई गई है। तीन करोड़ पैदल सिपाही, दस करोड़ अश्वारोही, चौवीस हजार हाथी के अतिरिक्त उसके पास चार लाख नावें भी बतलाई हैं। उन्होंने 95 शक राजाओं को हराकर अपना संवत् चलाया। (कालकाचार्य कथानक के 96 साहियों से यह संख्या मिलती है) इस ग्रन्थ में यह भी लिखा है कि विक्रमादित्य रूम देश के 'शक' राजा को जीतकर उज्जैन लाया, परन्तु फिर उसे छोड़ दिया। (रोम सम्राट् को विक्रमादित्य हराकर उज्जैन लाए या नहीं, इस विषय में तो हम मौन रहना ही श्रेयस्कर समझते हैं, यहां हम केवल इतना लिखना उचित समझते हैं कि उस समय, अर्थात् 57 ई० पू० के आसपास, रोम में परम प्रतापी जूलियस सीजर प्रभावशाली था और 45 ई० पूर्व में रोम की सीनेट ने उसे आजीवन डिक्टेटर बना दिया था।)

समन्वय—विक्रमादित्य सम्बन्धी अनुश्रुतियों का दिग्दर्शन हम कर चुके हैं। अब इन सब विभिन्न कथाओं का समन्वय कर हम विक्रमादित्य का अनुश्रुति-सम्मत रूप प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे।

सबसे प्रथम तो विक्रमादित्य के माता-पिता, भाई, बान्धव मंत्री आदि के नामों को ही लेते हैं। यह सब एक स्थल पर नीचे की सारिणी से एक दृष्टि में ज्ञात होंगे—

	कालक-कथा	कथासरित्सागर	वेतालपच्चीसी	भविष्य पुराण	सिंहासनबत्तीसी	प्रबन्ध चिन्तामणि
	1	2	3	4	5	6
पिता ...	गर्दभिल्ल...	महेन्द्रादित्य ...	गन्धर्वसेन	गन्धर्वसेन	गर्दभ वेशधारी गंधर्व, (केवल जैन पाठ में)	...
माता ...	...	सौम्यदर्शना ...	...	वीरमती	मदनरेखा (केवल जैन पाठ में)	...
भाई ...	...	...	1. शंख ... 2. भर्तृहरि	1. शंख ... 2. भर्तृहरि	भर्तृहरि (जैन पाठ में)	भर्तृहरि
पुत्री ...	...	...	...	...	...	...
विवाह ...	...	सात पत्नियां ... मलयावती, मदनलेखा आदि	...	...	...	प्रियंगुमंजरी
पुरोहित ...	...	...	...	...		...
मंत्री ...	...	...	...	...	1. त्रिविक्रम 2. वसुमित्र	...
सेनापति ...	...	विक्रमशक्ति ...	...	...	भट्टि, बहिसिन्धु चन्द्र	...

साथ ही इन सब कथाओं को एक में मिलाकर जो विक्रम चरित्र बनता है उसे अत्यन्त संक्षेप में नीचे दिया जाता है :—

1. जन्म, माता-पिता और भाई—विक्रमादित्य के जन्म के सम्बन्ध में अनेक असाधारण एवं अलौकिक बातें सम्मिलित हो गई हैं। विक्रमादित्य भारतीय अनुश्रुति में अत्यन्त महान् व्यक्ति माने गए हैं। ऐसे व्यक्ति का जन्म किसी विशेष उद्देश्य से होता है। राम और कृष्ण के जन्म का हेतु धर्म की स्थापना, दुष्टों का दलन एवं सन्तों की रक्षा था। उसी प्रकार विक्रम का जन्म भी भविष्य पुराण के अनुसार 'शकानांश्च विनाशार्थं' एवं 'आर्य धर्म विवृद्धये' हुआ था। कथा-सरित्सागर के अनुसार भी उसका अवतरण म्लेच्छों से आक्रांत पृथ्वी के उद्धार के लिए हुआ था। इन दोनों कथाओं में शिवजी के गण 'माल्यवान्' ने विक्रमा-दित्य के रूप में अवतार लिया था।

प्रबन्ध चितामणि में विक्रम के पिता का नाम नहीं दिया और न उसके जन्म में कोई अलौकिकता बतलाई गई है। सिंहासनबत्तीसी के जैन पाठ में गर्दभरूप-धारी गन्धर्व है, कालकाचार्य कथा में गर्दभिल्ल तथा वेतालपच्चीसी और भविष्य पुराण में गन्धर्वसेन है। इन सब नामों में बहुत अधिक ध्वनिसाम्य है। कथा-सरित्सागर का 'महेन्द्रादित्य' नाम अवश्य भिन्न है। माता के नाम में तो साम्य बिलकुल नहीं है।

2. राज्य-प्राप्ति—प्रबन्ध चिन्तामणि ने विक्रम को गरीब तथापि स्वाभि-मानी राजपुत्र बतलाया है। उसने अग्निवेताल से लड़कर अवन्ति का राज्य प्राप्त किया। कथासरित्सागर, भविष्य-पुराण, कालक-कथा, सिंहासनबत्तीसी एवं वेतालपच्चीसी सभी उसे राजा का बेटा बतलाते हैं, इनमें से कुछ में वह भाई शंख से राज्य लेता है, कुछ में भर्तृहरि से तथा कुछ में सीधा अपने पिता से।

3. राज्य-विस्तार—विक्रमादित्य का राज्य विस्तार भी अत्यधिक बतलाया गया है। कथासरित्सागर में उन देशों की गणना कराई गई है (पीछे देखिए)। कथासरित्सागर का विक्रमादित्य सिंहल, मलयद्वीप आदि के राजाओं का मित्र था। सिंहासनबत्तीसी के अनुसार पाण्ड्यदेश से इसे कर मिलता था। वास्तव में अनुश्रुति का विक्रम समस्त संसार का एकछत्र सार्वभौम सम्राट् था, रूम और चीन तक तो वह विजय करने जाया करता था और फारस के राजा को उसका सेनापति ही बांध लाता था।

4. शौर्य, दान और परोपकार—राजा विक्रमादित्य की युद्ध-वीरता की कथा वर्णन करने में अनुश्रुति ने अधिक समय नहीं लगाया। परन्तु दूसरे की थोड़ी-सी भलाई के लिए वह अपने प्राण देने को भी नहीं चूकता था। करोड़ों की संख्या में वह दान देता था। संसार को ऋण-ग्रस्त देख वह सबको ऋणहीन

करने पर कटिबद्ध हो जाता था। अपने प्राणों की बाजी लगाकर प्राप्त हुई सिद्धियों को वह बिना सोचे-समझे दे डालता था। यहां तक कि अपने विरुद्ध युद्ध करते हुए शालिवाहन के आदमी को वह अमृत दे देता है।

5. विक्रम-राज—तुलसीदास ने रामराज्य में सभी सुखों की कल्पना की है। हमें भी सिंहासनबत्तीसी में विक्रमराज की बड़ी विशद् एवं सुन्दर कल्पना मिली है। उन उद्धरणों को पूरा-पूरा हम पीछे दे चुके हैं। दिन-रात प्रजा-पालन में तत्पर; परदुखपरायण विक्रम की प्रजा सुखी हो, यह स्वाभाविक ही है।

6. 'संवत्-प्रवर्त्तन—विक्रमादित्य ने संवत्-प्रवर्त्तन कब और कैसे किया, इसके विषय में अनुश्रुति में बहुत स्पष्ट उल्लेख नहीं है। प्रबन्ध चिन्तामणि में विक्रम की मृत्यु से संवत् का प्रारम्भ माना है। सिंहासनबत्तीसी में पृथ्वी को ऋणहीन करके संवत् प्रवर्त्तन किया है। कालक-कथा के अनुसार शकों को हराकर विक्रम ने संवत् प्रवर्त्तन किया।

7. शालिवाहन और विक्रम की मृत्यु—जन्म के समान ही विक्रमार्क का अवसान भी लोककथा अत्यन्त रहस्यपूर्ण बतलाती है। विक्रम का प्रतिष्ठान के शालिवाहन से वैर भी लोक-प्रसिद्ध हो गया है। कुछ ग्रन्थों में शालिवाहन प्रतिष्ठान का राजा है, कुछ में ढाई वर्ष की बालिका से उत्पन्न शेषनाग का पुत्र। परम पराक्रमी विक्रम को मारने वाला शालिवाहन भी अलौकिक बन गया।

8. सिंहासन आदि—विक्रम का सिंहासन और उसके मित्र वेताल के साथ-साथ वररुचि, कालिदास आदि भी इन कथाओं में कहीं-कहीं दिखाई देते हैं। विक्रम का सिंहासन तो भारतीय कथा साहित्य की अत्यन्त आकर्षक वस्तु बन गई है। विक्रम के अतिरिक्त उस पर कोई दूसरा बैठ नहीं सकता। उस पर बैठ कर न्याय बुद्धि एवं शासन-क्षमता, उदारता आदि का अपने आप उदय होता है।

उपसंहार—वैक्रम-अनुश्रुति के महासागर में से यह कुछ रत्न परखकर उनकी लोकरंजनकारी द्युति का विवेचन यहां किया है। विशुद्ध ऐतिहासिक सामग्री यदि अस्थियों का पंजर है तो लोककथा उसके ऊपर चढ़ा हुआ मांस एवं चर्म है। यह एक-दूसरे के पूरक हैं। इससे यह स्पष्ट है कि लोक-मस्तिष्क में इतना गहरा प्रविष्ट होने वाला परदुखभंजन, जन-मन-रंजन, दानी, संवत्-प्रवर्त्तक वीर विक्रमादित्य केवल कल्पना मात्र नहीं हो सकता। इतना अवश्य है कि पिछले विक्रमादित्य उपाधिधारी सम्राटों की छाया ने मालवगण-नायक मूल विक्रम की तसवीर को लोक-मस्तिष्क रूपी पट पर अत्यन्त गहरे रंगों से रंग दिया है। गुप्तवंशीय सम्राटों के विक्रमादित्य विरुद के कारण यह गण-नायक सम्राट बना, उनकी दिग्विजयों को देखकर उस स्वातन्त्र्य प्रेमी जाति के नेता को

रोम, फारस, मलय, लंका आदि का विजेता बनना पड़ा। यह सब कुछ होने हुए भी लोक कल्पना का विक्रमादित्य अपने आप में पूर्ण है, इसे इतिहासज्ञों के निर्णय की चिंता नहीं, उसकी मूर्ति भारतीय संस्कृति की प्रतीक बन गई है, उसका संवत् भारत का राष्ट्रीय एवं धार्मिक संवत्सर हो गया है। भारतीय संस्कृति की अजस्र धारा के साथ एवं विक्रम-संवत् की अनन्त यात्रा के साथ वीर विक्रमादित्य का नाम भी अमर रहेगा।

त्रिविक्रम

□ श्री कृष्णाचार्य

विक्रमादित्य उपाधि या नाम से अनेक सम्राट् भारत में हो गए हैं। जन-साधारण की धारणा है कि इस नाम का परम पराक्रमी सम्राट् उज्जैन में हो गया है। प्राचीन इतिहास से अभी तक यह निश्चय नहीं हो पाया है कि उज्जयिनी में कोई विक्रमादित्य हुआ। एक इतिहासकार किसी को संवत्-प्रवर्त्तक विक्रमादित्य बतलाता है तो दूसरा उसके विरुद्ध प्रमाण देता है। जनश्रुति यह है कि विक्रम इसी नगरी का राजा था; उसी ने नवीन संवत् चलाया (ठीक दो हजार वर्ष पहले), शकों को हराया, प्रजा में शान्ति स्थापित की। उसकी बुद्धि, न्याय और दान की अनेक कहानियां प्रचलित हैं।

आज हम पाटलिपुत्र, कल्याण और तंजौर (तंजुवुर) के विक्रमादित्यों की चर्चा करेंगे। प्राचीन भारत के साहित्य के गम्भीर अनुशीलन से पचीसों विक्रमादित्यों को प्रकाश में लाया जा सकता है। विक्रमदेव[1], विक्रमसेन[2], विक्रमराज[3] और विक्रमार्क[4] जैसे कुछ अल्प नामान्तरों पर ध्यान न दिया जाय तो ज्ञात होगा कि भारत-भूमि ने अनेक यशस्वी राजाओं को जन्म दिया। दक्षिणापथ के शासकों ने भी अपने नाम को विक्रम चोल और विक्रम पांड्य जैसे विरुदों से धन्य किया।

चालुक्य वंश के छह सम्राटों ने इस उपाधि को धारण किया। किन्तु सर्व-प्रथम गुप्त सम्राटों ने ही विक्रम शब्द का मान किया, भारत के अन्य सम्राट् इसको गुप्तों जैसी प्रतिष्ठा न दे सके। राजपूत काल में गांगेयदेव भी कलचुरिवंश का ख्यातिलब्ध शासक हो गया है, इसके दानपत्रों में भी विक्रमा-

---

1. डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इण्डिया, पृ० 1041।
2. नेपाल वंशावली।
3. वही।
4. चापवंशीय राजा।

दित्य' उपाधि का उल्लेख पाया जाता है।[1] अपने स्वामी को लगभग बीस युद्धों में शत्रु को हराने का यश दिलानेवाले हेमू[2] ने भी 'वक्रम' विरुद को अपनाया।

स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य

स्कन्दगुप्त द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के पौत्र थे। अपने राज्यकाल के प्रारम्भ में स्कन्द ने प्रजा को आन्तरिक षड्यंत्रों तथा बाह्य आक्रमणों से त्रस्त पाया। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि स्कन्दगुप्त अपने सौतेले भाई पुरगुप्त से सिंहासन के लिए लड़े, किन्तु इस घटना का कोई प्रमाण नहीं।

जिस समय स्कन्दगुप्त के पिता महाराजाधिराज कुमारगुप्त राज्य करते थे, उसी समय विदेशी बर्बर हूणों ने सीमा-प्रान्त पीड़ित कर रखा था। अपनी विलासी प्रवृत्ति के कारण कुमारगुप्त ने इन हलचलों की ओर उचित ध्यान न दिया। वह चाहते तो हूणों पर विजय प्राप्त कर प्रजा को अभय दान देते। हूणों ने गांधार, उद्यान और उरश में अपना आतंक फैला रखा था। भारत के उत्तरी द्वार की अवहेलना का परिणाम यह हुआ कि 'पांचवीं शताब्दी के अन्त में कपिशा, गांधार और नगरहार के समृद्ध नगर (गुप्त साम्राज्य के प्रान्त) भारत के मानचित्र से सदैव के लिए मिट गए। इस आक्रमण ने उत्तरी भारत में अन्तिम यूनानियों के बचे-खुचे संस्मरण खो दिए। हूणों के आने के बाद भारत से उस सभ्यता का लोप हो गया जिसने शक, कुषाण तथा अन्य जातियों को पचा लिया था। उनके पादाक्रान्त ने महान् कुषाण सम्राटों द्वारा निर्मित मन्दिर, विहार तथा अन्य वैभव-प्रतीक धूलधूसरित कर दिए। उसी समय तक्षशिला का विश्व-विद्यालय भूगर्भ में विलीन कर दिया गया।'[3] इन हूणों से स्कन्दगुप्त अपने पिता के राज्यकाल में ही लड़ने चला। भितरी के स्तम्भ-लेख से प्रमाणित है कि उसने हूणों की बढ़ती बाढ़ को एक बार फिर रोका—
'हूणैर्यस्य समागतस्य समरेदोर्भ्या धरा कंपिता।'

किन्तु अपने वीर पुत्र की इस महान् विजय का जयनाद महाराजाधिराज कुमारगुप्त न सुन सके। 'पिता की मृत्यु के उपरान्त विप्लुत होती हुई वंशलक्ष्मी को (स्कन्दगुप्त ने) अपने भुजबल से अरि को जीतकर भूमि पर पुनः स्थापित किया; और जलभरे नेत्रोंवाली अपनी मां से मिलकर उसे परितोष दिया—ठीक

---

1. खैरह और जबलपुर के दानपत्र।
2. मुसलमान इतिहासकारों ने इसे विक्रमादित्य लिखा है। उनके मत से वह हिन्दू राज्य स्थापित करना चाहता था।
3. इम्पीरियल गुप्ताज, आर० डी० बनर्जी।

उसी प्रकार जिस तरह कृष्ण ने अपने रिपु (कंस) को मारकर देवकी को छुड़ाकर दिया था।'[1] इन काव्यात्मक ऐतिहासिक उद्‌गारों ने स्कन्द के शौर्य को अमर कर दिया है। मां के नेत्रों में वैधव्य और विजयोल्लास एक साथ व्यक्त हो रहे हैं। देवकी और कृष्ण की उपमा से उस संकटावस्था का स्पष्ट आभास मिलता है, 'विचलित कुल-लक्ष्मी को फिर से अचल करने के लिए त्रियाम क्षितितल पर ही (स्कन्दगुप्त ने) शयन किया।'[2] समरभूमि में कहां थे पर्यंक तथा अन्य विलास-वैभव! शत्रु से घोर संग्राम करने के बाद प्रजावत्सल सम्राट् को अवश्य ही उस माता की गोद में मीठी निद्रा आई होगी, जिसने उस सम्राट् को जन्म दिया और जो मृत्यु के उपरान्त भी अपने अंक में 'लक्ष्मी द्वारा वरण किए हुए'[3] सम्राट् को समेट लेगी।

सुदर्शन झील—स्कंदगुप्त पूर्व से पश्चिम तक फैले हुए प्रदेशों की स्वयं कैसे देखभाल कर सकता था। अतः दूरस्थ प्रान्तों में योग्य प्रति निधि नियुक्त किए। गिरनार स्थान से प्राप्त शिलालेख में एक ऐसे ही योग्य, पर्णदत्त नाम के प्रान्तपाल का उल्लेख हुआ है। यह लेख अत्यन्त पुराना है। सैकड़ों वर्ष के अन्तर से उत्पन्न होनेवाले कई सम्राटों के शिल्पियों की लेखनी का सौभाग्य प्राप्त करने के कारण महत्त्वपूर्ण माना जाता है। महाराज अशोक के पिता चन्द्रगुप्त मौर्य के मंत्री पुष्यगुप्त ने सौराष्ट्र में प्रजा के हित के लिए एक झील का निर्माण कराया था। अशोक के समय सौराष्ट्र मंडलाधीश यवन तुषास्फ था। तुषास्फ ने भी जनता-जनार्दन की सेवा के लिए उस जलाशय में से नहरें निकलवाई थीं। विक्रम-संवत् 207 में सुराष्ट्र और मालवा का राजा रुद्रदामन् था। इस शक सम्राट् ने भी उसी शिला पर अपनी यशोगाथा खुदवाई। रुद्रदामन् की इस प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि उसने अपनी निजी सम्पत्ति द्वारा इस कासार का जीर्णोद्धार कराया। उसने इस झील का विस्तार तिगुना कराकर 'सर्व तटों' पर सेतु (बांध) निर्मित कराए।[4]

---

1. पितरिदिवमुपेते विप्लुतां वंशलक्ष्मीं भुजबलविजितारिर्यः प्रतिष्ठाप्य भूयः। जितमिव परितोषान् मातरं साश्रुनेत्रां हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेतः॥
2. विचलितकुललक्ष्मीस्तम्भनायोद्यतेन क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा। समुदितबलकोशान् पुष्यमित्रांश्च जित्वा क्षितिपचरणपीठे स्थापितो वामपादः। (भितरी से)
3. स्वमात् कोशात् महता धनौघेनातिमहता च कालेन त्रिगुणदृढतरविस्तारायामं सेतुं विधाय सर्वतटे। (महाक्षत्रप रुद्रदामन् की गिरनार प्रशस्ति।)
4. जयीहलोके सकलं सुदर्शनं पुत्रान् हि दुर्दर्शनतां गतं क्षणात्। (स्कन्दगुप्त का लेख।)

स्कन्दगुप्त के समय यह प्रसिद्ध ऐतिहासिक झील फिर जीर्ण हो गई थी; जल सूख गया। वास्तव में सुदर्शन के स्थान पर वह अब दुर्दर्शन नाम सार्थक कर रही थी।[1] प्रजा को विशेषकर गर्मी के दिनों में कष्ट होने लगा, अतः प्रभूत धनराशि लगाकर उसके उद्धार में फिर हाथ लगाया गया। सुदर्शन-उद्धार के साथ-साथ वहां के स्थानीय शासक चक्रपालित ने विष्णु मन्दिर की स्थापना भी कराई।

इसी प्रकार न जाने कितने लोक-संग्रहात्मक कार्यों में परमभागवत स्कन्दगुप्त ने हाथ लगाया होगा! कहा जाता है कि हूणों से तृतीय बार युद्ध करते-करते इस विक्रमादित्य ने प्राणों की आहुति दी। गुप्तवंश में स्कन्द अन्तिम प्रतिभासंपन्न और प्रभावशाली नृप हुआ। इस सम्राट् के उपरान्त गुप्तों का सूर्य सदैव के लिए गुप्त हो गया।

विक्रमादित्य षष्ठ : कल्याण चालुक्य

चालुक्य वंश में छह विक्रमादित्य हो गए हैं, किन्तु इनमें सर्वश्रेष्ठ सम्राट् षष्ठ विक्रमादित्य हुए। इनके पिता सोमेश्वर के तीन पुत्र थे—सोमेश्वर द्वितीय, विक्रमादित्य और जयसिंह।

मझले भाई विक्रमादित्य ने युवराजकाल में ही आसपास के शक्तिशाली शासकों से लोहा लिया। सर्वप्रथम केरल के सम्राट् को नतमस्तक किया। विक्रमादित्य को अपनी ओर प्रयाण करते सुनकर सिंहल के राजा ने पराजय स्वीकार कर ली। अब पल्लवों को परास्त करने का संकल्प किया। पल्लव-वंश के राजाओं से विक्रमादित्य के पूर्वज लड़ चुके थे और पल्लवों का दमन भी किया जा चुका था। पल्लवों की शक्ति क्षीण नहीं हो पाती थी, कुछ ही समय में युद्ध के लिए फिर प्रस्तुत हो जाते थे। विक्रमादित्य[2] के राजकवि बिल्हण ने अपनी प्रसिद्ध ऐतिहासिक पुस्तक 'विक्रमांकदेवचरित' में लिखा है कि चोलपति 'भागकर कन्दराओं में छिप गए।' विक्रम ने कांची में प्रवेश कर अपार धन प्राप्त किया। इसी प्रकार वेंगी और चक्रकोट में अपनी साख स्थापित की।

---

1. व्यपत्य सर्वान्मनुजेन्द्रपुत्रान् लक्ष्मीः स्वयं यं वरयाञ्चकार।
2. विक्रमादित्य के पिता सोमेश्वर प्रथम भी ख्यातिलब्ध शासक थे; इन्होंने भी चोल 'राजाधिराज' को हराया। वे कृष्णा नदी के किनारे युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुए। इसी प्रकार मालवा और कांची तक अपना प्रभुत्व फैलाया। उत्तर में (बुन्देलखण्ड) कर्ण को हराया। सोमेश्वर शैव थे; भयानक ज्वर और शरीर से छुटकारा पाने के लिए उन्होंने तुंगभद्रा नदी में प्रवेश कर प्राण विसर्जित किए।

विक्रमादित्य षष्ठ अनेक देशों को जीतने में लगे ही हुए थे कि अचानक ही पिता के तुंगभद्रा में प्रवेश कर शरीर छोड़ने का समाचार मिला। विक्रम कल्याण में लौट आए और नवीन सम्राट् (अपने ज्येष्ठ भाई सोमेश्वर द्वितीय) को युद्ध से प्राप्त समस्त धन भेंट किया। 'विक्रमांकदेवचरित' पढ़ने से विदित होता है कि सोमेश्वर का व्यवहार विक्रमादित्य के प्रति प्रशंसनीय रहा, किन्तु वह प्रेम स्थाई न रह सका। कल्हण के शब्दों में वह 'प्रजाउत्पीड़क' शासक था। दिन पर दिन स्थिति बदलती गई। अन्त में विक्रमादित्य ने अपने छोटे भाई जयसिंह को साथ लेकर राजनगरी त्याग दी। सम्राट् सोमेश्वर ने (सम्भवतः) विक्रमादित्य के पराक्रम से भयभीत होकर पीछे से सेना भेजी, किन्तु उस सेना को अनुभवी विक्रमादित्य से परास्त होकर दुर्दशाग्रस्त अवस्था में लौटना पड़ा।

विक्रमादित्य ने युवराजकाल में जीते हुए प्रदेशों में सेना लेकर आपत्तिकाल में काम आनेवाले मित्रों की परीक्षा करने की इच्छा की। तुगभद्रा नदी के तट पर सेना का संगठन किया गया। बनवासी के राजा ने विक्रमादित्य के साथ सहानुभूति का व्यवहार किया और यहां कुछ दिन तक उसे ठहरना पड़ा। आगे बढ़ने पर विक्रम का सत्कार मलय, कोंकण और अलूप के शासकों ने भी किया। केरल सम्राट् (मालाबार) ने युद्ध करना ही निश्चित किया; किन्तु विक्रमादित्य को कुछ भी कठिनाई न हुई, उसके विक्रम ने शीघ्र ही उसे झुका दिया। अब कांची में द्रविड़ों से मुठभेड़ होने की प्रारम्भिक अवस्था में ही कांचिराज झुक गए, यहां तक कि अपनी कन्या देकर विक्रम को अपना जामातृ बनाया। विक्रमादित्य तुंगभद्रा लौट आए। किन्तु उसी समय वेंगी के राजा ने कांची को हस्तगत कर लिया। चालुक्यों के आक्रमणों से कांची के पल्लव शासक निर्बल हो गए थे, जो चाहता वही घुस पड़ता। दूसरे कांची के सम्राट् वृद्ध थे। इस सफलता से उत्साहित हो वेंगीपति ने विक्रमादित्य के भाई सम्राट् सोमेश्वर को भी भड़काया। वेंगी और चालुक्य सम्राटों ने एक साथ तुंगभद्रा पर आक्रमण करके विक्रम की शक्ति को नष्ट करना चाहा। विक्रमादित्य विचलित नहीं हुए। अपने शौर्य और बुद्धि-वैभव से आगे और पीछे दोनों सेनाओं को एक साथ हराया। सर्वप्रथम श्वसुर का उद्धार किया, उसके उपरान्त कल्याण में प्रवेश किया। कुछ 'संकोच' के साथ भाई को सिंहासनच्युत कर बन्दी बनाया।

विक्रम-संवत् 1075 में विक्रमादित्य का अभिषेक हुआ। विक्रमादित्य ने पचास वर्ष तक राज्य कर प्रजा में शान्ति स्थापित की। सम्राट् होने के उपरान्त भी यत्र-तत्र युद्ध चलते रहे, किन्तु कुलपरम्परा के अनुसार अब युद्धों का भार उसके ज्येष्ठ पुत्र 'राजाधिराज' पर आ गया।

विक्रमादित्य ने अभिषेक के दिन से नवीन संवत् भी प्रचलित किया, किन्तु वह शीघ्र लुप्त हो गया। विक्रमादित्य के जीवन का अधिकांश भाग युद्ध में

व्यतीत हुआ। अपने भाई को सिंहासन-च्युत करने वाली घटना सिद्ध करती है कि राजदण्ड शक्तिशाली हाथों में ही रह सकता है।

अन्य विक्रमादित्यों की भांति चालुक्य-वंश का यह सम्राट् भी विद्याप्रेमी था। याज्ञवल्क्यस्मृति पर टीका करने वाले दो प्रसिद्ध विद्वान् हुए। प्रथम बंगाल के जीमूतवाहन और द्वितीय विज्ञानेश्वर। विज्ञानेश्वर की टीका मिताक्षरा जीमूतवाहन से भी अधिक प्रामाणिक समझी जाती है, क्योंकि सारे भारत में, बंगदेश को छोड़कर, विज्ञानेश्वर का मत प्रचलित है। यह विज्ञानेश्वर, मिताक्षरा के लेखक, विक्रमादित्य की सभा के ही रत्न थे। दूसरे प्रसिद्ध विद्वान् काश्मीरी पंडित विल्हण थे। ऊपर बतलाया जा चुका है कि आपने 'विक्रमांकदेवचरित' नामक प्रसिद्ध ऐतिहासिक पुस्तक की रचना की है। संस्कृत-साहित्य में बाण के 'हर्षचरित' के अतिरिक्त दूसरा ऐतिहासिक ग्रन्थ यही है।

विक्रमादित्य त्रिभुवनमल्ल, कलिविक्रम और परमाडिराय नामों से भी प्रसिद्ध थे। वास्तविक नाम इन्हीं में से कोई रहा होगा; किन्तु रणक्षेत्रों में अनेक विजयों को अर्जित करने के कारण विक्रमादित्य नाम से प्रसिद्ध हो गए। विल्हण लिखता है कि विक्रमादित्य की रानी (महिषी महादेवी) चन्द्रलेखा अनुपम सुंदरी थी। विक्रम को उसने एक स्वयंवर में वरण किया। महाशय भांडारकर स्वयंवर-वाली घटना पर सन्देह करते हैं, किन्तु जब तक इसके विपक्ष में कोई प्रमाण नहीं मिलता तब तक इस घटना को सत्य ही मानना उचित है। विक्रमादित्य ने विष्णु के एक मन्दिर की स्थापना कराई और उस मन्दिर के सम्मुख सुन्दर तड़ाग निर्मित हुआ। उसने विक्रमपुर नगर भी बसाया। विल्हण लिखता है कि पुरवासी उसके शासनकाल में 'रात में भी ताले नहीं लगाते थे; चोरों के स्थान पर सूर्य रश्मियां ही दूसरों के घरों में चुपके से प्रवेश करती थीं।'

विक्रम चोल

नवीं शताब्दी में तंजौर को केन्द्र मानकर चोल राज्य साम्राज्य के रूप में विकसित हुआ। इस राजवंश में प्रथम प्रतापी राजा राजराज चोल हुए। अपने 28 वर्ष के शासनकाल में (विक्रम-संवत् 1042 से 1069 तक) आसपास के सम्राटों, जैसे चेर, वेंगी के चालुक्य, मालाबार तट पर कोल्लम, कलिंग के उत्तरी खण्ड, कुर्ग और पांड्यों को हराया और इनमें से अधिकांश को अपनी छत्रछाया में कर लिया। किन्तु राजराजदेव के अद्भुत पराक्रम का आभास तब हुआ जबकि उसने भारत के बाहर भी अपना समुद्री बेड़ा दृढ़ करके लंका पर आक्रमण किया। अपने राज्यकाल के बीसवें वर्ष में लंका को भी साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया; समुद्री सेना के बल पर अन्य कई द्वीपों से भी धन एकत्रित किया

[लकदीव (?) और मालदीव (?)]। उस समय ब्रह्मा तक चोल राज्य के नाविक आया-जाया करते थे।

राजराज से भी अधिक ऐश्वर्यवान् सम्राट् राजेन्द्र चोल, जिसको विक्रम चोल भी कहा गया है, हुआ। लंका-विजय के उपरान्त राजराज ने स्वयं युद्धों में भाग लेना कम कर दिया और विक्रम चोल को अपने वंश-परम्परा के अनुसार युद्ध कार्यक्रम का भार विक्रम-संवत् 1068 में दे दिया।

राजेन्द्र या विक्रम चोल आज इस संसार में नहीं है किंतु वह अपने पीछे सैकड़ों लेख साक्षी स्वरूप छोड़ गया है। इन लेखों में उसकी वीरता के मनोरंजक वर्णन आज भी एक हजार वर्ष पहले के इतिहास की कहानी कहने को प्रस्तुत हैं।

तिरु मन्नि वलर लेख से ज्ञात हुआ है कि अपने राज्यकाल के तीसरे वर्ष (राज्यकाल विक्रम-संवत् 1069) में वीर राजेन्द्र ने इडुतुरईनाडू, बनवासी, कोल्लीपीप्पाक्कई और मण्डैक कडम्कम् को जीत लिया।

दूसरा पग चालुक्यों के विरुद्ध उठाया गया।[1] सत्याश्रय उस समय चालुक्यों के सम्राट् थे। विक्रम ने श्रुतिमान नक्कन चन्द्रन को शत्रु के हाथी पर आक्रमण करने की आज्ञा दी। चन्द्रन युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुए। यह युद्ध अन्त में स्वयं विक्रम को लड़ना पड़ा। तुंगभद्रा पार जा शत्रु के हृदयदेश में युद्ध करके राजधानी तक अपने रथों के चक्रों को प्रवर्तित किया। इस प्रकार पल्लवों के स्थान पर चोलों से चालुक्यों का शत्रुभाव का विनिमय हुआ। सारे दक्षिण में पल्लवों के उपरान्त अब चोल सर्वोपरि शासक हो गए। युद्ध का अन्त चार वर्षों में हुआ।

लंका-विजय—सिंहासनस्थ होने के पांचवें वर्ष धुर दक्षिण की ओर विजय-वाहिनी चली। लंका में उस समय महिन्द पंचम राज्य करते थे।[2] राजेन्द्र के पास समुद्री युद्ध में कुशल योद्धाओं और पोतों का अभाव न था। पिता द्वारा आयोजित की हुई सेना को और अच्छी तरह से दृढ़ करके विक्रम चोल ने भी लंका पर द्वितीय चोल-आक्रमण किया। राजधानी में प्रवेश करके बहुमूल्य राज-मुकुट हरण किया। इन्द्र के मुकुट और हार भी, जो पूर्व समय में पांड्यों के पास थे, हस्तगत किए। लंका चोल साम्राज्य के अन्तर्गत मिला लिया गया।

केरलों से युद्ध—केरल विजय का ठीक-ठीक स्वरूप बतलाना कठिन है। इतना निश्चित है कि केरल और पांड्य को जीतकर राजेन्द्र ने अपने साम्राज्य

---

1. होट्टूर लेख।
2. महावंश।

में सम्मिलित कर लिया। इन भागों पर अपने पुत्र 'जयवर्मन् सुन्दर चोलपांड्य' को शासक नियुक्त कर दिया। तुंगभद्रा से लेकर लंका तक के प्रदेशों पर चोल राज्य की ध्वजा फहराने लगी।

विक्रम-संवत् 1078 में पश्चिमी चालुक्यों से फिर युद्ध हुआ। 'तामिल-प्रशस्ति' के अनुसार 'साढ़े सात लाख दृढ़ स्वभाव वाले रट्टपाड़ि (निवासी), विपुल धनराशि तथा जयसिंह की ख्याति को हर लिया। मुशंगी के रणक्षेत्र से पलायन कर चालुक्यों का राजा कहीं जा छिपा।' श्री नीलकण्ठ शास्त्री के मत से विक्रम को धन तो मिला किन्तु जनपद सम्बन्धी लाभ नहीं हुआ; उनकी धारणा है कि तमिल प्रशस्ति की साढ़े सात लाख रट्टपाड़ियों के आत्मसमर्पण की बात अत्युक्तिपूर्ण है।

दिग्विजय यात्रा—साम्राज्यवादी नीति को छोड़ धर्मशास्त्रों में वर्णित दिग्विजय की भावना से प्रेरित हो विक्रम चोल ने गंगा के मैदानों की ओर अपने कुशल सेनापति दण्डनाथ को भेजा। इस यात्रा का मूल अभिप्राय गंगा का पवित्र जल लाकर चोल राज्य को पवित्र करना था। तिरुवालंगाडु[1] के अभिलेख में इस यात्रा का विस्तृत वर्णन दिया है—'स्वर्ग से गंगा लानेवाले सूर्यवंश-अवतंस राजा भगीरथ की तपस्या का उपहास करता-सा' वह गंगाजल के लिए उत्सुक हुआ। चोल सेना ने हाथियों के सेतु के सहारे कई नदियां पार कीं। सर्वप्रथम चन्द्रवंश-तिलक इन्द्ररथ पर चढ़ाई की गई, फिर रणसूर का राजकोष हस्तगत किया। बंगदेश के राजा महीपाल को भी झुक जाना पड़ा। लेखों में जल लाने के भाव को निश्चित रूप से अत्युक्तिपूर्ण ढंग से लिखा है; (दण्डनाथ ने) 'राजाओं को अपने हाथों में गंगाजल विक्रम चोल के सम्मुख ले जाने के लिए विवश किया।' वास्तविकता इतनी ही है कि जिन राजाओं ने रास्ते में कुछ कठिनाई उपस्थित की उन्हें दण्डनाथ ने हराया। संवत् 1080 में पवित्र जल लाने के लिए प्रारम्भ की हुई यात्रा सफलतापूर्वक समाप्त हुई। इस घटना से प्रसन्न हो सम्राट् ने 'गंगैकोंड' उपाधि धारण की; एक नगर 'गंगैकोंडचोलपुरम्' नाम से स्थापित किया, उसी नगरी के पास एक वृहत्काय कृत्रिम जलाशय बनवाया; इसमें 16 मील लम्बे सेतु (बांध) लगवाए, स्थान-स्थान से सिंचाई के लिए छोटी-छोटी नहरें भी निकलवाईं। जलमय जय-स्तंभ बनवाया। नगर को एक विशाल राज-भवन और गगनचुम्बी मन्दिर से सुशोभित कराया। मन्दिर शिल्पकला के अद्वितीय उदाहरण हैं।[2] इस उत्साहपूर्ण योजना से अनुमान किया जा सकता है कि उत्तरापथ की इस यात्रा को उस समय कितना महत्त्वपूर्ण समझा गया!

---

1. इसी लेख में 'विक्रम चोल' उपाधि का प्रयोग हुआ है।
2. हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट्स इन इण्डिया एण्ड सीलोन।

हजारों मील की दूरी; सैकड़ों छोटे-बड़े सामन्त और राजों से युद्ध, तब कहीं जल प्राप्त हो सका।

समुद्र पार—विक्रम चोल की विजय-चमू को इतने से ही संतोष नहीं हुआ। सम्राट्, राजराज की जलसेना का भी पूरा-पूरा उपयोग करने की योजना बनी। अपने राज्यकाल के चौदहवें वर्ष में बंगाल सागर को पार कर राजेन्द्र की सेना 'कडारम्' पहुंची ! अभी तक कडारम् शब्द से बड़ी उलझन पड़ी हुई थी, किंतु विक्रम-संवत् 1975 में महाशय कोएड्स (Coedes) को बर्मा में (पेगू) सिकता-प्रस्तर के बने हुए दो अष्टकोणीय विजयस्तम्भ मिले। उस ऐतिहासिक खोज ने सिद्ध कर दिया है कि विक्रम चोल यहां तक आया। तमिल प्रशस्ति इस युद्ध का वर्णन इन शब्दों में करती है —

(उसने) 'उत्ताल तरंगायमान समुद्र में कई जलयानों को भेजकर कडारम् के राजा संग्राम विजयोत्तुंग वर्मन् को बंदी बना लिया, उसके महान् हाथियों को घेरा, राजा के धर्मपूर्वक एकत्रित राजकोष को हस्तगत किया। देश का युद्धद्वार 'विद्याधर तोरण' चोल सेना ने ग्रस लिया।' विक्रम-संवत् 1082 से 1084 में पेगू को जीतने के उपरान्त नीकोबार (नक्कवारम्) और अण्डमन द्वीपों पर भी विजयपताका फहराई गई।

चीन से लेकर पूर्वीय द्वीपों में व्यापारिक सुविधा प्राप्त करने के लिए ही इन युद्धों की आवश्यकता हुई। विक्रम-संवत् 1145 के सुमात्रा में प्राप्त तमिल लेखों से तमिल सौदागरों का होना उक्त उद्देश्य की पुष्टि के लिए यथेष्ट है।

चोलवंश में विक्रम चोल (वीर राजेन्द्र) से महान् दूसरा सम्राट् न हुआ। उसकी इन विजयों के अतिरिक्त विभिन्न लेखों में प्रयुक्त उपाधियों से भी उसकी महानता का अनुमान किया जा सकता है —1. मुडिगोण्ड चोल; 2. पण्डिल चोल; ३. वीर राजेन्द्र; 4. गंगैकोण्डचोल, 5. राजकेशरीवर्मन् वीर राजेन्द्र देव; 6. विक्रम चोल।

उपसंहार—इन उपाधियों से स्पष्ट है कि विक्रम चोल वीर, पण्डित तथा धार्मिक सम्राट् था। इन तीनों गुणों के अभाव में 'वक्रमत्व' की स्थापना नहीं हो सकती। चोलवंशीय इतिहास के पृष्ठों को उलटकर देखने से ज्ञात हो जाता है कि प्रशस्तिकारों ने साम्राज्यवादी नीति के फलस्वरूप नये राज्यों को चोल साम्राज्य में मिलाए जाने पर उत्साह प्रदर्शित न कर गंगा के जल को प्राप्त करने में ही उत्साह दिखलाया है। गंगा का जल धार्मिक भावना को तो जाग्रत करता ही है, साथ में दिग्विजय का उच्च आदर्श भी उपस्थित हो जाता है। अपने विक्रम से अन्यान्य देशों में युद्ध-रथ के चक्र का सफलतापूर्वक प्रवर्तन करना तथा उन सम्राटों को अभय का वचन देना ही वास्तविक दिग्विजय है। मनु (भारत का प्रथम समाज तथा राजनीतिशास्त्री) और कौटिल्य ने भी राजा के कर्तव्यों में यह

बतलाया है कि अन्य राज्यों को जीतकर वहीं के राजा को पुनः उस क्षेत्र का अधिकारी बना देना चाहिए। कारण यह है कि स्थानीय शासक ही अपनी प्रजा के धर्म तथा परम्परागत कार्य पद्धति से परिचित रहता है, अतः वही अपनी प्रजा की समुचित सेवा कर सकता है। पौरुष-प्रदर्शन का नाम ही दिग्विजय है; संकुचित भावनावश साम्राज्यवृद्धि की उसमें गंध भी नहीं।

संक्षेप में 'विक्रम' शब्द की महिमा पर वाक्य लिख लेखनी को विराम दिया जायगा।

विक्रम शब्द का इतिहास भी कम मनोरंजक नहीं है। आर्यों के प्राचीन एवं प्रियतम धर्म और गाथा ग्रन्थ ऋग्वेद में इस शब्द को सर्वप्रथम प्रतिष्ठा मिली। उस समय विष्णु सूर्य का पर्य्याय था। विष्णु की प्रशंसा में ऋषियों ने अनेक मंत्रों की सृष्टि की है। अधिक प्रसिद्ध मंत्र यह है—'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।'

विष्णु का ऐश्वर्य समस्त विश्व में रम गया, क्योंकि उसका विक्रम (बल) इतना पुष्ट था कि तीन पगों में ही सब कुछ नाप डाला। भारत में युग-युगान्तरों के राजा दिग्विजयों द्वारा उसी विक्रम की स्थापना करते आए हैं। युद्धरथ के चक्र-प्रवर्तन द्वारा वह मानो अपना विक्रम नापना चाहते हैं। सूर्य-रश्मियां कहां नहीं जातीं? इसी प्रकार वह सोचते हैं कि उनका रथचक्र (पहिया) कहां नहीं जा सकता?

विक्रम शब्द में सभी प्रकार की शक्तियों का समावेश हो गया है, उसकी आत्मा में भारतीय आर्यों ने युग-युग की साधना के फलस्वरूप लोक-संग्रहात्मक समस्त उपकरणों की भावना उंड़ेल दी है! पालवंशीय सम्राट् धर्मपाल ने बिहार प्रांत में एक विश्व-विद्यालय की स्थापना कराई, उसका नाम था 'विक्रम-शिला'। चालुक्यवंशीय षष्ठ विक्रमादित्य ने जिस नयी नगरी का निर्माण कराया उसका नाम भी 'विक्रमपुर' हुआ। राजाओं के अतिरिक्त मंत्रियों के नाम भी 'विक्रम' हुआ करते थे।[1] न जाने कितने रूपों में विद्या-प्रकाशन, बुद्धि-प्रदर्शन, धन-प्रभुत्व तथा ऐश्वर्य-प्राप्ति आदि अनेक सांस्कृतिक चेतनाओं को व्यक्त करने के लिए इस शब्द की उपासना की गई है।

---

1. डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ़ नॉर्दर्न इण्डिया, पृ० 1041।

यौधेयगण और विक्रम

☐ श्री राहुल सांकृत्यायन त्रिपटकाचार्य

श्रीगुप्त मगध के कोई साधारण से सामन्त थे जो 320 ई० से पहले मौजूद थे। यह एक साधारण-सा सामन्तवंश गुप्तों जैसे एक असाधारण राजवंश को जन्म देगा, उस समय इसकी कौन कल्पना कर सकता था ? लेकिन उनके पुत्र चन्द्रगुप्त प्रथम को लिच्छिवि कन्या कुमारदेवी से ब्याह करने का मौका मिला और इस वंश का भाग्य पलट गया। लिच्छिवि बुद्धकाल में एक प्रबल प्रजातंत्री (गणतंत्री) जाति थी। उसके सामने मगध और कोशल के प्रतापी राजा भी नहीं ठहर सकते थे, उनकी स्वतंत्रप्रियता इतिहास-प्रसिद्ध है। कौन जानता था कि ऐसे स्वतंत्रताप्रिय श्रेष्ठ कुल में गणतंत्र व्यवस्था का विनाशक जन्म लेगा। कुमार देवी ने दिग्विजय सम्राट् समुद्रगुप्त (335-380) को पैदा किया। उस समय पूर्वी भारत में गण समाप्त हो चुके थे, लेकिन पश्चिमी भारत—विशेषतः सतलज और यमुना तथा हिमालय और आधुनिक ग्वालियर के बीच में बड़े शक्तिशाली गणों का शासन था। ऐतिहासिकों में किसी ने पद्मावती (पवायां, ग्वालियर-राज्य) के भारशिवों को पांच शताब्दियों से चले आते यवन और शक राजाओं का उच्छेत्ता कहा, किसी ने गुप्तवंश को इसका सारा श्रेय दिया, लेकिन डॉ० अल्तेकर का नया अनुसंधान इस विषय में सबसे अधिक प्रामाणिक है। और दरअसल विदेशी शासन का उच्छेद उत्तरी भारत के किसी प्रतापी राजा ने नहीं किया, उच्छेद किया भरतपुर से उत्तर यमुना सतलज और हिमालय के बीच के प्रतापी यौधेयगण ने। यौधेयगण ने यह सिद्ध करके दिखला दिया कि गणशक्ति-जनशक्ति राजशक्ति से कहीं अधिक प्रभुताशाली होती है। उस समय कम से कम आसपास के प्रदेशों में इस प्रतापीगण की कीर्ति खूब फैली होगी। लेकिन समय आया कि उस विजयिनी जाति का नाम भी शेष नहीं रह गया और उनके अस्तित्व के बारे में ? यदि उनके सिक्के जहां-तहां बिखरे न मिले होते तो शायद इलाहाबाद वाले अशोक स्तम्भ पर उत्कीर्ण समुद्रगुप्त के शिलालेख से भी उनका ज्यादा पता न लगता। यौधेयों के वीर सेनापति भी रहे होंगे, उनकी गणसंस्था के सभापति भी रहे होंगे, मगर उन्होंने अपने सिक्कों पर लिखा—'यौधेयगणस्य

जय:' (यौधेयगण की जय)। पीछे का इतिहास भी बतलाता है कि विदेशियों को भारत पर प्रभुता प्राप्त करने के लिए यमुना और सतलज के बीच ही के किसी स्थान पर अपनी अंतिम निर्णायक लड़ाई लड़नी पड़ी होगी। और यह प्रदेश था यौधेयों के हाथ में। यहीं अपनी भूमि पर किसी जगह यौधेय वीरों ने ईसा की तीसरी सदी में शक-शासन का सर्वनाश किया और फिर डॉ० अल्तेकर के अनुसार 'यौधेयानां जयमंत्रधारिणाम्' जयमंत्र जानने वाले यौधेयों पर गुजरात के प्रतापी शक-शासक रुद्रदामा ने 145 ई० में प्रहार किया था। सम्भव है उस समय उनकी कुछ क्षति हुई हो, रुद्रदामा के लेख से ऐसा ही पता लगता है—लेकिन वे नष्ट नहीं हो पाए। चौथी शताब्दी के मध्य में विजयी समुद्रगुप्त भी यौधेयों का उच्छेद नहीं कर पाया। हां, उसने यौधेयों और उनके दक्षिणी पड़ोसी आर्जुनायनों को करदान के लिए विवश अवश्य किया। अभी भी गुप्तवंश के सर्वश्रेष्ठ वीर में यह सामर्थ्य नहीं थी कि वह यौधेयों को नामशेष करता।

समुद्रगुप्त को चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य 380-413) जैसा यशस्वी पुत्र प्राप्त हुआ। इसमें शक नहीं उसके शासनकाल में भारतीय काव्य-सरस्वती ने कालिदास जैसा अमर कलाकार प्राप्त किया। मूर्तिकला एवं चित्रकला भी उन्नति के उच्च शिखर तक पहुंची, लेकिन जब हम स्वतंत्रता-प्रेमी यौधेयों के अस्तित्व के बारे में अधिक पूछताछ करते हैं तो वहां हमें चन्द्रगुप्त का ही रक्तरंजित हाथ दिखलाई पड़ता है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की कृतियों को यौधेयों की तरह भुलाया नहीं जा सका, इससे यही पता लगता है कि शायद उसका प्रयत्न अधिक सामयिक था। मगर यौधेयों के साथ भारतीय जनता के मस्तिष्क से इस विक्रमादित्य ने यह ख्याल भी हटा दिया कि राजा या सामन्त के बिना ही जनता स्वयं अपना शासन, शान्ति और युद्ध हर समय में अच्छी तरह कर सकती है।

यौधेयों का इतिहास भारतीय इतिहास का कम गौरवपूर्ण अध्याय नहीं है, बल्कि आज की जन-जागृति के समय के लिए तो वह और भी अभिमान और पथ-प्रदर्शन की वस्तु है। लेकिन यौधेयों के गौरव गणतंत्र के नाम तक को मिटा डालने की, जान पड़ता है हर पीढ़ी के सामन्तों और उनके पुरोहितों ने शपथ ले ली थी। कातिल ने बहुत सावधानी से अपने काम को किया था, लेकिन-खून सर पर चढ़कर बोलने के लिए तैयार हो रहा है। तभी तो यह विस्मृत वीर जाति अपने बिखरे हुए सिक्कों और अपने विरोधियों के शब्द-संकेतों से पुनः सजीव हो हमारे सामने आ उपस्थित हो रही है।

उसके इतिहास को पुराणों में स्थान नहीं मिला, उसकी कीर्तिगाथा को बन्दीजनों ने नहीं गाया, मगर उसके सिक्के एवं 'यौधेयानां जयमंत्रधारिणाम्' जैसे छोटे-छोटे वाक्यों से उसकी विशाल वीरता की यशोदुन्दुभी फिर एक बार

भारत में बज कर ही रही। जिस तरह हमारे पुराने कथाकारों ने यौधेयों, उनके अन्तर्वर्ती आग्नेयों के साथ उपेक्षा का बर्त्ताव किया, आजकल राष्ट्रीयता के नाम पर लिखे जाने वाले इतिहासों में भी उनके साथ बेहतर बर्त्ताव की उम्मीद नहीं की जा सकती। मगर समय पलट चुका है। बुद्ध के समकालीन लिच्छवियों, सिकन्दर के समकालीन क्षुद्रक, मालव आदि गणतंत्रों और सदा के लिए बुझने से पहले यौधेयों ने पराक्रम दिखलाकर जिस तरह जनशक्ति को जयमाला पहनाई, उसे अब भुलाया नहीं जा सकता।

यौधेयों के बारे में प्राप्त सिक्के, अभिलेख तथा उनकी बिखरी हुई सन्तानों की दन्तकथाओं और वंशपरम्पराओं के ढांचे पर ऐतिहासिक कल्पना के सहारे एक साकार समाज, साकार मूर्ति का चित्रण किया जा सकता है, मगर वह तो किसी आगे के लेखक का काम है। हां, यह सवाल हो सकता है कि यौधेयों के खून का अपराध चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के सिर क्यों मढ़ा जाय? इसीलिए कि विक्रमादित्य के पिता ने यौधेयों के उच्छेद की नहीं, केवल कर लेने भर की बात कही और चन्द्रगुप्त के बाद यौधेयगण का कहीं नामोनिशान नहीं मिलता। आखिर उस उच्छेद को आत्महत्या के मत्थे नहीं मढ़ा जा सकता, जो एक सामन्त-शाही शासक राजा के लिए सम्भव होते हुए भी सारे गण (जन) के लिए सम्भव नहीं। यौधेयों का उच्छेत्ता इतिहास में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से अलग कोई नहीं प्राप्त होता। इस विक्रमादित्य को शकारि की उपाधि से बढ़कर गणारि की उपाधि दी जा सकती है। आज विक्रम[1] का जयस्तम्भ स्थापित करते समय सिक्के के इस दूसरे पहलू को भी ध्यान में रखना होगा। आखिर आज के प्रभुताशाली वर्ग भविष्य के स्वामी नहीं हैं। जो भविष्य के कर्णधार होंगे उनकी श्रद्धा और सम्मान का भाजन विक्रम से अधिक यौधेयगण होगा। एवमस्तु, हम भी पुराने सिक्कों के अक्षरों को सजीव करते हुए बोलें, 'यौधेयगणस्य जयः।'

---

1. स्पष्टतः यह विक्रमादित्य ई० पू० 57 सन् के संवत्-प्रवर्त्तक विक्रमादित्य नहीं हैं, वे तो 'गणारि' न होकर 'गणाध्यक्ष' ही हो सकते हैं। विद्वान् लेखक ने सिक्के के इस पहलू पर विचार नहीं किया।—सं०

कृत संवत्

□ डॉ० सूर्य नारायण व्यास

'कृत'-संवत् इतिहास की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या है। इसको लेकर इतिहास के मनीषियों में दीर्घकाल से एक विवाद चला आता है। मालवा में और दूसरे भागों में जो कुछ शिलालेख मिले हैं, उनमें 'कृत-संम्वत्' का उल्लेख है। अवश्य ही उन उल्लेखों के 'कृत' शब्द के साथ 'मालव' शब्द भी जुड़ा हुआ है। जैसे 'श्री मालव गणाम्नाते प्रशस्ते कृत संज्ञिते।' और 'कृतेषु चतुर्षु वर्ष शतेषु एकाशीत्युत्तरेषु अस्यां मालवपूर्वायां' इस प्रकार वि० सं० 481, 480; 461, और 248 के लेखों में 'कृत' शब्द का व्यवहार किया गया है, इसी प्रकार बर्नाला—(जयपुर-राज्य) के वि० संवत् 335, और 284 के यूप-लेखों में भी 'कृतेहि' बड़ौदा (कोटा) के वि० सं० 295 एवं नंदसा (उदयपुर) के 282 सं० के लेखों में 'कृतयों' शब्द का संवत् के साथ उल्लेख हुआ है। जयपुर, उदयपुर और कोटा के 'कृत' उल्लेखों को छोड़कर अन्य शिलालेखों के कृत के साथ मालव शब्द जुड़ा हुआ है। इससे यह तो स्पष्ट है कि—कृत-संवत् मालव संवत् अभिन्न है। मालव सम्वत् को ही 'कृत'-काल गणना कहा गया। यही आगे चलकर विक्रम संवत् से संबंधित हो गया है। श्री अल्तेकरजी ने बतलाया है कि—विक्रम संवत् की 10वीं शताब्दी के प्राप्त 34 शिलालेखों में से 32 में केवल 'संवत्' शब्द ही अंशों के साथ मिलता है। सिर्फ दो लेखों (973 और 936) में ही विक्रम शब्द का उल्लेख है। इसी प्रकार नवीं शती के 10 लेखों में से भी संवत् 898 के एक लेख में विक्रम का (वसुनव-अष्टो वर्षा गतस्य कालस्य विक्रमांकस्य) उल्लेख मिलता है। आठवीं शती के साथ लेखों में से भी एक ही में विक्रम का उल्लेख है। किन्तु 7वीं शती के और उससे पुराने लेखों में इसे ही 'मालव' कहा गया है। वहां 'विक्रम' का संकेत नहीं मिलता। वस्तुतः यह विस्मय की बात है। मानना होगा कि जब प्रथम और द्वितीय-विक्रम जगत् में आ चुके थे, तब भी उनके नाम से संवत् प्रचार व्यापक रूप से नहीं हो सका था। यदि द्वितीय-विक्रम ने पांचवीं शती से अपने संवत को विक्रम शब्द से ज्ञापित एवं प्रचारित किया तो क्या कारण है कि 10वीं शती

तक के प्राप्त अधिकांश शिलालेखों में 'विक्रम' शब्द व्यवहृत नहीं हुआ दिखाई देता ? और 5वीं शती के विक्रम ने यह प्रचारित किया है तो 10वीं शती तक के ग्यारसपुर '(मालवे के) लेख में 'मालव कालाच्छरदां षट् त्रिशत्संयुतेष्वतीतेषु' में मालव शब्द ही व्यवहृत होता चला आता है । जैसा कि सं० 493 में मंदसौर शिलालेख में भी—'मालवानां गणस्थित्या याते शत चतुष्टये त्रिनवत्यधिके-ऽब्दानां' में भी स्पष्ट मिलता है, इससे यही समर्थित होता है कि प्रथम और द्वितीय विक्रम-काल में भी बहुत समय बाद तक संवत् का नाम मालव ही रहा है । विक्रम भी मालव ही होना चाहिए, मालव शब्द के साथ अनेक बार 'मालवगण स्थितिवशात्' या—'मालवानां गणस्थित्या' प्रयोग हुआ है, ये स्पष्ट बतलाते हैं कि 'विक्रम',मालव-संवत् मालव गणों का ही रहा है । और मालव गणों के नाम से ही प्रचलित हुआ है । द्वितीय-चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के बाद ठेठ 10वीं शतीपर्यन्त अधिकतर 'मालव' शब्द प्रयुक्त होता रहा, वहां तक इस भाग में मालव-प्रभाव बना रहा है । और 7वीं शती से पहले इसी मालव शब्द के साथ 'कृत' शब्द जुड़ा हुआ मिलता है । अर्थात् 'कृत' गणना भी मालव गणों से संबंधित ही है । कहीं केवल 'कृत' शब्द है और कहीं कृत के साथ में 'मालव' भी संयुक्त है । यह क्रम 7वीं शताब्दीपर्यन्त सरलता से मिलता है । कोई आश्चर्य नहीं कि ये कृत-मालव शब्द विक्रम के ही पर्यायवाची रहे हों । श्री अल्तेकरजी का तो यही मत है कि—अन्य असंदिग्ध प्रमाणों से यह बात स्पष्ट प्रमाणित हो जाती है कि ये नाम ईसा के पूर्व 57 वर्ष पहले आरम्भ किये गए संवत् को ही दिए गये थे । बीच के किसी विक्रम मे इसका संबंध नहीं आता है । और यह भी शिलालेखों से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि जिन मालवों या कृत ने संवत् प्रचलित किया, वे गणतांत्रिक ही थे । 'गणस्थित्या' आदि शब्द 'गणस्थिति' के ही प्रमाण हैं । शिलालेखों से भी ज्ञात होता है कि जिस गणतंत्र की स्थापना को लगभग 500 वर्ष व्यतीत हो गए थे, उसी का यह (मालव-अथवा कृत) कृत संवत् है । (मालवानां गणस्थित्या याते शत चतुष्टये त्रिनवत्यधिके) अर्थात् मालवगण स्थिति से 493 वर्ष बीत चुके हैं । इस बात की प्रामाणिकता से कोई भी विद्वान् इंकार नहीं कर सकता कि मालव-गण-तंत्र-अत्यन्त पुराना रहा है । महाभारत में अनेक स्थलों पर उनके शौर्य का वर्णन आया है । सिकन्दर से संग्राम कर उसे भी परास्त करने का श्रेय इन मालवों को मिल चुका है । पाणिनि ने इन्हीं को लेकर गणतंत्र की व्याख्या की है । और स्वयं एक शिलालेख भी यह पुष्टि करता है कि जो मालवगण नाम से 'आम्नात' यानी 'रूढ़' रहा है वही 'कृत' कहा गया है । निःसंदेह यह भारत का पुरातनतम संवत् है । आगे के उल्लेखों से कृतों और मालवों की अभिन्नता प्रतिपादित हुई है । और पांचवीं शती में यही केवल 'मालव' रह गया था,

नवीं शती में इसी का स्थान-विक्रम ने ग्रहण कर लिया था। इस बात से यह प्रमाणित हो जाता है कि द्वितीय चन्द्रगुप्त के बहुत काल के बाद तक यह मालव बना रहा और फिर विक्रमांकित हुआ है। यह स्पष्ट है कि द्वितीय चन्द्रगुप्त द्वारा प्रचारित संवत् नहीं है। उसके काल में भी 'मालव' का महत्त्व विद्यमान था। द्वितीय चन्द्रगुप्त संवत्-प्रवर्तक नहीं हो सकता। उसके समय (पांचवीं शती) में या ठेठ नवीं शती तक विक्रम का नामोल्लेख तक नहीं मिलता है। फलतः जो 'कृत' नाम से ज्ञापित हुआ 'मालव' से महत्त्व प्राप्त कर चुका था—वही विक्रम-संवत् बनकर अद्यावधि प्रचलित है। तब यह प्रश्न रह जाता है कि 'कृत' वस्तु क्या है ? कृत से सत्य युग का सीधा कोई सम्बन्ध नहीं है। जिस शती में इसके उल्लेख के साथ शिलालेख मिलते हैं उस काल को पुराण से लेकर अन्य ग्रंथ भी 'कलियुग' ही घोषित करते हैं। तब वह पुरातन-सतयुग 8वीं या नवीं शती तक नहीं हो सकता। 'कृत' से कृत्तिकादि-विक्रमवर्षारंभगणना का सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। उसी समय समर-यात्रा आरम्भ कर पराक्रम करने की सूचनाएं हैं। जिनको लेकर कार्तिक में दीपावली और विजयोत्सव परम्परा आज तक प्रचलित है। यह कार्तिक चूंकि-कृतिका से आरम्भ होता है, इस कारण 'कृत' संकेत हो सकता है। इसी प्रकार श्री अल्तेकर जी ने और धारणाएं भी रखी हैं—उनका यह विचार है 'कृत नामक किसी राजा अथवा अधिनेता ने इसकी नींव डाली और उसी के कारण इसे 'कृत' संवत् कहा जाने लगा ? (नाग० प्र० प० वर्ष 48 अं० 1-4) परन्तु यह 'कृत' कौन राजा या अधिनेता हो सकता है, इस पर वे कोई स्पष्ट मत नहीं बना सके हैं। उनका कहना है कि गत 1000 या 1500 वर्षों में कृत नाम का कोई अधिपति नहीं हुआ है। जब स्वयं अल्तेकर जी शिलालेखों के आधार पर इसी शती में से 'कृत' के उल्लेख स्पष्ट देखते हैं तो 1500 वर्षों में 'कृत' नामक किसी नेता के होने का कोई अर्थ नहीं होता। कृत अवश्य ही इससे बहुत पूर्ववर्ती विशिष्ट व्यक्ति होना चाहिए, उन्होंने पुराणों में अनेक 'कृत' व्यक्ति का 'बोलबाला' भी देखा है। विश्वेदेवों में उन्होंने 'कृत' का, वासुदेव-रोहिणी के एक पुत्र कृत का, हिरण्य नाम के शिष्य 'कृत' का उपरिचर के पिता 'कृत' का भी विचार किया है। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि प्राचीन काल में यह नाम अच्छी तरह प्रचलित भी था तथापि वे इस 'कृत-संवत्' से उचित संगति नहीं लगा सके हैं। उचित भी है, क्योंकि उनके सूचित किसी 'कृत' को मालवों के साथ जुड़ाना आवश्यक होगा और समय के साथ भी सुसंगत बनाना होगा किन्तु उपर्युक्त एक भी 'कृत' इस मालव-कृत-काल गणना से कभी नहीं जोड़ा जा सकता। उसे न शासक या गणतांत्रिक कहा जा सकता है। वे यह ऐतिहासिक तथ्य स्वीकार करते हैं कि—ईसा पूर्व 60 के लगभग शकों ने उज्जयिनी को हस्तगत किया था। और कुछ ही दिनों में उन्हें उस नगरी का परित्याग करना पड़ा, प्राचीन

परम्परा के अनुसार शकों के पराभव के संस्मरणार्थ ईसा से 57 वर्ष पूर्व में एक नये संवत्सर की स्थापना हुई। इस प्रकार गणना का प्रारम्भ प्रथमतया मालव देश में ही हुआ। और उसे मालव निवासियों द्वारा स्वीकृत-काल गणना (श्री मालव गणाम्नात) ही कहा जाता था। श्री अल्तेकरजी का यह अभिप्राय है कि ई० पूर्व प्रथम एवं द्वितीय शतियों में मालव जाति राजपूताना और मालवा प्रान्त में बसी थी, अतएव यह भी स्पष्ट है कि ई० पू० 57 में शक-पराजय मालव के राष्ट्रपति ने ही की होगी। और राष्ट्रपति का नाम 'कृत' होगा। कुछ विद्वान इस ओर मालवों का प्रवेश गुप्तकाल के पश्चात् मानते हैं, जबकि श्री अल्तेकरजी ई० सन्. के पूर्व प्रथम-द्वितीय शती में मालव और राजस्थान में इनका प्रभाव स्थापन होना स्वीकार करते हैं और उसी के राष्ट्रपति द्वारा शकपराभव और मालव एवं कृत संवत् का प्रचार मानते हैं। ज्योतिष के प्रसिद्ध प्रामाणिक-ग्रंथ सूर्य सिद्धांत की रचना इसी प्रदेश में हुई है। ग्रंथारम्भ के प्रथम श्लोक में कहा गया है।

'अल्पावशिष्टेतु कृते' अर्थात् कृत-काल अल्प शेष रहा था, तब इस ग्रंथ की रचना की है। इसका यही मतलब हो सकता है कि कृत वर्ष का अन्त थोड़े समय बाद ही होने को था, किन्तु दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि कृत संवत् समाप्त होने में कुछ समय शेष रहा था, उसके बाद मालव या विक्रम किसी संवत् का आरम्भ होने को था। सूर्य सिद्धांत के निर्माण के विषय में यह मत मान्यता लिये हुए है कि विक्रम ने पिछली प्रचलित युगादिमान वाली काल गणना परम्परा की नवीन 60 संवत्सर की गणना में परिवर्तित कर देने और सुसंगत बना देने के लिए ही इस ग्रंथ की रचना करवाई थी।

'युगानां परिवर्तन काल भेदोऽत्र केवलम्' इस सूर्य सिद्धांत के वाक्य में युग-गणना के परिवर्तन का ही संकेत है। गणित की प्राचीन पद्धति 'युग' को लेकर ही रही है। अरब में भी यह प्रथा थी, मुहम्मद इब्बन इसराक अबुवल वफा-अलबेरुनी, अलहजी आदि ने ग्रंथों में युग पर चर्चा की है, परन्तु अरब और भारतीयों ने इस गणना क्रम को मिलकर पलटा है। वह नवीन काल ही 'कृत' मालव या विक्रम हुआ है, सी० वी० वैद्य इस घटना को उज्जैन में होना ही बतलाते हैं, सूर्य सिद्धांत उसी का निर्णायक ग्रन्थ बना था। इस मान्यता को अल्पावशिष्टेतु 'कृते' के उल्लेख से पुष्टि मिलती है। और उसका काल ई० सन् पूर्व 57 वर्ष ही है। संभवतः वहीं तक 'कृत' काल गणना प्रचलित रही होगी और बाद में मालव या विक्रम शब्द संवत् से बना होगा। सूर्य सिद्धांत का प्रथम श्लोकार्ध भी अवश्य विचारणीय और महत्त्वपूर्ण संकेत करने वाला है। यों वैदिक काल से लेकर वर्षारम्भ की परम्परा स्पष्ट है, मालव, गुजरात में वह आज भी विक्रम-वर्षारम्भ के रूप में स्वीकृत होने के कारण कार्त्तिकादि, कृत्तिकादि बनी

हुई है। उसके अनुसार 'कृत' शब्द सुसंगत भी हो सकता है। 'कृत' शब्द कार्तिक-वाची है और हमारे यहां कालगणना के मूल में उसकी सामाजिक उपयोगिता भी रही है। नक्षत्र-मान का महत्त्व आज भी उसी क्रम के अनुसार प्रत्येक मास से जुड़ा आया है। जैसे चित्रा से चैत्र, विशाखा से वैशाख, ज्येष्ठा से ज्येष्ठ आदि बना है, उसी तरह कृत्तिका से कार्तिक रहा है। और आरम्भ से कृतिका गणना का माध्यम होने के कारण 'कृत' शब्द का वर्षारम्भ में महत्त्व मान्य हुआ हो तो आश्चर्य का कारण भी नहीं है। इसके सिवा उज्जैन की स्थिति ख-स्वस्तिक-प्राचीन बिन्दु कृत्तिका पर होने के कारण उसका महत्त्व कृत्तिका 'कृत' से होना स्वाभाविक है। इसलिए यह संदेह होना असंगत भी नहीं कि गणना-क्रम के महत्त्व को मान्य कर यह नवीन काल गणना 'कृत' शब्द से संयुक्त कर दी गई हो। काल गणना में ऋतुओं का महत्त्व होता ही है। पर कुछ विद्वानों की यह धारणा कि ऋतुओं का संवत् के साथ नाम नहीं जुड़ाया गया है। लेकिन यह ठीक नहीं है। मन्दसौर के एक लेख में स्पष्ट ही, 'विस्थापिते मालव वंश कीर्तेः शरद्-गणे पंचशते व्यतीते' में शरद्गण पांच सौ मालव-वंश कीर्ति के बीत जाने का उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार 'शतेषु शतेषु शरदां यातेष्वेकान्नवति सहितेषु मालव गण स्थिति वशात्' में भी 'शेतुष-शरदां' लिखा गया है। और कृत्तिकादि-कालगणना का भी बेटली आदि विद्वानों ने ई० सन् पूर्व 15वें शतक से प्रचलित माना है। चीनी-अरबी लोग भी कृत्तिका को महत्त्व देते रहे हैं, इस कारण 'कृत' शब्द में कृतिका और कार्तिक का समावेश हो तो साधारण रूप से असंगति का संदेह नहीं होना चाहिए। दूसरा संदेह 'कृत-युग' (सत्ययुग) के विषय में भी प्रचलित है। इस पर भी प्रसंग-वश यहां विचार करना अनुचित न होगा। प्रायः युगों के विषय में हजारों वर्षों वाली धारणा हमारे मन में संदेह बनाए बैठी है। कृत-अर्थात् सत्ययुग का समय हजारों वर्षों का रहा है। परन्तु यह व्यवहार-दृष्टि से सुसंगत नहीं है। 'मानव-युग' ऋग्वेद के (1-10-4) के अनुसार—

'तद्ष्चुषे मानुषे मा युगानि,

और

विश्वे ये मानुषा युगा यांति (5-52-4)

स्पष्ट बतलाया है, और उसकी आयु 'जीवेम शरदः शतात्' कही है। यदि यह मानव युग हजारों वर्ष का रहा होता तो 'शरदः शतात्' की सौ वर्ष जीने की बात कैसे सुसम्बद्ध रह सकती थी ? इसी प्रकार मामता का पुत्र दीर्घतमा दसवें युग में कैसे वृद्ध हो जाता ? दसवां युग तो प्रत्येक युग को 10 वर्ष का मानें तभी 100 वर्ष का पूर्ण हो सकता है। यह दीर्घतमा भी वैदिक ही हैं।

दीर्घतमा मामतेयो जुजुर्वान्, दशमे युगे
—(ऋ० 1-158-6) और

'देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा' में सायण के मतानुसार-वसंत-वर्षा-शरद, इन तीनों ऋतुओं तक ही परिमित रहा जाता है, अवश्य ही तैत्तिरीय ब्राह्मण (1-4-10) तथा (3-11-4) संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर, इदवत्सर, इस प्रकार 5 वर्ष की ही माना है। इसलिए इन वार्षिक-संवत् परिवर्तन-क्रम को स्वीकार करने के पूर्व इस देश में युग पद्धति का ही प्रचार रहा है। और वह अल्प 5 या 10 वर्ष का रहा होगा तथा सूर्य सिद्धांतकार ने नवीन पद्धति प्रचारित करने के पूर्व संभवतः उसी कृत (युग) के अल्पावशिष्ट रहने का स्पष्ट संकेत किया हो, यह संभव है। यह स्वाभाविक ही ई० सन् पूर्व 57 वर्ष के आसपास की घटना होनी चाहिए, जब मालव-कृत या विक्रम गणना का प्रारम्भ किया गया होगा। यह तो स्पष्ट है कि शुंगों का कोई संवत् स्वतंत्र नहीं मिलता है, दिग्विजय के बाद भी ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता, अवश्य ही उसने गण शत परिवृत्ते के अनुसार एक सौ गणों को दिग्विजय के लिए जुड़ा था। उसी में मालव प्रभाव परिणत हुआ हो और आगे चलकर मालव संवत् आरम्भ करने का कारण बना हो, अल्तेकरजी के मतानुसार तो ई० सन् की प्रथम-द्वितीय शती इस क्षेत्र में मालवों का प्रभाव होना मान्य रहता है। पर जो लोग मालवों का उनके बहुत बाद इस भाग में आगमन मानते हैं, उन्हें यह सोचना आवश्यक हो जाएगा कि शुंग-अग्निमित्र के निकट विदिशा में यह 'मालविका' ई० सन् पूर्व प्रथम शती में अपने नाम के साथ 'मालव' शब्द किस प्रकार जुड़ा लेती है। विदर्भ राजकुमारी होते हुए भी उसका विदिशा में 'मालविका' नाम रखना अवश्य संदेह एवं विचारणीय बन जाता है। उधर 'कृत' शब्द के लिए व्यक्ति की खोज में श्री अल्तेकरजी ने पुराणों से कई नाम ढूंढे हैं परन्तु उनका ध्यान शायद एक प्रसिद्ध पौराणिक-प्रभावशाली-मालव कार्तवीर्य और कृतवीर्य की ओर नहीं गया है, यह प्रतापशाली नेता भी देश में राज्य विस्तार में लगा हुआ था, यह नर्मदा तटवर्ती माहिष्मती निकाय (19-36) जैसे पाली ग्रन्थों में जिसका उल्लेख माहिष्मती की राजधानी कहकर किया गया है। इसके बाद ही शुंगों की सत्ता विदिशा में स्थापित हुई थी, और उनको पूर्वमालव माना गया था, कालिदास ने अपने मेघदूत में विदिशा को प्रख्यात राजधानी (शुंगकालीन) कहा है :—जैसे

'तेषान्दिक्षु प्रथितविदिशा लक्षणां राजधानीम्'

कालिदास ने अवन्ती को 'श्री विशालां विशालाम्' ही कहा है। 'राजधानी' कहीं नहीं कहा है, यद्यपि कालिदास बौद्धकालीन प्रद्योत को अवन्ती के नरेश के

रूप में जानता है—'प्रद्योतस्य प्रिय दुहितरं वत्स राजोत्र जहे हेमं ताल द्रुम वनमभूदत्र तस्यैव राज्ञः' तथापि राजधानी के रूप में उसके बाद की विदिशा को ही बतलाया है। और शुंगों ने कहीं संवत् नहीं चलाया है। क्योंकि उसके अन्तिम विलासी नरेश (देवभूति) के समय थोड़े ही समय में शुंग सत्ता समाप्त हो गई थी, इससे यह प्रमाणित होता है कि माहिष्मती के शासन का प्रभाव बौद्धों के युग में भी विद्यमान था, माहिष्मती के कार्तवीर्य और कृतवीर्य हैं। इसने उत्तर भारत के विशाल भू-भाग पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया था, उसका ज्ञान निकट की घटना होने के कारण महाकवि कालिदास को भी रहा है। उसने रघुवंश में इन्दुमति के स्वयंवर के समय माहिष्मती नरेश का बहुत ही प्रभावशाली शब्दों में वर्णन किया है। उसने बतलाया है कि अठारह द्वीपों पर कार्तिकीय के विजय-स्तूप (विजयस्तम्भ) लग चुके थे, और उसके साथ जो 'राज' शब्द जुड़ा था, वह अनन्य साधारण था।

संग्राम निर्विष्ट सहस्र बाहु-
रष्टादश द्वीपनिखात यूपः
अनन्य साधारण राज शब्दो
बभूव योगी किल कार्तवीर्य। (रघु॰ 6-3)

इसको वह रेवा (नर्मदा) तटवर्ती सहस्रबाहु का वंशज एवं माहिष्मती का शासक ही मानता है। कालिदास को शुंगों के इस पूर्ववर्ती माहिष्मती-पति का पता पर्याप्त था, माहिष्मती के बसाने वाले माहिष्मतु राजा इसी का पूर्ववर्तीवंशावतंस था। कृतवीर्य का पुत्र ही कार्तवीर्यार्जुन था। इसी ने शौर्य के साथ पृथ्वी पर विजय प्राप्त की थी, अनेक यज्ञ भी किये थे। इसी ने नागवंश को लाकर माहिष्मती में बसाया था। महाभारत में यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि राजस्थान के कर्कोट नगर के स्थापक कर्कोट-नाग को यह माहिष्मती ले आया था, मत्स्य और विष्णु तथा ब्रह्माण्ड पुराण में भी इसकी संगति मिलती है। तथा—

एषनागः मनुष्येषु महिष्मत्यां महाद्युतिः
कर्कोटक सुतंजित्वा पुर्यांतत्र न्यवेशयुत्।
(मत्स्य॰ 43 अ॰)

और

सहि नागः सहस्त्रेषु माहिष्मत्यां नराधिपः
कर्कोटक सभांजित्वा पुरींतत्र न्यवेशयत्।
(ब्रह्म॰ पा॰ 3 अ॰ 69)

इनसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि माहिष्मती के मालवों का ही राजस्थान के

कर्कोटक नगर पर प्रभुत्व था। इस कारण वहां कोटा या उदयपुर में जो शिला-खंड 'कृत' शब्द से अंकित मिलते हैं, वे इसी कृत वीर्य के होने चाहिए और इन्हें ही कृत-मालव से अभिन्न सूचित किया गया है। कर्कोटक नगर के मालव कोई बाहरी नहीं—यही माहिष्मती के रहे हैं। महाभारत के वनपर्व (अ० 116) में इसी कार्तवीर्य को अनूप का नरेश माना है, यह अनूप-देश वर्तमान नीमाड़ प्रदेश मालवे का माहिष्मती वाला ही है।

अथानूपपतिर्वीरः कार्तवीर्योभ्यवर्तत

अग्नि पुराण (अ० 276) में यदुवंश के वर्णन में कृतवीर्य-कार्तवीर्य को नृप एवं शासक, शौर्यशाली, दिग्विजयी सूचित किया है। यदु के पांच पुत्र थे उनमें ज्येष्ठ सहस्रजित् था, उसी के परिवार में शतजित का पुत्र 'हैहय' था, जिसके नाम पर यह हैहय-वंश चला था, उसी में—

'कृतकात्कृतवीर्यस्तु कृताग्निः करवीरकः। कृतौजाश्चचतुर्थोभूत कृतवीर्यातु-सोऽर्जुनः। दत्तोकृतोर्जुनीय तपने सप्तद्वीप महीशता, ददो बाहु सहस्रंच ह्याजेत्वं रणे तथा। दश यज्ञ सहस्राणि सोऽर्जुनः कृतवान् नृपः अनष्ट द्रव्यता राष्ट्रे तस्य संस्मरणादभ्रत्। नूनंन कातीवीर्यस्य गतिं यास्यन्ति वै नृपाः। यज्ञैर्दानैस्तपोभि-श्चविक्रमेण श्रुतेनच। कार्तवीर्यस्य चशतं पुत्राणां पंच वै परम्।

इसी कार्तवीर्य के संतान में जयध्वज हुआ था जो आगे चलकर अवन्ती का शासक बना था—

'जय ध्वजश्चनामासीदावन्त्यो नृपतिर्महान्।'

इसी वंश में जयध्वज से तालजंघ और उससे हैहयों के पांच कुल चले थे।

'जय ध्वजात्तालजंघस्तालजंघास्ततः सुताः
हैहयानां कुलाः पंच भोजाश्चावन्तयस्तथा'

भगवद्गीता में जिन वीतहोत्र (वीतिहोत्रो धनंजयः) के धनंजय और पुरुजित्कुरु भोजश्च (गीता) का उल्लेख हुआ है—ये अवन्ती के ही थे। वीतहोत्रा ह्यवंतयः अवन्ती भोजश्च आदि। इनसे इस वंश की परम्परा माहिष्मती एवं अवन्ती से ही संबंधित चली आती है। इसी हैहय वंश के सहस्रार्जुन के साथ भार्गव जामदग्न्य-परशुराम का संघर्ष हुआ है। यह बात ऊपर सिद्ध हो गई है कि हैहयों का वंश माहिष्मती से आरम्भ होता है। और जामदग्न्य परशुराम के संघर्ष का कारण भी एक बीस बाणों से बींध देने के कारण यहीं मालव भूमि-जामदग्न्य पर्वत (जनापा-पर्वत-आधुनिक नाम-इन्दौर-महू) के निकट पर यह घटना हुई है। इस कारण यह स्वीकार करना होगा कि महाभारत में जिन हैहयों का जामदग्न्य-परशुराम के संघर्ष का वर्णन मिलता है, वह हैहय-माहिष्मती के

रहे हैं, और उनको ही महाभारत में 'माल' एवं 'गण' कहकर संबोधित किया है, फलतः वे इसी प्रदेश (माहिष्मती) के ही मालव हैं अन्य नहीं।

महाभारत के द्रोण पर्व में (अध्याय 70) भार्गव-राम की दिग्विजय का वर्णन करते हुए कहा गया है कि राम ने दोनों क्षत्रिय-गणों (शुद्रक-मालव) को साथ-साथ हराया था, क्योंकि मालव भूमि में ही जमदग्नि-वध के कारण जिन मालवों के विरुद्ध परशुराम ने संग्राम घोषित किया था, वे ही मालव थे। अतः महाभारत में जहां मालवों का उल्लेख मिलता है, वह कोई अन्य मालवों का नहीं है। स्पष्ट ही परशुराम के विरुद्ध यह संगठित संघर्ष था। इस कारण इन्हीं मालवों ने व्यापक संगठन बनाकर परशुराम से मोर्चा लिया था। वे संग्राम के सिलसिले में ही अनेक गणों शक्ति-समूहों से निकट संबंधित हो गए थे। और क्षुद्रक-मालवों का सहयोग भी उसी सिलसिले में हुआ था। जामदग्न्य के संघर्ष का स्पष्ट उल्लेख महाभारत में है।

'ततः काश्मीर दरदान कुन्ति शक्र मालवान्, अंगबंग कलिंगाश्च विदेहांस्ताम्र-लिप्तकान्। निजघान शतैर्बाणैर्जामदग्न्यः प्रतापवान्।'

इस राजक्रान्ति के कारण मालव गण जहां कहीं फैल गए थे, वहीं रुकने को विवश बन गए होंगे, किन्तु वे थे इसी मालव भाग के।

इन सभी मालवों को महाभारत में गण ही माना, जैसे—

शिबिस्त्रिगर्तानम्बष्टान्मालवान् पंच कर्पटान्। गणानुत्सव संकेतान्।

(वनपर्व अ० 32)

और

आग्नेयान्मालवानपि गणान्सर्वान्विनिर्जित्य। 20 (अ० 254)

प्राश्च सौवीर गणाश्चसर्वे, निपातिता शुद्रक मालवाश्च (अ० 159)

इन पर से स्पष्ट होता है कि ये मालव सभी 'गण' ही थे। और हैहयों के इस समूह ने व्यापक रूप ग्रहण कर लिया था। धीरे-धीरे अनेक गणों से इनका संबंध स्थापित हो गया था। इसलिए देश के विभिन्न भागों पर इनका होना सिद्ध होता है। केवल पंजाब में ही नहीं। थोड़ी और गहराई से इस पर विचार किया जाना उचित प्रतीत होता है। अथर्ववेद के पंचम सूक्त के 16-17-29वें मंत्रों में भार्गवों के संघर्ष का वर्णन आया है। उन्हें वैतहव्यों से लड़ना पड़ा है। ये वैतहव्य नहीं थे। जिनके वंशज हैहय-तालजंघ आदि थे। महाभारत के अनुशासन पर्व अ० 30 में इनका वर्णन है—

'श्रृणु राजन् यथा राजा वीतहव्यो महायज्ञ···बभूव पुत्रो धर्मात्मा शर्यातिरिति विश्रुतः'

तस्यान्वये द्वौ राजानौ हे राजन् ! संवभ्रवतुः (हैहयस्ताल ंघश्चरवत्य जयतांवर :।

इससे यह वैतहव्य ही हैहय का होना सिद्ध होता है। इनका संघर्ष ही भार्गव परशुराम से होना अथर्ववेद की (4 सूक्त की) 19वीं ऋचा से भी समर्थित होता है—

'अतिमात्रवर्धन्त नो दिवमस्पृशन्,
भृगु हिंसित्वा सृञ्जपा वैतहव्या परभगन्' (1)

अर्थात्— त्रुओं पर विजय पाये हुए वीतहव्यों ने बहुत उन्नति करके आकाश को सिर पर उठा लिया था, वे भृगु को मारकर नष्ट हो गए।

यह प्रसिद्ध महाभारत की घटना का समर्थन है—जो भृगु की 'गौ' (पृथ्वी) को लेकर सहस्रार्जुन—हैहय के संघर्ष का विषय बनकर महाभारत, रामायण और पुराणों में भी विस्तार से वर्णित हुई है। ब्रह्माण्ड पुराण में तो यही वर्णन 30 अध्यायों में बहुत ही विस्तारपूर्वक मिलता है। अथर्ववेद और महाभारत के इन वीतहव्यों को सर्वत्र हैहय स्वीकार किया गया है। किन्तु एक बात जो बहुत महत्त्व की है, वह यह है कि अथर्ववेद में जिनको वीतहव्य के नाम से ज्ञापित किया गया है। उनको वीतहव्य-वंशीय स्वीकार करके भी उनके नेता या नरेश को स्पष्ट रूप से 'मल्व' बतलाया गया है।'

'अन्नयो बह्माणां मल्वः'

(सूत्र 5, मं० 7)

काण्ड 4 के सूत्र के अन्तिम मंत्र में भी यही 'मल्व' शब्द व्यवहार हुआ है। वह शत्रुवाची ही है। और जिन वीतहव्य-हैहयों को लेकर प्रयुक्त किया गया है, वे माहिष्मती मालव के हैहय ही थे। इससे संदेह का कारण नहीं रहता कि हैहयों के 'गणों' को ही उनके नेता को मल्व कहे जाने के कारण मालव-गण कहकर महाभारत में इस भार्गव-संघर्ष या अन्य स्थल पर मालव माना है। मालव से ही माल-मालव होता गया है। मालशब्द की व्याख्या भी कोषकारों ने—

मालं मालव देशेच वसते भूमिरूर्ध्वका, अथवा 'क्षेत्रमारूह्य मालं' में कालिदास ने भी 'मालं—उन्नत भूतलं' माना है। वेद का 'मल्व' यही है। यूनानियों ने इन्हें ही 'मल्लोई' शब्द से ज्ञापित किया है। फलतः शर्याति के वंश में जो वीतहव्य राजा था, उसके पुत्र वत्स को वैतहव्य कहा गया, हैहय इसी वैतहव्य की संतान है। वैतहव्यों का सारा कुल आगे हैहय के प्रताप, शौर्य के कारण हैहय-वंश के रूप में प्रसिद्ध हो गया। और इन्हीं हैहयों में कृतवीर्य और

कार्तवीर्य की सर्वाधिक ख्याति रही है। ये सारे देश में प्रसिद्ध और विस्तृत हो गये थे। परशुराम भार्गव-संघर्ष के कारण इनकी ख्याति अति व्यापक हो गई थी, इसलिए कृतवीर्य-हैहय के प्रचण्ड-प्रताप और विजय परंपरा के कारण 'कृत'—संवत् की नींव पड़ी है। और चूंकि वह कृतवीर्य मालवगण नायक रहा है, इसलिए कृत—और मालव शब्द अभिन्नता के साथ जुड़े हुए मिलते हैं। यह 'कृत' इस व्यक्ति-विशेष का सूचक-संवत है। इन्हें ही मल्व या मालव कहा जाने के कारण, 'कृत-मालव-संवत', की संगति भी उचित है। कुछ लोग प्रायः कार्तवीर्य से शंकरसुत कार्तिकेय की शंका जुड़ा लेते हैं। यह उचित नहीं है। शंकरसुत आजन्म कुमार है। यद्यपि वह स्वर्ग पर विजय करने वाला सेनानी है। तथापि हैहय-कृतवीर्य-कार्तवीर्य को शिवभक्ति वश पर नाम चाहे प्राप्त हो गया हो। किन्तु यह सहस्रार्जुन माहिष्मती के प्रभावशाली गणाधिप अथवा नृप के वंशज हैं। महाभारत रामायण एवं पुराणों ने ही नहीं वेद में भी वैतहव्य-हैहय कहकर ही परशुराम से संघर्षरत सूचित किया है। इससे भ्रांति की आवश्यकता नहीं है। रेवा (नर्मदा) तटीय माहिष्मती से ही उनके कुल की परंपरा को सर्वत्र स्वीकार किया गया है। ऐसी स्थिति में 'कृत' संवत के प्रवर्तक के रूप में कृतवीर्य-हैहय-मल्व को भुलाकर 'कृत' काल 'गणना में व्यर्थ हमें संभ्रमित होने की आवश्यकता नहीं है।

स्व० श्री जायसवालजी ने अपने 'अंधकारयुगीन' भारत में एक बात महत्त्व की बतलाई है। 'जान पड़ता है कि मालव प्रजातंत्रों की स्थापना ऐसे लोगों ने, या वर्गों ने की थी जो नागों के सगे-संबंधी हों' यह ठीक है, हम पहले ही सूचित कर चुके हैं कि महाभारत एवं अन्य पौराणिक संकेतानुरूप स्पष्ट माहिष्मती के हैहयों ने कर्कोटक नाम (नगरी जयंपुर) को माहिष्मती रख लिया था। कर्कोटक सुंत जित्वा माहिष्मत्यां न्यवेशयत्। इसके अतिरिक्त पद्मावती विदिशा ये तो नाग प्रभावित स्थान एवं शासन रहे ही हैं। स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि नाग और मालवों की एक प्रकार की सभ्यता रही होगी। हैहयों में उनका जुड़ना पर्याप्त पुरातन घटना है। उससे भी हैहयों के 'मालव गण' होने का समर्थन ही होता है। किन्तु जायसवालजी ने हैहय परंपरा को सावधानी से देखे-परखे विना मालव-गणों के विषय में अपने को भ्रमित बनाए रखा है।

नन्दसा के 'यूप' पर जो लेख अंकित है उसमें स्पष्ट ही इक्ष्वाकु प्रथित राजर्षिवंश मालव-वंशे लिखा मिलता है। यह 'इक्ष्वाकु'—वंश ही हैहयों के पूर्वजों का है। यथा 'इक्ष्वाकु नृग शर्यातिदिष्टधृष्ट करुषकान्' (स्कन्ध 9, अ० 1)

इसी इक्ष्वाकु शर्याति की संतान हैहय-वीतिहोत्र है। इसलिए यह 'यूपोल्लिखित मालवेन्द्र' उसी वंश-परंपरा का व्यक्ति है। इसी प्रकार महाभारत

समय में जिस अश्वत्थामा गज का वध हुआ, वह मालवेन्द्र का ही हाथी था (पर प्रमथनं घोरं मालवेन्द्रस्य वर्मण महाभारत) यह प्रख्यात है कि विन्द और अनुविंद महाभारत काल में अवन्ती में द्वैराज्य पद्धति के अनुसार शासक थे, और ये समर में कौरवों की ओर से संग्राम में पहुंचे थे। अस्तु।

जिस कृतवीर्य-कार्तवीर्य के शौर्य के कारण इस देश में राजक्रान्ति घटना घटी है, उसके प्रबल प्रतापी होने के कारण उसे सहस्रबाहु, सहस्रार्जुन भी कहा है। जमदग्नि का वध इसी कृतवीर्य ने किया था, और इसी कारण परशुराम ने 21 बार निःक्षत्र पृथ्वी करने का प्रण किया था। कृतवीर्य की अपार शक्ति का वर्णन मिलता है। परन्तु राजा और सम्राट की संज्ञा से ज्ञापित होने पर भी मार्कण्डेय पुराण (अ० 16) के अनुसार इसके अमात्यों ने राज्याभिषेक का आग्रह किया तो प्रजा के 'कर' ग्रहण को नापसन्द कर इसने स्वीकृति नहीं दी थी। कार्तवीर्य ने भी स्वतंत्र शक्ति बढ़ाई थी, इसके राज्याभिषेक वर्णन अवश्य ही दत्तात्रेय, और नारायण नामक व्यक्ति द्वारा सम्पन्न होने की सूचना (मार्कण्डेय अ० 17) मिलती है। इसने भी थोड़े समय में पृथ्वी पर प्रचण्ड सत्ता प्राप्त करा ली थी। (नारद पुराण 1-76) रावण विन्ध्य की ओर से नर्मदा गया तब सहस्रार्जुन ने बन्दी बना लिया था, पर आगे चलकर अग्नि की साक्षी लेकर परस्पर पीडन के विरुद्ध संधि कर ली थी। (वा० रा० उत्तर० 31-33) इसी प्रकार हैहय-नरेश के अत्यन्त प्रमत्त हो पृथ्वी प्रकंपित करने का भय हो गया था। तब कार्तवीर्य ने नाश के लिए परशुराम को बल प्रदान किया था। (महाभारत) वन 115, विष्णुधर्मोत्तर 2-23, माकण्डेय 16 निरंतर संघर्ष के बाद परशुराम द्वारा कार्तवीर्य के वध का उल्लेख मिलता है। महाभारत (द्रोण-पर्व 70) के अनुसार यह वध गुणावति के उत्तर 'खण्ड वारण्य' के दक्षिण की टेकरी पर हुआ था। प्रतीत होता है यह खण्डवारण्य वर्तमान खण्डवा ही होना चाहिए। इसकी दक्षिणी भागस्थ टेकरी संभवतः प्रसिद्ध जनापाव पर्वत। (जामदग्न्य पर्वत) ही रहा होगा जो महू के निकट मालवे में है। यद्यपि कार्तवीर्य को सहस्रबाहु कहा गया है। यह रूपक मात्र है। वस्तुतः उसे दो हाथ ही थे (हरिवंश 1-33, ब्रह्मा 13) 'सहस्रबाहु' उसके सामर्थ्य का सूचक नाम रहा है। कार्तवीर्य के सभी पुत्रों के पास स्वतंत्र प्रदेश होना पाया जाता है (ब्रह्माण्ड-3-49, कुछ जगह 'कार्तवीर्य' को सम्राट चक्रवर्ती हैहय आदि नामों से संबोधित किया गया है। (वायु 2-32 हरिवंश, 1-33 पद्म पु० 12, ब्रह्म 13, विष्णुधर्म-1-23, नारद 1-76, रामायण आदि,) आज भी माहिष्मती (महेश्वर मालव) में कार्तवीर्य का स्वतंत्र मंदिर बना हुआ है, अन्यत्र कहीं नहीं है। अनेक कथा-गाथाओं से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह महासेनानी अप्रतिम बलशाली भारत के बहुत बड़े भाग पर प्रभाव रखने वाला, हैहय वंश

का प्रचण्ड शासक माहिष्मती का निवासी, और भार्गव-परशुराम विरोधी था। इसी प्रकार नर्मदा के दक्षिण भाग पर भार्गवों का वर्चस्व था। परशुराम की माता रेणुका को वैदर्भी कहा गया है। वह जहां से जल लाती थी, वहां सूर्य की पड़ोसी हैहयों के अधिकार हस्तक्षेप से ही इनमें परस्पर संघर्ष की नींव पड़ी होगी। और रावण भी दक्षिण का ही था, इसी कारण सहस्रार्जुनन ने उसे अपने यहां बन्दी बना लिया और परस्पर अनाक्रमण संधि कर ली होगी। पुराण, महाभारत आदि के अनुसार जमदग्नि परशुराम, विश्वामित्र आदि का एक गुट रहा है। और वसिष्ठ, वैतहव्य-हैहय आदि का दूसरा विरोधी गुट रहा होगा। यह नर्मदा तट का भूभाग वैदिक-काल से लेकर पुराण-काल पर्यन्त प्रसिद्ध-परिचित रहा है। और उसका प्रधान कारण हैहय-कृतवीर्य, परशुराम ही रहे हैं। इसी संघर्ष ने सार्वदेशिक रूप लेकर अनेक संगठनों में व्यापक विस्तार किया है। इसी अप्रतिम शौर्यशाली व्यक्ति के कारण कृत-संवत् का प्रचलन होना सर्वथा स्वाभाविक; और सुसंगत प्रतीत होता है। और तभी कृतिसवंत् के साथ मालव शब्द की संगति भी सार्थक हो जाती है। इस समय जिस काम गणना को मान्यता मिली है; वही कृतकाल से ज्ञापित है। यह गणना कृत-युग माध्यम से नहीं है। स्पष्ट ही मालव गण से संबंधित है। इस कारण वह कृत-वीर्य से ही उचित हो सकती है। उसी गण परंपरा को पुनरुज्जीवित कर विक्रम-प्रभाव में विक्रम शब्द से जुड़ाया गया है।

जिन मल्व-माल्व और मालवगणों की परंपरा इस भू-भाग के वीतिहव्य हैहय से प्रादुर्भूत हुई, अथर्ववेद, महाभारत, रामायण और अन्य अनेक पुराण समर्थन करते आ रहे हैं, 'कृत' उसी की कड़ी जुड़ाने वाली कालगणना है। यदि इतिहास हैहय वंश के कृतवीर्य, कार्तवीर्य की मल्व-मालव गण परंपरा से कृत संवत् संगति का अनुशीलन करे तो संदेह का अवसर नहीं रह सकता। वैदिक साहित्य के साथ-पुराण-महाभारत रामायण का अध्ययन करना आवश्यक है, जहां इतिहास के सूत्र यथाक्रम-ग्रंथित मिलते आते हैं। वीतिहव्यों, तालजंघों को महाभारत में अनेक स्थलों पर 'गणों' के रूप में स्पष्ट सूचित किया है। और मल्व-माल्व कहकर भी ज्ञापित किया गया है। इस कारण कृतसम्वत् की संगति और सार्थकता को समझने में सुविधा हो जाती है। मालव गणों का संगठन अत्यन्त पुराना है। कीचक और सत्यपाल की माता को मालवी कहा है। नकुल की दिग्विजय का वर्णन प्राप्त होता है। महाभारत से पूर्व भी ये संगठित-सशक्त, रहे हैं, पाणिनि ने भी मालव गणों के नियमों को ही (445 से 456) बतलाया है। क्षत्रिय मालव सभी जातियों के सम्मिलित रूप जाति को 'मालवा' कहा जाना सूचित किया है। जिस समय सिकंदर ने भार्गव-गण

प्रतिनिधियों से चर्चा की थी—तब गणों ने बतलाया था कि हमारी स्वाधीनता 'दक्ष' के समय से अक्षुण्ण चली आ रही है। इसी का समर्थन अथर्ववेद के 4 सूक्त 4 अनुवाक से होता है।

एक बात गणों के विषय में बतला देना उचित होगा, आज जब हम विचार करते हैं, तब गणों का रूप पश्चिम में प्रचलित हमारे समक्ष होता है, पुराने गणतंत्रों की पद्धति इससे पृथक रही है। वहां कुलों के समूह गण माने जाते थे—'कुलानां हि समूहस्तु गण: संपरिकीर्तित:।' इनमें अपनी स्वतंत्रता रहती थी, और आवश्यकता पड़ने पर ये संघरूप में कई गण जुड़ जाते थे। उदाहरणार्थ यादवों के समूह ने मिलकर वृष्णि संघ बना लिया था, इसमें राजस्थान, मध्य-भारत के सभी गण मिल गए थे। पर नाम वृष्णिसंघ ही था। इसी प्रकार मालव-गण विभिन्न समूहों के बन गए थे, जिसकी व्याख्या पाणिनि ने की है। क्षत्रिय और ब्राह्मण नहीं थे—वे 'मालव्य' और क्षत्रिय मालव तथा सभी के सम्मिलित संघ मालव कहे जाते थे। आज भी विभिन्न जातियों के लोगों के साथ मालवी शब्द व्यवहृत होता है, यह उसी परम्परा का अवशेष है। जैसे मालवी-ब्राह्मण, मालवी गूजर, मालवी धाकड़ आदि। महाभारत के अनुसार परशुराम से भी मालव-क्षुद्रक मिलकर खड़े थे (द्रोण-अ० 70)। और हैहय तालजंघों के समूह का नाम ही वैतहव्य कहलाता था (अनुशा० अ० 10) पुराणों के अनुसार जो दसों जातियां सगर से मालव गणों के अंग बन कर लड़ी थीं, उनकी संगति इजिप्ट के उत्खनन से उपलब्ध-सरगम् (अर्थात्-सगर) आदि नामों से व्यवस्थित लग जाती है। और आश्चर्य यह है कि वे दसों जातियां आज भी मालव प्रदेश में आसपास बसी हुई मिलती हैं। भार्गव-परशुराम के आक्रमण के कारण ये मालवे से लेकर सुदूर राजपूताना उत्तर भारत तक बढ़े चले गए थे। यह सिकन्दर से बहुत पूर्व ही रामायण महाभारत युग में उल्लेख तक आता रहा है। इसलिए कृतवीर्य के भार्गव-संग्राम को समझना आवश्यक होगा। यही ऐसा सूत्र है जहां 'कृत्त-काल-गणना' प्रत्यक्ष हो सकती है। और उसका महत्त्व तब अधिक समझ में आ सकेगा कि भार्गवों और हैहयों के संघर्ष के मूल कारणों को हम गहराई से समझने का प्रयास करें। क्योंकि भार्गव ब्राह्मण के विरुद्ध हैहय-क्षत्रियों का व्यापक-विरोध, तत्कालीन समाज स्थिति का चित्र प्रस्तुत करने में सहायक हो सकता है। इस संगठन की विशेषता और कृतवीर्य हैहय का प्रचण्ड शौर्यमय व्यक्तित्व हमारे समक्ष आ सकेगा। उसी में कृत-संवत्, मालव-संवत्-विक्रम, संवत् की शृंखला जुड़ी हुई हैं।

एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वैदिक काल से इस क्षेत्र में आर्य अनार्य देवासुर-संग्राम की स्थिति रही है। इसी स्थिति के प्रतीक आगे चलकर परशुराम और वैतहव्य (हैहय तालजङ्घ) है। इसमें ब्राह्मण क्षत्रिय संघर्ष ही प्रधान है।

हैहयों के प्रभाव को भार्गवों ने सहन नहीं किया, और पुनः ब्राह्मण वर्चस्व प्रतिष्ठा किया था। हैहयों का अन्त इसमें हुआ। किन्तु राघवराम के समक्ष परशुराम को भी शस्त्र डाल देना पड़ा था। इसके बाद हम देखते हैं कि बौद्ध अवतरण के पूर्व भी पुनः ब्राह्मणों का प्रभाव बढ़ गया था, और इसी क्रम परम्परा से मगध के यौधेय और अन्य संघों ने संगठित होकर ब्राह्मणत्व से मुकाबिला किया, उसी परिस्थिति ने बुद्ध का प्रभाव स्थापित किया है। यज्ञ-याग, ईश्वरवाद-प्रवर्तक ब्राह्मणों का पराभव इसी प्रकार से हुआ। क्योंकि यह मगध की घटना थी, मगध से ही यह प्रवाह बढ़ा था, मगध के अशोक ने मालव (विदिशा-अवन्ती) तक आकर यहीं प्रचार किया, इसलिए अशोक के अन्त होते ही फिर मगध के ही ब्राह्मणत्व ने वहीं से पनप कर राज्य क्रांति की है। महासेनानी पुष्यमित्र का अभ्युदय और शासन प्राप्त करना तथा अशोक की तरह ही उसके पुत्र अग्निमित्र द्वारा मालव में आकर बौद्ध-विरोधी अश्वमेध, दिग्विजय की प्रवृत्ति, को ग्रीकराजदूत को परम-भागवत-धर्म में दीक्षित करना आदि ब्राह्मणत्व का पुनरुद्धार ही था। और इसके विपरीत पराभूत दबी हुई मालव-क्षत्रियों की प्रजनन शक्तियां पनपती, संगठित होती रही हैं। जो शुंगों के शिथिल होते ही (अंतिम नरेश देवभूति के विलासितामय पतन काल में) पुनः सबल हो उठी। और अपना मालव-गण शासन स्थापित कर लिया। यह शासन चूंकि पिछली 'कृत-वीर्य' परम्परा का होने के कारण ही इनके आरम्भ काल को 'कृत'—मालव अभिन्न बतलाते हुए सूचित किया है, यही इसकी कड़ी है। ब्राह्मण क्षत्रिय संघर्ष की यह श्रृंखला, यथाक्रम, बुद्धपूर्व, बुद्ध पश्चात् शुंग और मालव-गुणों से सुसंग्रथित मिलती है, जिन मालव वैतहव्यों ने उत्तर भारत पर अधिकार कर अनेक स्थानों पर शक्ति संचित की थी। वही विरोधी काल में दबते रहे और अवसर पाकर पनपते रहे। इसलिए महाभारत के अनुसार—'प्राच्य-प्रतीच्य-उदीच्यं मालव, उन्हें कहा गया। उनका फैलाव व्यापक रूप में रहा है, यह उसी का प्रमाण हैं। पाणिनि की गण 'व्याख्यायें भी ब्राह्मण-क्षत्रिय-प्रवृत्ति का संकेत 'सूत्र' रूप मिलता है। जिसमें स्पष्ट है कि 'मालव' यह कोई जाति या वर्ग विशेष का नाम 'गोत्र' नहीं है(न तु मालव शब्दो गोत्रं)। स्पष्ट बतलाया है कि जो क्षत्रिय ब्राह्मण न होंगे वे 'मालव्य' 'अर्थात् मालव निवासी कहे-माने जाएंगे और क्षत्रिय 'मालव' कहे जाएंगे। अर्थात् मालव-गणों में क्षत्रियों का प्रभाव विशेष था, सम्मिलित समूह 'मालवा' माने जाते थे। इस सूत्र में स्पष्ट ही परशुराम हैहय संघर्ष परम्परा के दर्शन किए जा सकते हैं। वस्तुतः परशुराम से कोई हैहयों का सीधा विरोध कारण नहीं था, किन्तु दक्षिण भाग जिस पर इसका प्रभाव था वहां अनार्य और विदेशी लोगों को भी इसने क्रांतिकारी सुधार कर ब्राह्मण बना लिया था, स्कन्द-पुराण के अनुसार—'जो बर्बरादि देशों के अनार्य लोग पश्चिम की ओर

सागरपथ से आकर सह्याद्रि की उपत्यका में बस गए थे, परशुराम ने इनके नवीन 14 कुल स्थापित कर ब्राह्मण बना डाला था, इन्हीं लोगों ने कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय-शाखा, और शाकल (शाकल-द्वीप) शाखा को माना था। इसी बात को लेकर महिष्मती के हैहयों में तनाव बढ़ता रहा, और वह संघर्ष में पलट गया तथा सैनिक संगटन के रूप में बल पकड़ता गया, इसीलिए इस संगठन को किसी जाति-विशेष का (न च मालव-क्षुद्रक शब्दो गोत्रम्) के अनुसार नहीं माना गया। स्पष्ट ही कात्यायन ने महाभाष्य में इसे 'सेनाया नियमार्थं वा नियमार्थोमारम्भः क्षुद्रक मालव शब्दात् सेनायामेव क्वाभाभूत क्षौद्रक-मालवमन्यत्, सैनिक संगठन ही था, इससे यही प्रमाणित होता है कि मालव-लोग देश के विभिन्न भागों में फैल गए थे, उत्तर-पूर्व पश्चिम में इनका प्रभाव उसी समय बढ़ गया था। वहीं सावित्री की माता मालवी-राजकुमारी थी। जिसका महाभारत में 'पुत्रस्तस्य कुरुश्रेष्ठमालव्यां जज्ञिरे तदा' इसमें तथा राजपुत्र्यास्तुगर्भः समालव्यां भरतर्षभ । मालव्यां मालवा नाम शाश्वताः पुत्र पौत्रिणः 'मालव्य' शब्द से पाणिनि के अनुसार वर्णन किया है। केवल पंजाब में ही नहीं 'प्राच्याः प्रतीच्यो-दीच्य मालवाः (वन, अ० 106) इस प्रकार विभिन्न भागों में सैनिकगण संगठन के रूप में व्यापक मिलते हैं, इनको हैहयों की टोली के ही 'मालवगण' स्वीकार करने को बाध्य होना पड़ेगा। जो कृतवीर्य की परम्परा से प्रेरित होने के कारण, माहिष्मती अर्थात् इसी मालव भू-भाग के हैं। अपना वर्चस्व पुनः स्थापित कर लेने के कारण कृत-मालव-संवत में इन्हीं का बोध होना चाहिए। इतिहास की इस गुत्थी को सुलझाने का यही सुसंगत और स्पष्ट उपाय है। 'मालवगणा-म्नात' शब्द में उसी 'आम्नात' (परम्परा) का संकेत है, जिसे 'कृतवीर्य' ने आरम्भ किया था, माहिष्मती के मालवों द्वारा जिसकी नींव डाली गई थी। बौद्धों, शुंगों के काल में वह शिथिल होकर पुनः इसी प्रदेश में सशक्त बनकर अपने प्रभाव प्रतिष्ठित करने में समर्थ हुई है। कालिदास-दीर्घ-निकाय, और गोविन्द सुत से संकेत है। इस बीच माहिष्मती में कोई शासन नहीं दिखाई देता, बाद में विदिशा ही राजधानी होकर हमारे समक्ष आती है जो बुद्ध-अशोक के बाद ब्राह्मण-शुंगों के प्रभाव की परिचायक है। इसका शुंगों के साथ अंत होते ही फिर वही मालव-गण प्रभाव स्थापित कर लेते हैं और जो शुंगों के समय भी 'गण-शत' रूप में दिखाई पड़ते हैं। निःसन्देह अपने विगत प्रभाव को पुनः स्थापित कर इस महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना के कृत-माल-संवत् को हम शिला-लेखों में देख पाते हैं। दूसरी शती के केवल 'कृतेहि' संवत् को थोड़े समय बाद ही 'कृत-मालव' शब्द के अभिन्न रूप में जुड़ा पाते हैं। जो हमारे सम्पूर्ण विवेचन को प्रमाणित कर देते हैं।

हेमचन्द्र विक्रमद्

श्री चन्द्रबली पाण्डेय

हेमचन्द्र विक्रमादित्य को हम नहीं जानते और नहीं जानते हम हेमू बनिया को। हम जानते हैं बस उसी हेमू बक्काल को जो सन् 1556 ई० में पानीपत के मैदान में जा जमा था और जीतने को था कि कहीं से आंख में ऐसा तीर लगा कि बस वहीं हौदे में ढेर हो रहा। उस समय कोई उसका साथी न हुआ। महावत भी मारा गया। भक्त हाथी उसे लेकर जंगल की ओर भागा तो सही पर बीच ही में वह भी पकड़ा गया। हेमू की आंखें खुलीं तो वह बैरी के हाथ में बन्दी था। उसकी प्रभुता स्वप्न थी। फिर क्या था, बैरी की बन आई और बात की बात में सर कहीं और धड़ कहीं हो गया। सर सरकार की कृपा से काबुल पहुंचा तो धड़ दिल्ली के द्वार पर लटका दिया गया। और इतने से संतोष न हुआ तो वृद्ध पिता का भी वध किया गया और देश में मुगली छा गई। चारों ओर अकबर का आतंक दौड़ गया और पलभर में विक्रमादित्य का सूरज डूब गया। किसी ने हेमू का साथ न दिया। जिस देश ने 'कहां राजा भोज कहां गंगा तेली' के गपोड़े में 'गंगा तेली' को घर-घर फैला दिया उससे इस 'हेम' के लिए इतना भी न बना कि कहीं उसका नाम भी तो चलता। यदि इसके बैरी इतिहासकार इसके विषय में इतना भी न लिखते और इस हेमचन्द्र विक्रमादित्य का हेमू बक्काल के रूप में परिहास भी न करते तो हम आज किस हेमू का नाम लेते और किस हेमचन्द्र विक्रमादित्य की वर्षी मनाते ? अरे, जिसे अपनी सुधि नहीं, उसकी सुधि भला कोई पराया क्यों ले और क्यों उसके पुराण को इतिहास का रूप दे ? फिर भी हमारे देश के शम्सुलउलमा मौलाना मुहम्मदहुसैन 'आजाद' किस आजादी से लिख जाते हैं—

'चगताई मोवर्रिख बनिये की जात को गरीब समझकर जो चाहें सो कहें मगर इसके कवाअद बन्दोबस्त दुरुस्त और अहकाम ऐसे चुस्त हो गए थे कि पतली दाल ने गोश्त को दबा लिया। अफगानों में जो बाहम कशाकशी और बेइन्तजामी रही उसमें वह एक जंगी और बाइकबाल राजा बन गया। अदली की तरफ से लश्कर जर्रार लिए फिरता था, कहीं धावा मारता था, कहीं मुहासिरा

करता था, और किला बन्द करके वहीं डेरे डाल देता था। अलबत्ता यह कवायत जरूर हुई कि बिगड़े दिल अफगान उसके अहकाम से तंग आकर न फक्त उससे बल्कि अदली से भी बेजार हो गए।' (दरबार अकबरी, पृ० 843।)

परन्तु अदली (सन् 1554 से 1556 ई० तक) भलीभांति जानता था कि हेमू के अतिरिक्त उसका कहीं कोई सहारा नहीं। उसने एक दिन में उसे अपना सब कुछ नहीं बना दिया। उसके हाथ में शासन-सूत्र आने के पहले ही गली-गली में नून की फेरी करनेवाला बनिया सरकार में बहुत कुछ बन चुका था। वह सरकारी मोदी था, बाजार का चौधरी था, 'उर्दू' का कोतवाल था। जहां था, सफलता उसके साथ थी। और जब अदली का कोई कर्णधार न रहा तब वही बनिया आगे बढ़ा और उसके अनुमोदन से वह मैदान मारा कि अफगान देखते ही रह गये। एक दो नहीं कुल 22 मैदान मार चुका था और कहीं किसी से कभी पीछे नहीं हटा था। अफगान पहले तो उसे बक्काल कहकर तुच्छ समझते थे पर रणभूमि में जब सामने आते थे, तब आटा-दाल का भाव मालूम होता था और प्रत्यक्ष देख लेते थे कि जीत इस बनिए के साथ चलती है। ताजखां कर्रानी से जब अदली का सामना हुआ और दोनों गंगा के तट पर आकर एक-दूसरे का मुंह देखने लगे, तब साहसी हेमू ने ही गंगा पार कर कर्रानी को खदेड़ा और उधर से पलटा तो इब्राहीम सूर के पैर भी कालपी में उखड़ गये और अन्त में बयाना के किले में उसे घिरना ही पड़ा। हेमू उसको निर्मूल कर आगरा-दिल्ली को लेना ही चाहता था कि चुनार से अदली का फरमान पहुँचा। हेमू पूरब की ओर झपटा तो अदली भी भागता हुआ कालपी के पास उससे आ मिला। फिर तो हेमू ने मुहम्मदखां की सेना पर चरकता पर यमुना पार कर अचानक ऐसा धावा बोल दिया कि जो जहां था, तहां ही रह गया और विजयश्री हेमू के हाथ लगी। सब कुछ हुआ पर जब वह आगरा और दिल्ली को अधीन करता हुआ पानीपत के मैदान में पहुंचा तब विक्रमादित्य बन चुका था। यहीं उसके पराक्रम का अन्त हुआ। यहीं उसके विक्रम का आदित्य अस्त हुआ। और ऐसा अस्त हुआ फिर कहीं कहने को भी न उगा। निश्चय ही हेमू ही हमारा अन्तिम विक्रमादित्य है और अवश्य ही हिन्दू के हाथ से ही अकबर को मुगल साम्राज्य मिला, कुछ पठानों के हाथों से कदापि नहीं।

हां, भारत के इतिहास में हेमू का व्यक्तित्व सबसे निराला है। महाराज पृथ्वीराज के हाथ से दिल्ली जो गई तो फिर किसी हिन्दू की न हुई, किसी हिन्दू के हाथ नहीं आई। चार दिन के लिए हिन्दू से बने मुसलमान मियां खुसरो भी नासिरुद्दीन के नाम से दिल्ली के सुलतान (सन् 1320 ई०) रहे पर अन्त में तुगलक की तलवार से वह भी दूर हुए और दिल्ली बाहरी मुसलमानों की हो रही। पठान शेरखां सचे र हुआ तो उसने मुगलों से अफगानी राज्य छीन

लिया और बहुत कुछ हिन्दी राज्य करने लगा। उसके कुल की डूबती नैया का डांडा-डांडी छोड़कर संभाला हेमू बक्काल ने और सोचा कि पठान उसके हो रहे। वह इन्हीं अफगानों के सहारे जीतने चला विदेशी मुगलों को। वह जीत भी गया। परन्तु उसने भूल यह की कि इन अफगानों के मजहब को नहीं समझा और इन्हीं के बल पर बनना चाहा 'शकारि' विक्रमादित्य। जो चाहा सो हो गया पर जो चाहता था सो न हो सका। कारण उसी 'आजाद' के मुंह से सुनिए—

'इसे समझना चाहिए था कि मैं किस लश्कर और किन लश्करियों से काम ले रहा हूं। यह न मेरे हमकौम हैं, न मेरे हमवतन हैं, न हममजहब हैं। जो कुछ करते हैं या करेंगे पेट की मजबूरी, या उम्मेद या इनाम या जान के आराम के लिए करते हैं। और मेरी मीठी जबान, खुशखूई, दर्दख्वाही और मोहब्बतनुमाई इसका जुज आजम था—फिर भी यह सारी बातें आरजी हैं। यह कोई नहीं समझता कि इसकी फ़तह हमारी फतह है। और हम मर भी जायेंगे तो हमारी औलाद इस कामयाबी की कमाई खायेगी।' (वही, पृ० 848)

परिणाम जो होना था वही हुआ। अफगानी तोपखाना पहले ही मुगलों का हो गया। और जब जीतते-जीतते हेमू घायल हो आंख की पीड़ा से अचेत हो गया तब उस नमकहलाल हाथी के सिवा उसका कोई अपना न रह गया जो उसकी सुधि लेता अथवा उसके काम को पूरा करता। यदि वह राजपूत होता तो कुछ 'राजपूत तो उसके साथ मर मिटते? पर नहीं, जिसने इतने राजपूतों का मान-मर्दन कर बनिया होते हुए अपने को विक्रमादित्य घोषित कर दिया उसका साथ कौन देता! अस्तु, उसका अन्त हुआ और साथ ही उस विरुद का भी जो 'शकारि' का द्योतक और 'साका' का परिचायक है। हमारे लिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि हम आज न तो अपने प्रथम विक्रमादित्य को जानते हैं और न अन्तिम विक्रमादित्य को ही। परन्तु हमारे इस अन्तिम विक्रमादित्य को हमारा अकबर खूब जानता था और इसी से तो उसकी हत्या पर उसके अंगअंग को चित्र में अलग-अलग बना दिखाकर कहता था कि इस घमंडी का काम तो पहले ही तमाम हो चुका था। मैंने इसे क्या मारा। सच है, अकबर ने हेमू को नहीं मारा, उसे तो देश के दुर्भाग्य अथवा दैव ने मारा। अहमद यादगार का कहना कितना सच है कि अकबर के भाग्य का उदय था कि मृत्यु का तीर हेमू के भाल में जा लगा—'चूं सिताराय दौलत अकबरशाही रूये दर तरक्की दाश्त नागाह तीर कजा बपेशानीये हेमू खुर्द।' (तारीख-ए-शाही, बप्टिस्ट मिशन प्रेस, रो० ए० सु० आफ बंगाल, 1939 ई०, पृ० 362)।

किन्तु भाग्य का प्रताप अथवा मुसलमानों का न्याय तो देखिए कि उनसे इतना भी न देखा गया और लोक में यह प्रवाद (तारीख-ए-शाही, पृष्ठ 357)

फैला दिया गया कि हेमू ने तो मुगलों को जीतने के लिए हजरत कुतुबल हक के मजार पर आकर मिन्नत मान किंवा व्रत ठान लिया था कि जीत के बाद मुसलमान हो जाऊंगा और इस्लाम का प्रचार करूंगा। पर विजयी होने पर उसने किया एक भी नहीं। फलतः उसे इसका फल भोगना और तलवार के घाट उतरना पड़ा। क्या खूब ? देखिए, हमारे इस विक्रमादित्य की हमारी आंखों के सामने कैसी गति होती है !

विक्रम के नवरत्न

श्री बृजकिशोर चतुर्वेदी

महाराज विक्रमादित्य के नवरत्नों की कथा बहुत प्राचीन है। परन्तु इसका प्रमाण केवल 'ज्योतिर्विदाभरण' ग्रन्थ के निम्नलिखित श्लोक में ही पाया जाता है—

'धन्वन्तरिक्षपणकऽमरसिंहशंकु वेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां, रत्नानि वै वररुचिर्नवविक्रमस्य।'

इस श्लोक के आधार पर ही विक्रम के नवरत्न (1) धन्वन्तरि (2) क्षपणक, (3) अमरसिंह, (4) शंकु, (5) वेतालभट्ट, (6) घटखर्पर, (7) कालिदास, (8) वराहमिहिर और (9) वररुचि—बताए जाते हैं। प्रोफेसर कर्न के साथ-साथ कई प्रसिद्ध इतिहासकार एवं पुरातत्त्व-वेत्ताओं ने इस श्लोक के साथ-साथ 'ज्योतिर्विदाभरण' ग्रन्थ को भी जाली बतलाने का प्रयत्न किया है। दूसरी ओर महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि 'ज्योतिर्विदाभरण' ग्रन्थ प्रसिद्ध कवि कालिदास का बनाया हुआ नहीं है परन्तु किसी अन्य गणक कालिदास ने 1164 शाके में इसकी रचना की थी। इसलिए इसका प्रमाण कहां तक मान्य हो सकता है, इस विषय में बहुत वाद-विवाद चल रहा है। विद्वानों का यह भी मत है कि ईसा के 57 वर्ष पूर्व कोई विक्रम नाम का राजा हुआ ही नहीं और इसलिए विक्रम-संवत् को चलाने वाले नये-नये नाम खोजने का प्रयत्न अब जारी हुआ। यशोधर्मन्, हर्षवर्धन, चन्द्रगुप्त द्वितीय, अग्निमित्र और गौतमीपुत्र शातकर्णि इत्यादि को नाना प्रकार के प्रमाणों के आधार पर विक्रमादित्य बताने का प्रयत्न किया गया है। और पाश्चात्य एवं पूर्वीय विद्वानों का अधिक मत चन्द्रगुप्त द्वितीय के पक्ष में ही है। परन्तु यह कहना कठिन है कि जो प्रमाण इस मत के पक्ष में बताए जाते हैं, वही अकाट्य और अन्तिम हैं।

हमारी राय में भारत के प्राचीन इतिहास की सामग्री अब भी भूमि के नीचे दबी हुई पड़ी है और जब तक सिलसिलेवार प्रान्त-प्रान्त में, उत्खनन नहीं होता;

तब तक प्राचीन इतिहास के विषय में एक मत निश्चित कर लेना अत्यन्त कठिन है। मोहन-जो-दारो और हड़प्पा के उत्खनन के अनन्तर प्राचीन भारत के इतिहास के सम्बन्ध में जिस शीघ्रता से दृष्टिकोण बदला है, वह किसी से छिपा नहीं है। संभव है उज्जयिनी में उत्खनन होने के अनन्तर हमें वह सामग्री उपलब्ध हो सके जिससे विक्रमादित्य-काल के विषय में वह सारे मत बदलने पड़ें जो आज प्रचलित किए जा रहे हैं। यह कहना कठिन है कि जितनी मुद्रा और जितने सिक्के उपलब्ध हो सकते थे, वे सब उपलब्ध हो चुके। यह कहना और भी कठिन है कि सारे ऐतिहासिक ताम्रपत्र, शिलालेख और हस्त-लिखित पुस्तकें, जो आवश्यक हैं, इतिहासकारों के सम्मुख आ चुकी हैं।

इन परिस्थितियों में विक्रमादित्य और विक्रम सम्बन्धी काल के विषय में पुरानी जनश्रुतियों को बिलकुल मिथ्या बतलाना समीचीन प्रतीत नहीं होता। इतिहासकार भले ही कहते रहें कि 'ज्योतिर्विदाभरण' में बतलाए हुए नौ विद्वानों का एक काल में होना इतिहास से सिद्ध नहीं होता; परन्तु जब तक प्राचीन इतिहास की सारी सामग्री को ऊपर लाने का प्रयत्न नहीं होगा, तब तक अपर्याप्त सामग्री के आधार पर इतिहासकारों के कथन से लोकमत सन्तुष्ट नहीं हो सकता।

'ज्योतिर्विदाभरण' पर भी कहीं-कहीं भ्रान्तिपूर्ण आलोचनाएं हुई हैं परन्तु उस पर एक स्वतंत्र लेख लिखना ही उपयुक्त होगा। यहां इतना लिखना पर्याप्त है कि 'ज्योतिर्विदाभरण' कभी भी लिखा गया हो, उसके ग्रन्थकार को मिथ्या लिखने की आवश्यकता नहीं थी। कम से कम, इतना मानना उपयुक्त होगा कि जैसी जनश्रुति ग्रंथकार के काल में थी वैसी ही उसने लिख दी।

वराहमिहिर की बृहत्-संहिता के अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका में स्वयं प्रोफेसर कर्न महोदय ने ही संवत् 1015 (948 ई०) के बुद्धगया में प्राप्त उस शिलालेख का उल्लेख किया है, जिसमें विक्रमादित्य के 'नवरत्नानि' में से प्रसिद्ध पंडित अमरदेव की प्रशंसा की गई है। यह अमरदेव कोपकार अमरसिंह ही हैं, ऐसा विद्वानों का मत है। कम से कम इतना सत्य है कि आज से एक हजार वर्ष पूर्व विक्रम के नवरत्नों का अस्तित्व माना जाता था।

(1) कालिदास—नवरत्नों में कालिदास की प्रसिद्धि बहुत हो चुकी है। उनके विषय में कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इस ग्रंथ में भी विद्वत्तापूर्ण कई स्वतंत्र लेख छप रहे हैं। इसलिए उनके विषय में यहां कुछ लिखना अनावश्यक है। अन्य आठ रत्नों के विषय में जो सामग्री मिली है, उसके संकलन का प्रयत्न आगे किया गया है। पाश्चात्य और पूर्वीय विद्वानों के विचार भी यथातथ बतलाए गए हैं।

(2) क्षपणक—'क्षपणक' प्राचीन काल में जैन साधु को कहते थे। मुद्राराक्षस में 'क्षपणक' के भेष में जासूस का रहना बताया गया है। शंकर दिग्विजय

में उज्जयिनी में शंकर का शास्त्रार्थ किसी क्षपणक से होना लिखा है।

विक्रमादित्य के काल में जैन पंडितों में केवल श्रीसिद्धसेन दिवाकर का अस्तित्व माना जाता है। जैन ग्रंथों में विक्रम के ऊपर उनका अत्यधिक प्रभाव भी बताया गया है। जैन आगम ग्रंथों का संस्कृत भाषा में लिखने का प्रयत्न भी सिद्धसेन दिवाकर ने किया था, ऐसा भी प्रसिद्ध है। इन कारणों से श्रीसिद्धसेन दिवाकर को ही क्षपणक बताया जाता है।

'ज्योतिर्विदाभरण' के एक दूसरे श्लोक में विक्रमकालीन वैज्ञानिकों के नाम लिखे हैं, जिनमें वराहमिहिर, सत्यश्रुतसेन, बादरायण, मणित्थ और कुमारसिंह के नाम आते हैं। टीकाकारों ने सिद्धसेन दिवाकर का दूसरा नाम श्रुतसेन बतलाया है।

सिद्धसेन ज्योतिष में और तंत्र में भी पारंगत थे और सम्भव है, वे विक्रम के नवरत्नों में रहे हों। परन्तु जो प्रमाण लिखे गए हैं वे अकाट्य नहीं हैं। जैन साधु का एक ही स्थान पर रहना अधिक उपयुक्त नहीं जंचता। सम्भव है क्षपणक कोई अन्य नैय्यायिक हो।

(3-4) शंकु और वेतालभट्ट—वास्तव में क्षपणक, शंकु और वेतालभट्ट के जीवन के सम्बन्ध में अभी तक कोई प्रकाश नहीं पड़ा है। शंकु का नाम 'ज्योतिर्विदाभरण' के 8वें श्लोक में भी पाया जाता है, यथा—

'शंकुः सुवाग्वररुचिर्मणिरंगुदत्तो, जिष्णुस्त्रिलोचनहरीघटकर्पराख्यः।
अन्येऽपि सन्ति कवयोऽमरसिंहपूर्वा यस्यैव विक्रमनृपस्य सभासदोऽमी ॥'

(अर्थात् विक्रम की सभा में 9 सभासद थे—(1) शंकु, (2) वररुचि, (3) मणि, (4) अंगुदत्त, (5) जिष्णु, (6), त्रिलोचन (7), हरि (8) घटखर्पर और (9) अमरसिंह।)

इससे शंकु का एक प्रसिद्ध विद्वान् तो होना सिद्ध होता है।

एक प्राचीन श्लोक ऐसा भी बताया जाता है, जिसमें लिखा है कि शबर स्वामी ने 4 वर्णों में स्त्रियों से विवाह किया था। ब्राह्मण स्त्री से वराहमिहिर ने जन्म लिया। क्षत्रिय स्त्री से भर्तृहरि और विक्रमादित्य ने जन्म लिया। वैश्य स्त्री से हरिश्चन्द्र और शंकु ने जन्म लिया और शूद्र स्त्री से अमरसिंह ने जन्म लिया।

इस श्लोक का यह भी तात्पर्य हो सकता है कि 'शाबर भाष्य' के कर्ता श्री शबर स्वामी ने चार वर्णों के शिष्यों को विद्या प्रदान की थी। और शंकु एक वैश्य थे और विक्रम के गुरुभाई रहे होंगे। कोई-कोई इनको मन्त्रवादिन् और कोई-कोई इनको प्रसिद्ध रसाचार्य शंकु बतलाने का प्रयत्न कर रहे

हैं। कई किवदन्तियों में इनको स्त्री भी बतलाया है। कोई इनको ज्योतिषी भी बतलाते हैं।

शंकु से भी कम परिचय वेतालभट्ट का मिलता है। प्राचीनकाल में 'भट्ट' या 'भट्टारक' पंडितों की भी एक बड़ी उपाधि हुआ करती थी। सम्भव है यह भी एक बड़े पंडित हों। और यह भी सम्भव है कि 'वेतालपंचविंशतिका' सरीखे कथाओं के यह ही ग्रंथकर्त्ता रहे हों। उज्जयिनी के महाकाल-श्मशान से इसका सम्बन्ध बताया जाता है। कथा यह है कि रोहणगिरि से विक्रम अग्निवेताल को जीतकर लाये थे और अग्निवेताल से उनको अद्भुत एवं अदृश्य सहायता मिलती रही। सम्भव है साहित्यिक होते हुए भी भूत, प्रेत, पिशाच साधना में यह पारंगत रहे हों। यह भी संभव है कि आग्नेय अस्त्र एवं विद्युत शक्ति में यह पारंगत हों और विक्रमादित्य के राज्य में कापालिक या तांत्रिकों के प्रतिनिधि रहे हों और इनकी साधना-शक्ति से राज्य को लाभ होता रहा हो।

(5) अमरसिंह—राजशेखर की काव्यमीमांसा के अनुसार अमर ने उज्जयिनी (विशाला) में शिक्षा प्राप्त करके काव्यकार की परीक्षा उत्तीर्ण की थी। सबसे पहला संस्कृत कोष जो प्राप्त है अमरसिंह का 'नामलिंगानुशासन' है जो अमरकोश के नाम से प्रसिद्ध है। अमरकोश में कालिदास का नाम आता है। मंगलाचरण में बुद्धदेव की प्रार्थना है और कोष में बौद्ध शब्द और विशेषकर महायान सम्प्रदाय के शब्द भी बहुत पाए जाते हैं, जिनसे बौद्धकाल और कालिदास के बाद में अमरकोश का लिखा जाना प्रतीत होता है।

जिनेन्द्र बुद्धि ने सन् 700 ई० में 'न्यास' लिखा है। अमरकोश उसके बहुत पहिले का होगा। क्योंकि उसमें अमर का नाम श्रद्धा से लिया गया है। अमरकोश पर बहुत से आचार्यों ने टीका लिखी है। ग्यारहवीं सदी में क्षीरस्वामी की टीका बहुत ही प्रसिद्ध है। बंद्यघाटीय सर्वानन्द ने 1159 में और रायमुकुट ने 1431 ई० में अमरकोश पर टीका लिखी है, जिनसे पता चलता है कि सन्त मेधावी 16 आचार्य इनके पहले टीका लिख चुके थे। संस्कृत कोश-ग्रन्थ में इतनी टीकाएं किसी पर भी नहीं लिखी गई हैं।

(6) घटखर्पर—शंकु और घटकर्पर के नाम 'ज्योतिर्विदाभरण' में दो बार आए हैं और घटकर्पर का भी विद्वान् पंडित होना निश्चित ही है। इनके नाम 'घटकर्पर' और 'घटखर्पर' दोनों ही पाये जाते हैं।

सम्भव है इन्होंने बहुत से ग्रंथ लिखे हों परन्तु इस समय इनके नाम का एक ही काव्य बताया जाता है जो 22 श्लोकों में है। कालिदास के मेघदूत की तरह इसमें एक विरहिणी नवयुवती अपने परदेशस्थ पति को मेघों द्वारा सम्वाद भेजती है। इस काव्य में यमकालंकार की भरमार है। कवि ने यहां तक कहा है कि अनुप्रास, यमक और शाब्दिक चमत्कार की प्रतियोगिता में दूसरा कवि उसके

बराबर नहीं हो सकता। अगर कोई हो तो टूटे घड़े में पानी उसके यहां पहुंचाने को तैयार हूँ। 'तस्मै वहेयमुदकं घट-कर्परेण'। काव्य साधारण श्रेणी का ही है परन्तु प्रतिभा अवश्य है।

बड़े-बड़े दिग्गज विद्वानों ने इस पर टीकाएं लिखी हैं जिनमें अभिनवगुप्त, शांतिसूरि, भरतमल्लिका, शंकर, रामपतिमिश्र, गोविन्द, कुशलकवि, कमलाकर, ताराचन्द, और वैद्यनाथदेव की टीकाएं प्रसिद्ध हैं। कई विद्वानों का मत है कि यह काव्य कालिदास का ही लिखा हुआ है और यह उनके प्रारंभिक काल की रचना है। मेघों द्वारा प्रेमिका के दूरस्थ पति को संदेश भेजने का 22 श्लोकों का यह दूत-काव्य उस महाकाव्य का प्रवर्तक है जो परिपक्वावस्था में कालिदास ने मन्दाक्रान्ता छन्द और अत्यन्त कोमलकान्तपदावली में 'मेघदूत' के नाम से लिखा था। अभिनवगुप्त ने टीका में लिखा है 'अत्र कर्त्ता महाकविः कालिदास इत्यनुश्रुतमस्माभिः'। कमलाकर और ताराचन्द्र और अन्य टीकाकारों ने भी इसी बात को सही माना है। परन्तु गोविन्द एवं वैद्यनाथ देव घटखर्पर कवि को स्वतंत्र मानते हैं।

दूसरा मत यही है कि 'घटखर्पर' काव्य से ही 'कालिदास' के 'मेघदूत' काव्य को प्रोत्साहन मिला है और 'घटखर्पर' स्वतंत्र कवि था। रघुवंश, कुमारसम्भव, मेघदूत और ऋतुसंहार के श्लोकों में घटखर्पर के विचार साम्य दृष्टिगोचर होते हैं। 'घटखर्पर' का एक दूसरा छोटा काव्य 'नीतिसार' भी बताया जाता है।

'घटकर्पर' या 'घटखर्पर' नाम अवश्य ही विचित्र प्रतीत होता है। घटकर्पर काव्य का अन्तिम श्लोक है :—

'भवानुरक्तवनितासुरतैः शपेयमालम्ब्य चाम्बु तृषितः करकोशपेयम्।
जीवेय येन कविना यमकैः परेण, तस्मै वहेयमुदकं घटकर्परेण ॥'

काव्य के अन्तिम शब्द 'घटकर्परेण' से ही काव्य का नामकरण 'घटकर्पर' हुआ और फिर कवि का नाम भी 'घटकर्पर' होकर वह विक्रम के नव-रत्नों में बताया गया, ऐसा कई विद्वानों का मत है। यह मत सही मान लेना उचित न होगा। यह सम्भव है कि इसी बहाने कवि ने अपना नाम काव्य के अन्त में रखा हो।

जो कुछ भी हो 'घटखर्पर' नाम अत्यन्त विलक्षण है। सम्भव है कि इनका नाम कुछ और हो, परन्तु इसी नाम से सिद्धि पायी हो। सम्भव है यह नामकरण भी कुछ विशेष कारणवश किया गया हो।

विक्रम के इतने भारी साम्राज्य का शासन यह नौ कोरे पंडित और कवि ही किया करते थे, ऐसा सही नहीं हो सकता। वास्तव में नवग्रहों के आधार पर

ही नवरत्नों की सृष्टि की गई होगी। विक्रम-आदित्य के साथ (नवग्रह की भांति) नवरत्न होना समीचीन है। एक-एक रत्न के पास एक-एक शासन विभाग होने की कल्पना अनुचित न होगी।

धन्वन्तरि के पास स्वास्थ्य विभाग, वररुचि के पास शिक्षा विभाग, कालिदास के पास संगीत, काव्य और कला विभाग, क्षपणक के पास न्याय, अग्निवेताल के पास सेना व तान्त्रिक कापालिक और विद्युत शक्ति विभाग होने की कल्पना की जा सकती है।

हमारा प्राचीन आदर्श महान् था। एक विषय में पारंगत होते हुए भी मन, वाणी और शरीर की शुद्धता के लिए अन्य विषयों पर भी वही विशेषज्ञ ग्रन्थ लिखा करते थे। जो महर्षि पतंजलि को महाभाष्यकार ही समझते हैं, वह भूल करते हैं। उन्होंने व्याकरण, योग और वैद्यक तीनों पर अलग-अलग प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखे थे। राजा भोज की 'न्यायवार्तिका' में पतंजलि के प्रति श्रद्धांजलि का निम्नलिखित श्लोक हमारे प्राचीन भारत के आदर्शों का सूचक है—

'योगेन चित्तस्य, पदेन वाचां, मलं शरीरस्य तु वैद्यकेन।
योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां, पतंजलिं प्रांजलिरानतोऽस्मि ॥'

(मुनियों में श्रेष्ठ उन पतंजलि को वंदना करता हूं जिन्होंने (1) महाभाष्य के द्वारा वाणी की अशुद्धता मिटाई, (2) योगसूत्र लिखकर चित्त की अशुद्धता मिटाई, और (3) वैद्यक ग्रन्थ लिखकर शरीर का मैल हटाया।)

संभव है शंकु और घटखर्पर भी विद्वान् और कवि होते हुए भी किसी विषय में विशेषज्ञ होंगे और शासन का कोई विभाग इनके पास रहा होगा। विक्रमादित्य का काल महायान तंत्र का काल था जिसने व्याडि और नागार्जुन सरीखे प्रसिद्ध वैज्ञानिकों को जन्म दिया था। मध्य भारत और उज्जयिनी में महायान तंत्र का बहुत प्रचार रहा था, ऐसा कुब्जिका तंत्र में पाया जाता है। दरबार पुस्तकालय नेपाल में जो पुस्तक सुरक्षित है वह प्रति छठी शताब्दी की है, उसमें यह श्लोक मिलता है :—

'दक्षिणे देवयानौ तु पितृयानस्तथोत्तरे। मध्यमे तु महायानं शिवसंज्ञा प्रगीयते ॥'

इस काल में शैव और बौद्ध तंत्रों का सम्मिलन हो रहा था और देश के लिए नवीन आविष्कार किए जा रहे थे। शिव को 'पारद' (पारा-Mercury) का जन्मदाता बताकर 'षड्गुण बल जारित' 'पारद से ताम्र का सुवर्ण बनाए' जाने की रीति निकाली गई थी। योगीश्वर शिव के नाम पर देश की आर्थिक अवस्था में सुधार किया जा रहा था। 'पारद' के आधार पर वायुयान वायु में उड़ने लगे थे, ताम्र का सोना बनने लगा था और भारत की साम्पत्तिक अवस्था

नवीन आविष्कारों के सहारे दिन-पर-दिन उन्नति करने लगी थी। और पारद एवं जसद (zinc) का उन दिनों बोलबाला था। महाकालतंत्र, कुब्जिकातंत्र, रुद्रयामलतंत्र व अन्य तांत्रिक ग्रन्थों में इन्हीं दोनों की महिमा पायी जाती थी।

रुद्रयामल तंत्र में धातुमंजरी में जसद के पर्यायवाची शब्द निम्नलिखित बताए गए हैं :—

जासत्वं च जरातीतं राजतं यशदायकम्।
रुप्यभ्राता, वरीयश्च, त्रोटकं कोमलं लघुम् ॥
चर्मकं, खर्परं चैव, रसकं, रसवर्द्धकम्।
सदापथ्यं, बलोपेतं, पीतरागं सुभस्मकम् ॥

(यानी जस्ता के पर्यायवाची शब्द जासत्व, यशद, यशदायक, रुप्यभ्राता चर्मक, खर्पर, और रसक थे।)

'जसद' यशदायक का अपभ्रंश है और 'यशदायक' (जसद) शब्द में ही जसद की प्रशंसा निहित है। उन दिनों यह नवीन आविष्कार देश की अमूल्य सम्पत्ति हो रहा था। इसी का पर्यायवाची शब्द 'खरपर' भी था।

उस समय के वैज्ञानिक आविष्कारों को देखकर, स्वतंत्र साम्राज्य स्थापित करने वाले सम्राट् विक्रमादित्य ने आविष्कारों का विभाग अलग स्थापित करके एक विशेषज्ञ को सौंप दिया हो तो आश्चर्य की बात तो नहीं हो सकती और किसी कारणवश उस विशेषज्ञ का नाम ही 'घटखर्पर' पड़ गया हो तो भी आश्चर्य नहीं। घड़े में जसद रखने वाले को 'घटखरपर' कहते होंगे, ऐसा हमारा मत है। इस विषय में प्रमाण का अवश्य अभाव है।

वास्तव में विक्रमकालीन भारतीय अवस्था का अधिक हाल तांत्रिक ग्रन्थों में मिल सकता है। उज्जयिनी और महाकाल का अधिक सम्बन्ध तांत्रिकों और कापालिकों और तंत्र-ग्रन्थों से रहा है और इसीलिए जब तक तंत्र-ग्रन्थों के आधार पर अनुसंधान न हों तब तक घटखर्पर, शंकु और वेतालभट्ट सम्बन्धी पहेलियां आसानी से सुलझ नहीं सकतीं।

(7) वररुचि—राजशेखर ने लिखा है कि वररुचि शास्त्रकार की परीक्षा में पाटलिपुत्र में उत्तीर्ण हुए थे। कथासरित्सागर के अनुसार वररुचि का दूसरा नाम कात्यायन था। वह शिवजी के पुष्पदन्त नामक गण के अवतार थे। शिवजी के शाप से कौशाम्बी में एक ब्राह्मण कुल में जन्म लिया और पांच वर्ष की अवस्था में ही पितृहीन हो गए थे। प्रारंभ से ही श्रुतधर थे। एक बार अकस्मात् व्याडि और इन्द्रदत्त दो विद्वान् इनके घर आए और कौतुकवशात् व्याडि ने प्रातिशाख्य का पाठ किया जिसको वररुचि ने वैसा-का-वैसा ही दुहरा दिया। इस पर व्याडि और इन्द्रदत्त इनको पाटलिपुत्र ले गए। वहां वर्ष और उपवर्ष शिक्षा

प्राप्त की। वहीं पाणिनि पढ़ रहे थे जिनको पहिले शास्त्रार्थ में परास्त किया। तदनन्तर स्वयं परास्त हुए। उपकोशा से ब्याह होने पर महाराजा नन्द के मंत्री हुए। महाराजा नन्द की मृत्यु के अनन्तर वन में चले गए और काणभूति को कथा सुनाकर शाप से मुक्ति पायी। कुमारिलभट्ट के 'सूत्रालंकार' से इनमें से कई बातों का समर्थन होता है।

जिनप्रभसूरि-विरचित 'विविधतीर्थकल्प' में लिखा है कि सिद्धसेन दिवाकर की सम्मति से महाराज विक्रमादित्य की शासन-पट्टिका लिखी गई थी जिसको उज्जयिनी नगरी में संवत् 1, चैत्र सुदी 2, गुरुवार को 'भाटदेशीय महाक्षपटलिक परमार्हत-श्वेतांबरोपासक-ब्राह्मण गौतमसुत कात्यायन ने लिखा था।' जिनप्रभ-सूरि का सुल्तान मुहम्मद तुगलक के राज्य में बड़ा मान था और कहा जाता है यह शासन-पट्टिका उन्होंने स्वयं देखी थी। यदि यही कात्यायन वररुचि भी कहलाते थे तो ज्योतिर्विदाभरण के इस लेख की पुष्टि होती है कि महाराज विक्रम के नवरत्नों में वररुचि भी थे।

कात्यायन के कोशग्रन्थों में 'नाममाला' का नाम लिया जाता है। पाणिनि के व्याकरण पर कात्यायन की वार्त्तिकाएं अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। पातंजलि के महाभाष्य में कात्यायन की वार्त्तिका के 1245 सूत्र सुरक्षित हैं और बहुत-सी कारिकाएं भी मिलती हैं। पातंजलि ने 'वररुचि काव्य' का भी अस्तित्व बतलाया है। कातंत्र व्याकरण का चतुर्थ भाग, प्राकृत प्रकाश, लिंगानुशासन, पुष्पसूत्र और वररुचि संग्रह भी कात्यायन के बताए जाते हैं। धर्मशास्त्र, श्रौतसूत्र, और यजुर्वेद प्रातिशाख्य भी कात्यायन के बताए जाते हैं। वेबर के अनुसार कात्यायन का समय 25 वर्ष ईसा पूर्व है। गोल्डस्टकर का द्वितीय शताब्दी के प्रथम भाग में, और मैक्समूलर का चतुर्थ शताब्दी के द्वितीय भाग में अनुमान है।

श्रीमेरुतुंगगाचार्य कृत 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' में लिखा है कि वररुचि उज्जैन के राजा विक्रमादित्य की लड़की 'प्रियंगुमंजरी' को पढ़ाते थे। एक बार कन्या ने गुरु के साथ हास्य किया। क्रोध में आकर वररुचि ने शाप दिया कि 'तू गुरु का उपहास कर रही है तुझे पशुपाल पति मिले।' कन्या ने कहा कि जो आदमी आपका गुरु होगा उसी से ब्याह करूंगी।

एक दिन वररुचि जंगल में घूमते-घूमते थक गए थे। पानी नहीं मिला। एक पशुपाल से पानी मांगा। पानी नहीं था। उसने कहा—भैंस का दूध पी लो और भैंस के नीचे बैठकर 'करचण्डी' करने को कहा। वररुचि ने किसी भी कोष में 'करचण्डी' शब्द नहीं पढ़ा था। पूछने पर पशुपालक ने दोनों हथेलियों को जोड़कर 'करचण्डी' नामक मुद्रा बताकर भैंस का दूध पिलाया। एक विशेष शब्द बताने के कारण वररुचि ने इस पशुपालक को अपना गुरु माना। राजप्रासाद में फिर ले आकर राजकन्या का पाणिग्रहण कराया। वह पशुपालक कालिका जी की

आराधना करने लगा कालिका के प्रत्यक्ष दर्शन होने पर उसे विद्या प्राप्त हुई और उसका नाम कालिदास हुआ। उसने कुमारसंभव प्रभृति ग्रन्थ लिखे। उक्त जैन ग्रन्थ के अनुसार विक्रम, वररुचि और कालिदास समकालीन थे।

पं० भगवद्दत्तजी ने अपने 'भारत का इतिहास' में आचार्य वररुचि को विक्रमादित्य का समकालीन होना सिद्ध किया है। उन्होंने प्रमाण भी दिए हैं जिनमें से कुछ यहां उद्धृत किए जाते हैं—

(1) वररुचि ने अपने आर्याछन्दोबद्ध एक ग्रन्थ के अन्त में लिखा है—

'इतिश्रीमदखिलवाग्विलासमण्डितसरस्वती-कण्ठाभरण-अनेक विशरण श्रीनरपतिसेवितविक्रमादित्यकिरीटकोटि निघृष्ट-चरणारविन्द आचार्य-वररुचि-विरचितो लिंग विशेष विधिः समाप्तः ॥'

अर्थात् आचार्य वररुचि महाप्रतापी विक्रम का पुरोहित था।

(2) आचार्य वररुचि अमरसिंह के पूर्वज अथवा समकालीन थे। अमर लिखता है :—

'समाहृत्यान्य तन्त्राणि, संक्षिप्तैः प्रति संस्कृतैः ॥'

इस पर टीका सर्वस्वकार लिखता है :—

व्याडि-वररुचि-प्रभृतीनां तन्त्राणि समाहृत्य ॥

(3) वररुचि के अनेक ग्रन्थ अब भी मिलते हैं। 'वाररुचनिरुक्त समुच्चय' ग्रन्थ स्कन्दस्वामी (सन् 630) से बहुत पहिले का है।

(4) धोयी अपरनाम श्रुतिधर जो राजा लक्ष्मणसेन का सभा पण्डित (वि० सं० 1173) था, लिखता है—

ख्यातो यश्च श्रुतिधरतया विक्रमादित्य गोष्ठी—
विद्याभर्त्तुः खलु वररुचेराससाद प्रतिष्ठाम् ॥ (सदुक्तिकर्णामृत, पृष्ठ 297)

(श्रुतिधर ने लक्ष्मणसेन की सभा में वही प्रतिष्ठा प्राप्त की, जोकि विक्रमादित्य की सभा में वररुचि ने की थी।)

इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि महाप्रतापी विक्रमादित्य का वररुचि से अवश्य सम्बन्ध था।

(8) धन्वन्तरि—धन्वन्तरि काशी के राजा दिवोदास बताए जाते हैं। संभव है जब महाराजों पर विजय पाकर विक्रमादित्य सम्राट् हुए हों तब काशीराज उनकी राजधानी उज्जैन में बुलाए जाकर सम्राट् की अन्तरंग सभा के सदस्य हुए हों। यह भी संभव है कि आयुर्वेद के प्रचार करने हेतु राजपाट अपने पुत्र को देकर काशीराज दिवोदास वृद्धावस्था में केवल वैद्यक शिक्षा प्रसार हेतु उज्जयिनी में बस गए हों।

ज्योतिर्विदाभरण में बताए गए नवरत्नों की कथा कपोल-कल्पना मात्र है, यह मान लेना ठीक नहीं है। यदि प्रसिद्ध विद्वानों के नामों को एकत्र करके नौ विद्वानों की सभा की कल्पना ही समीचीन थी तो ज्योतिर्विदाभरण का रचनाकार अन्य विद्वान्—पाणिनि, पतंजलि, भास और अश्वघोष का भी नाम ले सकते थे। परन्तु ये नाम न लेकर साधारण व्यक्ति घटखर्पर, शंकु, क्षपणक, वेतालभट्ट के नाम नवरत्नों में गिनाए गए हैं, जो अगर कल्पना ही है, तो अवश्य एक निम्न कल्पना का परिचय दिया है। वास्तव में, प्रतीत यह होता है कि ग्रन्थकार ने कल्पना को काम में न लेकर वस्तुस्थिति का सही वर्णन किया है।

सुश्रुत संहिता में धन्वन्तरि, दिवोदास और काशीराज एक ही व्यक्ति के नाम हैं। परन्तु विष्णुपुराण के अनुसार पुरुरवा के वंश में काशीराज के पोते धन्वन्तरि थे और धन्वन्तरि के पोते दिवोदास हुए थे। हरिवंश पुराण में लिखा है कि 'काश्य' के पड़पोते धन्वन्तरि और धन्वन्तरि के पड़पोते दिवोदास थे। सम्भव है यह तीनों ही बड़े भारी वैद्य हुए हों और एक कोई विक्रमादित्य के समकालीन और नवरत्न रहे हों। स्कन्द, गरुड़ और मार्कण्डेय पुराणों में धन्वन्तरि को त्रेतायुग में होना बताया है। धन्वन्तरि की माता का नाम वीरभद्रा था और वह जाति की वैश्य थी। गालव मुनि के प्रभाव से ऋषियों ने कुशों की एक मूर्ति बनाई और वीरभद्रा की गोदी में फेंक दी और वैदिक मंत्रों के बल से उस मूर्ति में जीवन-संचार किया गया। इसलिए वह वैद्य कहलाए। विष्णुपुराण में समुद्रमंथन की कथा में समुद्र से निकले रत्नों में धन्वन्तरि का आना बताया गया है। इस तरह एक ही पुराण में धन्वन्तरि के विषय में दो कथाएं हैं।

धन्वन्तरि ने अश्विनीकुमार की तीन कन्याओं (1) सिद्ध विद्या, (2) साध्य विद्या और (3) कष्टसाध्य विद्या को ब्याह लिया। और उनके सेन, दास, गुप्त, दत्त इत्यादि 14 पुत्र हुए। सम्भव है यह कथा केवल विद्या-प्राप्ति की कथा ही हो। सुश्रुत के अतिरिक्त उनके 100 शिष्य प्रसिद्ध हैं। 'भारतीय ओषधि के इतिहास' में डॉक्टर गिरीन्द्रनाथ मुकर्जी ने धन्वन्तरि प्रणीत दस ग्रन्थ बताए हैं।

ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार धन्वन्तरि ने चिकित्सा-तत्त्व-विज्ञान, दिवोदास ने चिकित्सादर्शन और काशीराज ने चिकित्सा कौमुदी निर्मित कीं। इसके अनन्तर धन्वन्तरि ने (1) अजीर्णामृतमंजरी, (2) रोग निदान, (3) वैद्य-चिन्तामणि, (4) विद्याप्रकाश चिकित्सा, (5) धन्वन्तरि निघंटु, (6) वैद्यक भास्करोदय, (7) चिकित्सा सारसंग्रह निर्मित किए। भारतीय आयुर्वेद पद्धति में धन्वन्तरि आदि गुरु हैं।

(9) आचार्य-वराहमिहिर—वराहमिहिर का काल 550 ई० बताया जाता है। उनकी मृत्यु ईसवी सन् 587 में बताई जाती है। वास्तव में वराहमिहिर के बृहत् संहिता में दिए गए शकाब्द के हिसाब से विद्वानों ने यह सिद्ध किया है

कि कालिदास और वराहमिहिर साथ नहीं हो सकते थे।

वराहमिहिर ने अपना जन्म-संवत् कहीं नहीं लिखा। अपना जन्म-स्थान और वंश-परिचय अवश्य दिया है। बृहज्जातक के उपसंहार में उन्होंने लिखा है कि अवन्ती के पास कपित्थ नाम के ग्राम में आदित्यदास के घर में उन्होंने जन्म लिया। कपित्थ (वर्तमान कायथा) उज्जैन से 11-12 मील पर उज्जैन-मक्सी-रोड-पर है और रियासत इन्दौर के अन्तर्गत है। श्लोक यह है —

आदित्यदास तनयस्तवाप्त बोधः कापित्थके सवितृलब्धवर प्रसादः।
आवन्तिको मुनिमतान्यवलोक्य सम्यग् होरां वराहमिहिरो रुचिरां चकार॥

शंकर बालकृष्ण दीक्षित के 'भारतीय ज्योतिप शास्त्राचा इतिहास' के अनुसार वराहमिहिर ने बृहत्-संहिता शक सं० 427 में लिखी है। श्री० एस० नारायण एय्यंगर ने स्वर्गीय प्रोफेसर सूर्यनारायण राव के मत का खण्डन करते हुए लिखा था कि 427 शालिवाहन शक न होकर विक्रम संवत् है। एक के मत के अनुसार वराहमिहिर विक्रम संवत् 427 में व दूसरे के मत के अनुसार विक्रम-संवत् 562 में हुए थे। हमारी राय में यह भी सम्भव है कि जो वर्ष वराहमिहिर ने लिखे हैं वह विक्रम या शालिवाहन के न होकर कोई दूसरे ही संवत् के हों। इसलिए जब तक बृहत्-संहिता के रचनाकाल के विषय में दूसरा प्रमाण न मिले, तब तक कोई निश्चित सम्मति प्रकट करना उचित नहीं होगा। यवनराज स्फुजिध्वज ने एक पुरातन शकाब्द का उल्लेख किया था।

'ज्योतिर्विदाभरण' को श्रीयुत् दीक्षितजी ने इसलिए जाली बताया है कि उसमें अयनांश निकालने की विधि दी गई है और वह भी वराहमिहिर के अनुसार। परन्तु क्या यह सम्भव नहीं है कि ग्रंथ कालिदास ने ही लिखा हो परंतु ग्रन्थ के आदि, मध्य और अन्त में समय-समय पर क्षेपक बढ़ते चले गए हों। जब तक 'ज्योतिर्विदाभरण' की मूल प्रति न मिले तब तक ग्रन्थ के विषय में और उसके अनुसार 'विक्रम के नवरत्नों' के विषय में यह कहना कठिन है कि यह कपोल कल्पना है।

वैज्ञानिकों में वराहमिहिर और आर्यभट्ट सरीखे प्रखर विद्वानों ने प्राचीन काल में भारत के नाम को उज्ज्वल किया है। वराहमिहिर के पिता आदित्यदास भी बहुत बड़े गणितज्ञ और ज्योतिषी थे और वराहमिहिर के पुत्र पृथुयशस भी विद्वान हुए हैं। पृथुयशस की 'षट्पंचाशिका' की टीका भी वराहमिहिर के टीकाकार महोत्पल ही ने की है। वराहमिहिर की बृहत्-संहिता, समास-संहिता, बृहज्जातक, लघुजातक, पंचसिद्धान्तिका, विवाहपटल, योगयात्रा, बृहत्यात्रा और लघुयात्रा प्रसिद्ध हैं।

पंचसिद्धान्तिका के अतिरिक्त शेष ग्रंथों की टीका दिग्गज विद्वान भट्टोत्पल

ने की है। पंचसिद्धान्तिका में वराहमिहिर ने लाटाचार्य, सिंहाचार्य, आर्यभट्ट, प्रद्युम्न और विजयनन्दी के मतों को उद्धृत किया है जो उनके पूर्ववर्ती विद्वान थे और जिनके नाम आज वराह के कारण ही सुरक्षित हैं। पैतामह, गार्ग, ब्रह्म, सूर्य और पौलिश सिद्धान्तों को भी वराहमिहिर ने ही सुरक्षित रखा है। वराहमिहिर की विद्या और उनका अगाध ज्ञान देखकर यह विचार होता है कि अवश्य ही उन्होंने देश-पर्यटन के साथ विदेशगमन भी किया था। यूनानी ज्योतिषियों के प्रति वराहमिहिर के बड़े सम्मान और आदर के भाव हैं, ऐसा बृहत् संहिता में इस श्लोक को वराहमिहिर के उद्धृत करने से पता चलता है—

म्लेच्छाहि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्।
ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्दैवविद्द्विजः॥

यवन (Ionians or Greeks) वास्तव में म्लेच्छ हैं परन्तु शास्त्र में पारंगत होने से वे ऋषियों के समान पूजित हैं फिर शास्त्र पारंगत द्विज तो देवता सरीखा पूजा का पात्र है।

डॉक्टर ए० बैरीडेल कीथ ने लिखा है कि वराहमिहिर कोरे गणितज्ञ, ज्योतिषी या वैज्ञानिक ही हों, यह बात नहीं है; उनकी भाषा इतनी प्रांजल और कविता इतनी रसिकता और माधुर्य लिये हुए है कि बड़े-बड़े कवियों की उपस्थिति में उनका स्थान बहुत ऊँचा रहेगा। पाठकों के मनोरंजनार्थ सप्तर्षियों की स्थिति पर वराहमिहिर की बृहत्-संहिता का निम्नांश हम यहां उद्धृत करते हैं, जिससे पता चलेगा कि साहित्य और विज्ञान का कितना सुन्दर सम्मिश्रण किया गया है। बृहत-संहिता में लिखा है—

'जिस प्रकार रूपवती रमणी गुंथे हुए मोतियों की माला और सुन्दर रीति से पिरोए हुए श्वेत कमलों के हार से अलंकृत होती है, उसी प्रकार उत्तर प्रदेश इन तारकों से अलंकृत है। इस प्रकार अलंकृत, वे कुमारियों के सदृश हैं जो ध्रुव के पास उसी प्रकार नाचती और घूमती हैं जिस प्रकार ध्रुव उनको आज्ञा देता है। मैं प्राचीन और सनातन गर्ग के प्रमाण से कहता हूं कि जब पृथ्वी पर युधिष्ठिर का राज्य था तो सप्तर्षि दसवें नक्षत्र मघा में थे और शककाल इसके 25-26 वर्ष उपरान्त है। सप्तर्षि प्रत्येक नक्षत्र में 600 वर्ष रहते हैं और उत्तर पूर्व में उदय होते हैं। सात ऋषियों में से जो उस समय पूर्व का शासन करता है वह मरीचि है। उसके पश्चिम में वसिष्ठ है। फिर अंगिरस, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, ऋतु और वसिष्ठ के समीप सती अरुन्धती है।'

यह दिखलाने के लिए कि आर्य ज्योतिषी बहुत पहले से पृथ्वी की आकर्षण शक्ति (Law of Gravitation) मानते थे, अलबेरूनी ने 'बृहत्-संहिता' को उद्धृत किया है।

वराहमिहिर का भूगोल, खगोल, इन्द्रायुध, भूकम्प, उल्कापात, वायुधारण, दिग्दाह प्रवर्षण, रोहिणी योग, ऋतु-परिवर्तन, वर्ष में धान्य और धान्य के मूल्य में घट-बढ़ी का ज्ञान अत्यन्त अगाध तो था ही और ज्योतिष गणित और फलित के वे पूर्ण पंडित भी थे। परन्तु अन्य विषयों का ज्ञान भी उनको बहुत था।

हीरा, पद्मराग, मोती और मरकत का बड़ा विशद् वर्णन उन्होंने अपने रत्न-परीक्षा नामक अध्याय में किया है। हीरा के क्रय-विक्रय के नियम आजकल Indian or Tavermies Rule or Rule of Square के नाम से प्रसिद्ध है। शुक्र नीति में बहुत पहिले लिखा गया था कि :—'यथा गुरुतरं वज्रं तन्मूल्यं रत्तिवर्गतः।' अर्थात् अगर एक वज्र (हीरा) वजन में 1 रत्ती है और उसका मूल्य 'क' है तो 4 रत्ती वाले हीरा का मूल्य '2 क' होगा।

गणितज्ञ होने के कारण वराहमिहिर ने इसे बहुत अच्छी तरह समझाया है। उनके समय में 8 सफेद तिल का 1 तन्दुल और ४ तन्दुल का 1 गुंजा माना जाता था। वे कहते हैं कि 'अगर 20 तन्दुल भारी हीरा का मूल्य 2 लाख रुपया होता है तो 5 तन्दुल वजनी हीरा 50,000 रुपये का नहीं हो सकता, क्योंकि यहां वर्ग-नियम लागू होगा और 5 तन्दुलवाले हीरा का मूल्य 2 लाख का (25×4) 100 वां हिस्सा =2000 रुपया ही होगा।'

इसी प्रकार मरकत, मोती और पद्मराग के मूल्य निर्धारित करने के नियम एवं उनके अच्छे चिह्न पहचानने के नियम दिए गए हैं। आजकल पीले हीरे भारत में नहीं होते और दक्षिणी अफ्रीका से ही आते हैं; परन्तु वराहमिहिर के समय में पीत हीरे भी यहीं पाए जाते थे। लाल, पीले, श्वेत और रंगहीन हीरों का वर्णन किया गया है :—'रक्तं, पीतं, सितं, शैरीषं।' इसके अनन्तर वृक्षायुर्वेद में वृक्षों के रोगों और ओषधियों का वर्णन है। पशुओं में गौ, अश्व, हाथी, कुक्कुट, कूर्म, छाग इत्यादि के लक्षण बताए हैं। कामसूत्र का भी सूक्ष्म विवरण है। वास्तुविद्या, प्रासाद-लक्षण, प्रतिमा-लक्षण और प्रतिमा-प्रतिष्ठापन पर अलग क्रियात्मक परिच्छेद हैं।

कई दवाइयां वज्रलेप के लिए बताई हैं, जिसके लगाने से एक पत्थर दूसरे पत्थर से सहस्रों वर्षों को चिपक सकता है। इन लेपों का बौद्धकालीन मन्दिर और चैत्यों में पर्याप्त उपयोग किया जाता था और इसलिए वे मन्दिर भलीभांति सुर-क्षित हैं।

एक अध्याय शस्त्रपान पर है जिसमें यह बताया है, कि हथियारों की धार पर सान किस तरह रखनी चाहिए जिससे थोड़े प्रयत्न से धार अत्यन्त तेज हो सके। एक अन्य अध्याय 'शिलादारण' पर है। चट्टानों को तोड़ने के लिए आज-कल बारूद की आवश्यकता होती है परंतु उस काल में कई ओषधियों का क्वाथ बनाया जाता था जो कई चूर्णों के साथ चट्टानों पर छिड़का जाता था जिसके

कारण चट्टान इतना गलने लगता है कि वह काटे-जाने योग्य हो जाता है। बृहत्-संहिता का 76वां अध्याय गंधी और अत्तारों के कार्य से सम्बन्धित है। बकुल, उत्पल, चम्पक, प्रतिमुक्तक के गन्ध किस प्रकार बनाने चाहिए और किस अनुपात से क्या-क्या वस्तु डालनी चाहिए, इसका विशद विवेचन है। लोष्ठक प्रस्तार (Mathematical calculus) से सहस्रों प्रकार की सुगन्धियां बनाने की पूरी विधि लिखी गई है। यही कारण है कि उज्जयिनी की बनी सुगंधित वस्तुएं, गंध, धूप एवं अनुलेपन की सामग्रियां बरोच होकर अलैक्जेंड्रिया होती हुई उन दिनों ग्रीस और यूरोप पहुंचकर अत्यन्त प्रसिद्धि पा रही थीं। क्रियात्मक रसायन (Applied chemistry) और देश की व्यापारिक अवस्था को सुधारने की इच्छा से लिखे हुए इस अध्याय का प्राचीन भारत के इतिहास में कम महत्त्व नहीं है।

प्रकाश के मूर्च्छन एवं किरणविघटन (Reflection of light) का भी अच्छा विवरण बृहत्-संहिता में मिलता है। आजकल 'एटम' (atom) और एलक्ट्रन (electron) परमाणु देखने में सबसे छोटी वस्तु (the minimum visible) मानी जाती है। वराहमिहिर के शिल्पशास्त्र में परमाणु तिरछी सूर्यकिरण की मोटाई को बताया गया है। परमाणु का हिसाब वराहमिहिर ने इस प्रकार बतलाया है—

8 परमाणु = 1 रजस। 8 रजस = 1 बालाग्र (बाल)। 8 बालाग्र = 1 लिक्ष। 8 लिक्ष = 1 यूक। 8 यूक = 1 यव। 8 यव = 1 अंगुली। 24 अंगुली = 1 हस्त।

आचार्य सर ब्रजेन्द्रनाथ सील ने लिखा है कि इस तरह पांचवीं शताब्दी में ही—जब ग्रीक गणित और विज्ञान अति साधारण था—एक हिंदू वराहमिहिर ने एक तिरछी पतली सूर्यकिरण की मोटाई की कल्पना कर ली थी। वराहमिहिर का उन दिनों का एक परमाणु वर्तमान इंच का साढ़े तीन लाखवां हिस्सा है। पाश्चात्य विज्ञान अभी तक इससे बहुत आगे नहीं जा सका।

वास्तव में आचार्य वराहमिहिर विद्वान, साहित्यिक कवि, वैज्ञानिक, ज्योतिषी एवं व्यापारिक रसायनज्ञ ही नहीं थे, वे उन महापुरुषों में थे जिनका नाम प्राचीन-भारत के निर्माताओं में सदा ही प्रमुख बना रहेगा। कोई भी सम्राट् उनको अपने नवरत्नों में स्थान देकर साम्राज्य को गौरवान्वित करने का प्रयत्न करता।

धर्माध्यक्ष

□ श्री सदाशिव लक्ष्मीधर कात्रे

संवत्-प्रवर्तक सम्राट् विक्रमादित्य वस्तुत: कौन व्यक्ति था, तथा किस समय विद्यमान था, इत्यादि समस्याओं पर आधुनिक विद्वान् संशोधक समय-समय पर अनेक मत प्रकट कर चुके हैं। ये सब मत अन्तत: परस्पर-भिन्न परिणामों पर पहुंचते हुए भी कुछ स्वल्प बातें मूलत: मान्य कर लेने में एकता रखते हैं, जैसे 'विक्रमादित्य' नाम का विरुद धारण करनेवाला एक प्राचीन भारतीय सम्राट् अत्यन्त प्रभावशाली था, उसका साम्राज्य अत्यन्त विस्तीर्ण था, उसकी (मुख्य, सामयिक या प्रादेशिक) राजधानी उज्जयिनी थी तथा उसकी ओर से कवियों एवं अन्य विद्वानों को अतिसमृद्ध आश्रय एवं पुरस्कार प्राप्त होता था, इत्यादि। विक्रमादित्य के शौर्य, पराक्रम, औदार्य, रसिकत्व आदि गुणों की असामान्यता का परिचय करने वाले अनेक उज्ज्वल सुभाषित प्राचीन साहित्य में मिलते हैं, उदाहरणार्थ—

बाणपूर्वकालिक हालसंगृहीत गाथासप्तशती, 5-64—

संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खम् ।
चलणेण विक्कमाइत्तचरियं अणुसिक्खियं तिस्सा ॥

बाणपूर्वकालिक सुबन्धुविरचित वासवदत्ता, प्रास्ताविक पद्य 10—

सा रसवत्ता विहता नवका विलसन्ति चरति नो कंकः ।
सरसीव कीर्तिशेषं गतवति भुवि विक्रमादित्ये ॥

ई० सन् 1050 से पूर्व विरचित सोढलकी उदयसुन्दरीकथा, प्रास्ताविक पद्य 10—

श्री विक्रमो नृपतिरत्र पतिः सभानामासीत्स कोऽप्यसदृशः कविमित्रनामा ।
यो वार्यमात्रमुदितः कृतिनां गृहेषु दत्वा चकार करटीवुघटान्धकारम् ॥

ई० सन् 1363 में संगृहीत शार्ङ्गधरपद्धति, पद्य 1249—

तत्कृतं यन्न केनापि तद्दत्तं यन्न केनचित् ।
तत्साधितमसाध्यं यद्विक्रमार्केण भूभुजा ॥

स्वाभाविक ही उसके आश्रित विद्वानों का समूह अति विशाल था । भिन्न-भिन्न आख्याओं तथा किंवदन्तियों के वर्णनानुसार उस समुदाय में समाविष्ट होनेवाले अनेक व्यक्तियों के नाम, जिनमें कालिदास, धन्वन्तरि, क्षपणक, अमरसिंह, शकु, वेतालभट्ट, घटकर्पर, वराहमिहिर और वररुचि तथा-कथति नवरत्न तथा सुबन्धु, मातृगुप्त, सिद्धसेन-दिवाकर इत्यादि सम्मिलित हैं, आज भी सुप्रसिद्ध हैं । आधुनिक इतिहासज्ञों के कथनानुसार इनमें से कुछ ही व्यक्ति संवत्-प्रवर्तक विक्रमादित्य के समकालीन होंगे कुछ नाम मध्यकालिक लोगों के मनगढ़न्त हैं, तथा कई व्यक्ति स्वयं ऐतिहासिक होते हुए भी विश्वसनीय प्रमाणानुसार विक्रमकालीन नहीं हैं ।

इस लेख का उद्देश्य एक ऐसे प्राचीन ग्रन्थकार का परिचय कराना है जो स्वयं सम्राट् विक्रमादित्य से अपना घनिष्ठ सम्बन्ध बताता है किन्तु जिसके विषय में आख्याएं एवं इतिहास प्राय: मौन हैं ।

शुक्लयजुर्वेन्दान्तर्गत माध्यंदिन शाखा के सुदीर्घ 'शतपथ' ब्राह्मण पर 'श्रुत्यर्थविवृत्ति'[1] नामक एक विस्तृत भाष्य है । यह भाष्य अत्यन्त गम्भीर, विद्वत्तापूर्ण एवं प्राचीन होते हुए भी केवल स्वल्प अंश में ही और वह भी अत्यंत अशुद्ध लिखी पोथियों के द्वारा, अब तक उपलब्ध हो सका है। इसके जो अंश[2] अब तक प्राप्त हुए हैं, वे दो-तीन बार इसी ब्राह्मण के अन्य भाष्यों के साथ ही भारत तथा जर्मनी में मुद्रित हो चुके हैं । कल्याण-बम्बई के लक्ष्मीवेंकटेश्वर मुद्रणालय से ई० सन् 1940 में प्रकाशित किया हुआ संस्करण सबसे नया तथा चालू है और इसी का उपयोग इस लेख में किया गया है। इस भाष्य का सायणाचार्य (ई० सन् 1353-1379) से प्राचीनतर होना प्राय: निश्चित है । किन्तु महान् आश्चर्य इस बात का है कि शतपथब्राह्मण के जिन अंशों पर यह भाष्य

---

1. अन्यत्र उद्धृत किये हुए श्लोक 3 के अन्तिम चरण में भाष्यकार ने इस समस्त पद का प्रयोग किया है, जिसका सीधा अर्थ है 'वेद के अर्थ का विवरण।' यह विशेष-नाम होना भाष्यकार ने ध्वनित नहीं किया है किन्तु भाष्य के संस्कर्ताओं ने मान लिया है ।

2. प्रथम काण्ड के सप्तम अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण से काण्ड-समाप्ति तक, चतुर्थ काण्ड के अन्तिम तीन अध्याय (4, 5, 6), अष्टम काण्ड के चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण से काण्ड-समाप्ति तक, द्वादश तथा त्रयोदश काण्ड के सब अध्याय ।

प्राप्त हुआ है, ठीक उन्हीं अंशों का सायणभाष्य आज उपलब्ध नहीं है ! सम्भव है कि 'श्रुत्यर्थविवृति' जिन अंशों पर उपलब्ध है, उन पर अपना नया भाष्य लिखना सायणाचार्य ने अनावश्यक समझकर छोड़ दिया हो।

'श्रुत्यर्थविवृति' भाष्य के रचयिता कोई हरिस्वामी नामक आचार्य हैं जैसाकि उपलब्ध अंश के प्रत्येक काण्ड, अध्याय और ब्राह्मण के अन्त में दी हुई निम्नलिखित प्रशस्ति से स्पष्ट है—

'इति 'श्रीमदाचार्यहरिस्वामिनः कृतौ शतपथभाष्ये……अध्यायः समाप्तः।' ……अथवा 'शतपथभाष्ये……अध्याये……ब्राह्मणम्।'

ये हरिस्वामी कई अध्यायों तथा कुछ ब्राह्मणों के अन्त में प्रशस्ति के पूर्व कुछ श्लोकों के द्वारा अपना अधिक परिचय देते हैं। इन श्लोकों की संख्या प्रायः तीन है तथा उनका पाठ साधारणतः इस प्रकार है—

नागस्वामिसुतोऽवन्त्यां पाराशर्यो वसन् हरिः।
श्रुत्यर्थं दर्शयामास शक्तितः पौष्करीयकः ॥ 1 ॥
श्रीमतोऽवन्तिनाथस्य विक्रमार्कस्य भूपतेः।
धर्माध्यक्षो हरिस्वामी व्याख्यच्छातपथीं श्रुतिम् ॥ 2 ॥
भूभर्त्रा विक्रमार्केण क्लृप्तां कनकवेदिकाम्।
दानायाध्याक्षः कृतवान् श्रुत्यर्थविवृतिं हरिः ॥ 3 ॥

कुछ स्थानों पर द्वितीय श्लोक के द्वितीय चरण का पाठ ठीक उसी अर्थ का 'विक्रमार्कक्षितीशितुः' 'विक्रमार्कस्य शासितुः' अथवा 'विक्रमादित्यभूपतेः' ऐसा भी पाया जाता है। भाष्य के चतुर्थ काण्ड के अन्तिम छठे अध्याय के, द्वादश काण्ड के नवों तथा त्रयोदश काण्ड के आठों अध्यायों में-से प्रत्येक के अवसान में ये तीनों श्लोक विद्यमान हैं। प्रथम काण्ड के सातवें, आठवें तथा नवम अध्याय के अवसान में केवल पहिले दो श्लोक ही दिखते हैं। तथा प्रथम काण्ड के आठवें अध्याय के पहिले तथा दूसरे ब्राह्मण के एवं इसी काण्ड के नवम अध्याय के भी पहिले तथा दूसरे ब्राह्मण के अवसान में केवल द्वितीय श्लोक ही दिखता है। अन्य उपलब्ध अंशों के अवसान में केवल उद्धृत की हुई प्रशस्ति ही पायी जाती है।

इन तीन श्लोकों के अर्थ का समन्वित विचार करने पर नीचे लिखे महत्त्वपूर्ण इतिहास की जानकारी हमें प्राप्त होती है। भाष्यकार आचार्य हरिस्वामी, जो पराशरगोत्री एवं नागस्वामी के पुत्र थे, मूलतः पुष्कर के निवासी थे किन्तु भाष्यरचना के समय उज्जयिनी में आ बसे थे। वे उज्जयिनी के भूपति (=सम्राट् ?) विक्रमादित्य के धर्माध्यक्ष थे। विक्रमादित्य राजा ने अपने दानव्यवसाय के लिए एक सुवर्णमय वेदिका (=उच्चासन) का निर्माण किया

था जिसके अधिष्ठाता भी ये हरिस्वामी ही थे। अर्थात् ये विक्रमादित्य के दानाध्यक्ष भी थे। विक्रमादित्य की राजसभा में इन दो महत्त्वपूर्ण पदों को सुशोभित करने के समय ही हरिस्वामी ने अपनी प्रतिभा से, अथवा अपने सामर्थ्यानुसार, शतपथब्राह्मणरूपी वेद के अर्थ का विवरण किया अर्थात् प्रस्तुत भाष्य रचा।

इन तीन श्लोकों का वर्णन यदि वास्तविक हो तो हमें इस प्रकार विक्रमादित्य की परमवैभवयुक्त शासनघटना में धर्माध्यक्ष तथा दानाध्यक्ष इन गौरवपूर्ण पदों का भार ग्रहण करनेवाले व्यक्ति का अवश्य ही पता लग जाता है। यद्यपि 'विक्रमादित्य' उपपद धारण करनेवाले राजाओं की अनेकता अब सिद्ध हो चुकी है तो भी हरिस्वामी का रुख मुख्य अर्थात् संवत्-प्रवर्तक माने जानेवाले सम्राट् विक्रमादित्य की ओर होने की सम्भावना श्लोकान्तर्गत अन्य सन्दर्भों से सबसे अधिक है। अत्यन्त खेद का विषय है कि भाष्य के प्रारम्भिक तथा अन्तिम अंश अब तक साधारणता से उपलब्ध नहीं हो सके हैं। जब वे अंश असंदिग्ध पाठों द्वारा प्राप्त हों तब सम्भवतः उनके अन्तर्गत उपोद्घात तथा उपसंहार के द्वारा भाष्यकार तथा उनके आश्रयदाता दोनों के सम्बन्ध में कुछ अधिक बातें भी ज्ञात हो सकें। यदि भारतवर्ष में स्थान-स्थान पर खोज की जाय तो हरिस्वामी का शतपथभाष्य सम्पूर्ण हस्तगत होने की सम्भावना आज भी पूर्ण है, क्योंकि अन्वेषकों के प्रयत्नों से प्राचीन साहित्य के अस्तंगत तारकों को पुनः प्रकाश प्राप्त होने के कई उदाहरण नित्य दृग्गोचर हो रहे हैं।

ज्योतिर्विदाभरणकार भी अपना नाम 'कालिदास' देकर एवं रघुवंश इत्यादि काव्यों के रचयिता से अपना एक-व्यक्तित्व बतलाकर ठीक इसी प्रकार विक्रमादित्य की राजसभा में अन्य कई व्यक्तियों के सहित अपना महत्त्वपूर्ण स्थान होने का विस्तृत निर्देश करता है, तथा अपना समय भी इस प्रकार लिखता है जो संवत्-प्रवर्तक सम्राट् के परम्परागत समय से पूर्णतया मिल जाता है। किन्तु उसके कथन में अज्ञान या अनवधानता के कारण कई प्रकार की विसंगति, कृत्रिमता तथा अयथार्थता आ गयी है[1] जिससे प्रायः वर्तमान इतिहासज्ञ उक्त

1. उदाहरणार्थ वराहमिहिर को जिसका समय स्वयं उसीके ग्रन्थों में मिलनेवाले तथा अन्य प्रमाणों से भी ई० सन् 505 के आसपास है एवं ई० सन् के चतुर्थ शताब्दी से पूर्व ही सुविख्यात दिखनेवाले कविकुलगुरु कालिदास से निश्चित ही अनन्तर का है, अपना समकालिक बताना, एक ज्योतिष घटना का, जो सुकुशल गणितज्ञों की गणनानुसार ई० सन् 1242 के आसपास होनी चाहिए, उल्लेख अपने ग्रन्थ में करना; भोजराजा (ई० सन् 1050 के आसपास) की धारानगरी का निर्देश अपनी रचना (अध्याय 22

कथन को लोगों की दृष्टि में धूलिप्रक्षेप करने के हेतु से किए हुए असत्य तथा असम्बद्ध प्रलापों से अधिक महत्त्व आज नहीं देते। हरिस्वामी के उपर्युक्त कथन के वास्तविक होने या न होने का निर्णय करने का कोई स्वतन्त्र अन्य साधन आज हमारे पास नहीं है। ऐसे साधन के अभाव में केवल विवेचक दृष्टि से ही देखा जाय तो हरिस्वामी ने ऐसी कोई बात इन तीन श्लोकों में नहीं कही है, जिसके ऐतिहासिक होने में सन्देह किया जाय। अजमेर निकटवर्ती पुष्करक्षेत्र में मूलतः रहनेवाले तथा शतपथब्राह्मण जैसे गहन श्रुतिभाग पर अत्यन्त गम्भीर भाष्य रचने की प्रतिभा रखनेवाले एक परम विद्वान् विप्र के उज्जयिनी में आकर सम्राट् विक्रमादित्य की शासनघटना में धर्माध्यक्ष तथा दानाध्यक्ष पदों पर स्थापित होने में अवास्तविकता कुछ भी प्रतीत नहीं होती। दानाध्यक्ष के बैठने

श्लोक 14) में करना, इत्यादि। देखिये—शंकर बालकृष्ण दीक्षितः—भारतीय ज्योतिषशास्त्राचा इतिहास (पूना 1931), पृष्ठ 212, 476; ए० बी० कीथ: A History of Sansrkit Literature (आक्सफर्ड, 1928) पृष्ठ 534 (जहां इस ग्रन्थ को ई० सन् के षोडश शताब्दी में सप्रमाण रखा गया है), इत्यादि। धार के कै० काशीनाथ कृष्ण लेले और कै० शिवराम काशीनाथ ओक दोनों ने मिलकर बम्बई के भूतपूर्व मराठी मासिक 'विविधज्ञानविस्तार' के ई० सन् 1922 के मार्च, अप्रैल तथा मई के तीन अंकों में 'कालिदास व विक्रमादित्य यांच्या कालनिर्णयाची एक दिशा' शीर्षक विस्तृत लेख प्रकाशित कर ज्योतिर्विदाभरण के उक्त स्थलों की सप्रमाणता सिद्ध करने का प्रयत्न किया था, किन्तु उनके विवेचन को प्रायः तज्ज्ञ संशोधकों ने ग्राह्य नहीं माना। इधर ई० सन् 1940 में भी श्रीयुत सदानन्द काशीनाथ दीक्षित ने कलकत्ता के Indian Culture त्रैमासिक के छठे वर्ष के दो अंकों में Chandragupta II, Sahasanka alias Vikramaditya शीर्षक विस्तृत निबन्ध लिखकर वराहमिहिर के सम्बन्ध में मिलनेवाले तथा ज्योतिर्विदाभरण में दिये हुए समयनिर्देशों का समन्वय करने की एक नयी युक्ति सुझाई थी, जिससे दोनों के समय ई० सन् 405 से 429 तक आ जाने की एवं ज्योतिर्विदाभरणकार के कथन की वास्तविकता सिद्ध होने की अपेक्षा वे करते थे। किन्तु उनकी नयी युक्ति की और उस पर आधारित विवेचन की निर्मूलता, असफलता तथा अग्राह्यता श्रीयुत के० माधवकृष्ण शर्मा ने पूना के Poona Orientalist त्रैमासिक के पांचवें वर्ष के चौथे अंक में प्रकाशित 'The Jyoturvidabharana and Nine Jewels' शीर्षक अपने लेख में अनेक प्रमाणों से सिद्ध की है।

के लिए सुवर्णमय वेदिका का निर्माण किये जाने की बात भी सम्राट् विक्रमादित्य के परम्परागत परमोच्च वैभव के वर्णन से पूर्णतया मिलती-जुलती है। इन तीन श्लोकों में हरिस्वामी ने न तो अपना समय निर्दिष्ट करने की ही चेष्टा की है न अपने पिता और आश्रयदाता के अतिरिक्त किसी अन्य समकालिक का उल्लेख ही किया है। भाष्य में उन्होंने यत्र-तत्र वैदिक संहिताएं तथा ब्राह्मण, निरुक्त, अष्टाध्यायी, कात्यायनश्रौतसूत्र, अनेक स्मृतिग्रन्थ, इत्यादि से उद्धरण दिये हैं। किन्तु प्रस्तुत लेखक को उनमें ऐसा एक भी स्थल अब तक नहीं मिला है जिसका मूल किसी अन्य ग्रन्थ में होने के कारण हरिस्वामी के कथन का खण्डन किया जा सके।

कुछ मुद्रित संस्करणों में इस भाष्य के कतिपय अध्यायों के अन्तिम प्रशस्ति का पाठ निम्नलिखित दिया गया है—

'इति श्रीसर्वविद्यानिधानकवीन्द्राचार्यसरस्वतीनां श्रीहरिस्वामिनां कृतौ माध्यंदिनीयशतपथब्राह्मणभाष्ये···काण्डे···अध्यायः समाप्तः।'

और इस पाठ पर से नये संस्करण के संशोधक महोदय की[1] ऐसी धारणा हुई दिखती है कि 'सर्वविद्यानिधानकवीन्द्राचार्यसरस्वती' यह हरिस्वामी की ही उपाधि है। जिन प्राचीन हस्तलिखित पोथियों के आधार पर प्रशस्ति का यह पाठ प्रथमतः छपा था, वे आज हमारे सामने नहीं हैं, तो भी सम्भवतः इस सम्बन्ध में मूल तथा नये संशोधकों का गहरा भ्रम हो जाने की कल्पना की जा सकती है। वस्तुतः[2] कवीन्द्राचार्यसरस्वती नामक एक असामान्य प्रभावशाली विद्वान् संन्यासी मुगल सम्राट् शाहजहां (ई० सन् 1650 के आसपास) के समकालिक थे। वे मूलतः गोदातीरनिवासी महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे किन्तु अनन्तर स्वयं काशी में आकर वहां के पण्डित-समाज के नेता बन गये थे। युवराज दारा शिकोह में संस्कृतविषयक अनुराग इन्होंने उत्पन्न किया था। शहाजहान की राजसभा में इनका असामान्य सम्मान था तथा उसी सम्राट् ने इनकी अप्रतिम विद्वत्ता से मुग्ध होकर इन्हें 'सर्वविद्यानिधान' उपाधि से गौरवित किया था। इन्हीं के प्रभावपूर्ण वक्तव्य के कारण शहाजहान ने काशी तथा अन्य

---

1. श्रीयुत श्रीधर अण्णाशास्त्री वारे का लक्ष्मीवेंकटेश्वर मुद्रणालय के संस्करण में जुड़ा हुआ संस्कृत उपोद्घात, पृ० 27।
2. 'कवीन्द्राचार्यसूचीपत्र' के साथ प्रकाशित कै० महामहोपाध्याय डॉ० सर गंगानाथ झा का प्राक्कथन तथा श्री आर० अनन्त कृष्ण शास्त्री का उपोद्घात, 'कवीन्द्रचन्द्रोदय' के संस्कर्ता कै० डॉ० हरदत्त शर्मा और श्री एम्० एम्० पाटकर इनका उपोद्घात, तथा अन्य विद्वानों के लेख देखिए।

तीर्थों की जनता को करभार से मुक्त कर दिया था। इस संस्मरणीय विक्रम के उपलक्ष्य में काशी के तत्कालिक सब प्रमुख पंडितों ने मिलकर इनके गौरव पर छोटी-बड़ी कई प्रशस्तियां रचकर इन्हें समर्पण की थीं जिनका संग्रह 'कवीन्द्रचन्द्रोदय' नाम से विख्यात है तथा ई० सन् 1939 में पूना से प्रकाशित भी हो गया है।[1] इसी अवसर के स्मारकरूप हिन्दी पद्यमय प्रशस्तियों का भी 'कवीन्द्रचन्द्रिका' नामक ग्रन्थ बनकर काशी के तत्कालिक हिन्दी कवियों द्वारा इन्हें समर्पित हुआ था जिसकी एक प्रति बीकानेर की अनूप-संस्कृत-लाइब्रेरी में वर्तमान है।[2] कवीन्द्राचार्य ने कई संस्कृत तथा हिन्दी ग्रन्थों की रचना भी की थी। किन्तु विचाराधीन प्रश्न की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्व का विषय है उनका प्राचीन ग्रन्थों का विशाल संग्रह। उक्त संग्रह में विविध विषयों के सहस्रों प्राचीन ग्रन्थ विद्यमान थे जिनके मुखपृष्ठ पर एक विशिष्ट हस्ताक्षर से लिखा हुआ—'श्रीसर्वविद्यानिधानकवीन्द्रा र्यसरस्वतीनां''' (= ग्रन्थ का नाम)। 'यह वाक्य मिलता है। यह वाक्य उन पोथियों पर कवीन्द्राचार्य का मूल स्वामित्व सूचित करता है, न कि उनके अन्तर्गत ग्रन्थों का कर्तृत्व जिसके सम्बन्ध में प्रत्येक पोथी के अन्त में भिन्न प्रशस्ति रहती ही है। कवीन्द्राचार्य के ग्रन्थसंग्रह की एक प्राचीन सूची बड़ौदा से कुछ वर्ष पूर्व प्रकाशित भी हुई है।[3] उस संग्रह के उपर्युक्त वाक्यांकित कई ग्रन्थ अब गवर्नमेण्ट संस्कृत लाइब्रेरी (सरस्वतीभवन) बनारस, अनूप-संस्कृत-लाइब्रेरी बीकानेर, गायकवाड ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट बड़ौदा, इत्यादि संस्थाओं में प्रविष्ट हो गये हैं तथा कुछ अब भी विभिन्न नगरों के प्राचीन विद्वत्कुलों के संग्रहों में दृग्गोचर होते हैं।[4] हो सकता है कि उसी

---

1. पूना ओरिएण्टल सीरीज, नं० 60।
2. प्रो० दशरथ शर्मा—शाहजहांकालीन कुछ काशीस्थ हिंदी कवि (नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष 47, अंक 3-4)।
3. गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज नं० 17। किन्तु इसमें ई० सन् 1650 के अनन्तर के कुछ ग्रन्थकारों की रचनाएं भी प्रविष्ट हुई दिखती हैं। अतः इस सूचीपत्र का कवीन्द्राचार्य के पश्चात् कई वर्ष अनन्तर बना हुआ मानना ही उचित होगा।
4. प्रस्तुत लेखक को ई० सन् 1941 में सागर (मध्यप्रान्त के) एक पण्डितकुल के संग्रह से ई० सन् 1557 में हरिदास के बनाए हुए 'प्रस्तावरत्नाकर' ग्रन्थ की मूलतः कवीन्द्राचार्य के स्वामित्व की एक पोथी प्राप्त हुई थी जो अब सिंधिया ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट, उज्जयिनी, के हस्तलिखित संग्रह में समाविष्ट कर ली गई है। इस पोथी के मुखपृष्ठ पर उसी परिचित हस्ताक्षर से लिखा हुआ '(श्रीसर्वविद्यानिधानकवीन्द्राचार्यसरस्वतीनां प्रस्तावरत्नाकरः)'

संग्रह की हरिस्वामी के शतपथभाष्य के किसी अंश की एक पोथी उसके मूल मुद्रण के समय अथवा किसी प्रतिलिपि के बनने के समय काम में लायी गई हो तथा सम्बन्धित संशोधकों ने अथवा प्रतिलिपिकर्ता ने ऊपर दिये हुए कवीन्द्राचार्य के इतिहास से अनभिज्ञ होने के कारण पोथी के मुखपृष्ठ पर दिखनेवाले 'श्रीसर्वविद्यानिधानकवीन्द्राचार्यसरस्वतीनां शतपथभाष्यम् ॥' इस वाक्य का अन्त में दिखनेवाली 'इति श्रीमदाचार्यहरिस्वामिनः कृतौ माध्यंदिनीयशतपथब्राह्मण-भाष्ये…काण्डे अध्यायः समाप्तः ॥' इस प्रशस्ति से समन्वय 'इति श्रीसर्वविद्यानिधानकवीन्द्राचार्यसरस्वतीनां श्रीहरिस्वामिनां कृतौ माध्यंदिनीय-शतपथब्राह्मणभाष्ये…काण्डे…आध्यायः समाप्तः ॥' ऐसी नयी मिश्रित प्रशस्ति बनाकर कर डाला हो ! 'सर्वविद्यानिधान' उपाधि से विभूपित किसी अन्य कवीन्द्राचार्य का अस्तित्व इतिहास को अथवा प्राचीन परम्परा को अब तक ज्ञात नहीं है । अतः मुद्रित संस्करणों में स्वल्प स्थानों पर ही दिखनेवाली इस प्रशस्ति की उपपत्ति इस प्रकार लगाना प्रायः अनुचित न होगा ।

कथासरित्सागर के विषमशीललम्बक नामक अन्तिम भाग के पांच तरंगों में आई हुई विक्रमादित्यकथा में उस सम्राट् से सम्बन्धित 'चन्द्रस्वामी', 'यज्ञस्वामी', 'देवस्वामी', इत्यादि व्यक्तियों के नाम आये हैं किन्तु 'हरिस्वामी' यह नाम दृष्टिगोचर नहीं होता। उस ग्रन्थ के अन्य भागों में आई हुई कथाओं में 'हरिस्वामी' नाम का एक व्यक्ति मिलता है किन्तु उसका विक्रमादित्य से कोई सम्बन्ध नहीं है तथा उसका विद्वान् ग्रन्थकार होना भी सूचित नहीं किया गया है। अतः उसका अपने हरिस्वामी स कुछ सम्बन्ध नहीं दिखता ।

ज्योतिर्विदाभरण में विक्रमादित्य के तथाकथित समकालिकों के निर्देश अध्याय 22 के निम्नोद्धृत तीन श्लोकों में किए हुए हैं—

'शंकुः सुवाग्वररुचिर्मणिरंगुदत्तो जिष्णुस्त्रिलोचनहरी घटकर्पराख्यः ।
अन्येऽपि सन्ति कवयोऽमरसिंहपूर्वा यस्यैव विक्रमनृपस्य सभासदोऽमी ॥8॥

सत्यो वराहमिहिरः श्रुतसेननामा श्रीबादरायणमणित्थकुमारसिंहाः ।
श्रीविक्रमार्कनृपसंसदि सन्ति चैते श्रीकालतन्त्रकवयस्त्वपरे मदाद्याः ॥9॥

यह वाक्य है तथा अन्त में ग्रन्थकार की अन्तिम प्रशस्ति 'इति श्रीकरण-कुलालंकारपुरुषोत्तमसूनुहरिदासविरचिते प्रस्तावरत्नाकरे ज्योतिःशास्त्रं समाप्तं ॥' एवं पोथी के लेखक की प्रशस्ति ॥ 'शुभमस्तु ॥ श्रीरस्तु ॥ संवत् 1713 (=ई० 1656) समये श्रावणशुक्लपंचम्यां लि० नन्दनमिश्रेण बल्लभकुलोद्भूतेन ।'॥ ।

धन्वन्तरिः क्षपणकामरसिंहशंकुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः ।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥10॥

श्लोक 8 के द्वितीय चरण में 'त्रिलोचनहरी' यह पद द्विवचनान्त होने से उसमें त्रिलोचन तथा हरि नाम के दो व्यक्तियों का निर्देश दिखता है। यदि ज्योतिर्विदाभरण प्राचीन कालिदास के ही कर्तृत्व का होता अथवा उसके ऐतिहासिक उल्लेख विविध विश्वसनीय प्रमाणों से बाधित न हुए होते, तो इस निर्देश व हरि से अपने हरिस्वामी का एक व्यक्तित्व मान लेने में कोई हानि नहीं थी। किन्तु, जैसा ऊपर संक्षेप में निर्दिष्ट किया गया है, इस ग्रन्थ की अर्वाचीनता तथा उसके ऐतिहासिक अंशों की अविश्वसनीयता अब कई विद्वानों ने सिद्ध कर दी है। अतः उसके उपर्युक्त निर्देश का अपने विवेचन में कोई विशेष उपयोग नहीं है।

अन्य विश्वसनीय साधनों से शतपथभाष्यकर हरिस्वामी के विषय में अधिक जानकारी प्राप्त करना एवं उनके विक्रमादित्य के धर्माध्यक्ष होने के कथन की सत्यासत्यता का निर्णय करना अत्यन्त आवश्यक है। आशा है कि विद्वान् संशोधक इस काम में सश्रम होंगे। यदि उक्त कथन की सत्यता निश्चित हुई तो अवश्य ही हरिस्वामी का विक्रमादित्य के धर्माध्यक्ष होना सिद्ध होगा। किन्तु आधुनिक इतिहासज्ञों की दृष्टि से संवत्संबन्धित विक्रमादित्य का विशिष्ट व्यक्तित्व तथा ई० सन् पूर्व 58-57 के आस-पास होना अभी सिद्ध हुआ है एवं हरिस्वामी ने भी अपना विशिष्ट समय इन तीन श्लोकों में किसी गणना से निर्दिष्ट नहीं किया है। ऐसी अवस्था में, किसी वैभवशाली सम्राट् विक्रमादित्य का अस्तित्व ऐतिहासिक प्रमाणों से ई० सन् पूर्व 58-57 के आस-पास निश्चित होने तक, हरिस्वामी को, यदि उनका कथन सत्य हो तो, द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (ई० सन् 413 के पूर्व) के अथवा स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य (ई० सन् 455-480) के धर्माध्यक्ष मान लेने में भी कोई हानि नहीं होगी। पराशर-गोत्री, मूलतः पुष्कर के रहने वाले तथा इस समय 'पुष्करना (पोखरना) परासरी' नाम से परिचित ब्राह्मणों के कुछ प्राचीन कुल आज भी उज्जयिनी में विद्यमान हैं। बहुत सम्भव है कि अपने हरिस्वामी इन्हीं के पूर्वजों में से हैं। अतः इन कुलों के वर्तमान पुरुष को चाहिए कि अपने घरों के प्राचीन विविध साहित्य को प्रकाश में लाकर उसके द्वारा हरिस्वामी के कथन की सत्यता यथासम्भव सिद्ध करने में तथा उनके आश्रयदाता विक्रमादित्य का विशिष्ट व्यक्तित्व, समय, इत्यादि समस्याओं को सुलझाने में पूर्ण सहयोग दें।

अन्त में इस विषय पर अन्य संशोधकों के किए हुए अन्वेषणों तथा उन पर से प्राप्त निष्कर्षों की स्वल्प समीक्षा करना उचित होगा।

औफ्रेश्तने शतपथभाष्यकार हरिस्वामी तथा कात्यायनकृत श्राद्धसूत्र के

भाष्यकार हरिहर इन दोनों का एक व्यक्तित्व मान लिया है।[1] किन्तु यह उनका भ्रम है। जैसा कि महामहोपाध्याय प्रो० पांडुरंग वामन काणे ने सप्रमाण दिखलाया है[2], पारस्कर के गृह्यसूत्र पर भाष्य लिखने वाले हरिहर ने ही कात्यायन के स्नानविधिसूत्र पर भाष्य लिखा है तथा दोनों भाष्यों के अन्तर्गत तथा अन्य प्रमाणों से भी उसका समय ई० सन् के 1150 से 1250 तक होना चाहिए। इस हरिहर का अपने हरिस्वामी से एक व्यक्तित्व दिखाने वाला कोई भी प्रमाण प्राप्त नहीं हुआ है।

पंजाब युनिवर्सिटी के प्राच्यविभाग के प्राध्यापक डॉ० लक्ष्मणसरूप ने प्रथम 1929 में निरुक्त के अपने संस्करण के 'सूची और परिशिष्ट'[3] वाले भाग के उपोद्घात के अंश में तथा अन्यत्र 1957 में 'झा-स्मारक ग्रन्थ' में प्रकाशित 'स्कन्दस्वामी का समय' शीर्षक[4] अपने लेख में इन हरिस्वामी के समय की चर्चा की है। उससे ज्ञात होता है कि बनारस की गवर्नमेण्ट संस्कृत लाइब्रेरी में हरिस्वामी के शतपथ की संवत् 1849 में लिखी (अर्थात् 152 वर्ष पुरानी) एक प्रति विद्यमान है, जिसमें भाष्यकार का समय एवं उनके पितामह तथा गुरु के नामों का निर्देश करने वाले, किन्तु मुद्रित संस्करणों एवं उनके आधारभूत हस्तलिखित पोथियों में दृष्टिगोचर न होने वाले, कुछ अतिरिक्त श्लोक मिलते हैं। उक्त प्रति डॉ० लक्ष्मणसरूप ने स्वयं नहीं देखी है किन्तु उन्हें उसके[5] निम्न-

---

1. Catalogus Catalogorum भाग 1, (लैप्जिग, 1891), पृष्ठ 762-63।
2. History of Dharmasashtra भाग 1, (पूना 1930), पृष्ठ 341-43।
3. Indices and Appendices to the Nirukta (लाहौर, 1929), पृष्ठ 29-30।
4. Date of Skandasvamin—The Commenoration Volume (पूना, 1937), पृष्ठ 399-410।
5. उक्त पोथी का विस्तार कितने पत्रों का है, उसमें समग्र शतपथब्राह्मण का अथवा उसके कुछ अंशों का ही भाष्य है, उद्धृत पांच श्लोक पोथी के किन पत्रों पर हैं, इत्यादि महत्त्व की बातों का स्पष्टीकरण नहीं किया गया है! लेखनकाल संवत् 1849 देने वाली पोथी लेखक की प्रशस्ति भी मूल शब्दों में उद्धृत नहीं की गई है!

लिखित पांच महत्त्वपूर्ण श्लोक उक्त पुस्तकालय के अध्यक्ष की ओर से प्राप्त हुए हैं--

नागस्वामी तत्र.........श्रीगुहस्वमिनन्दनः।
तत्र याजी प्रमाणज्ञ आढ्यो लक्ष्म्या समेधितः ॥5॥
तन्नन्दनो हरिस्वामी प्रस्फुरद्वेदवेदिमान्।
त्रयीव्याख्यानधौरेयोऽधीततन्त्रो गुरोर्मुखात् ॥6॥
यः सम्राट् कृतवान्सप्तसोमसंस्थास्तथर्क्श्रुतिम्।
व्याख्यां कृत्वाध्यापयन्मां श्रीस्कन्दस्वाम्यस्ति मे गुरुः ॥7॥
श्रीमतोऽवन्तिनाथस्य विक्रमस्य क्षितीशितुः।
धर्माध्यक्षो हरिस्वामी व्याख्यां कुर्वे यथामति ॥8॥
यदादीनां (= यदाब्दानां) कलेर्जग्मुः सप्तत्रिंशच्छतानि वै।
चत्वारिंशत्समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम् ॥9॥

इन श्लोकों के अनुसार हरिस्वामी के पितामह का (अर्थात् नागस्वामी के पिता का) नाम गुहस्वामी था तथा गुरु का नाम स्कन्दस्वामी था। स्कन्दस्वामी वेदों के प्रकाण्ड विद्वान् तथा वैदिक यज्ञकाण्ड के सभी विभागों में अनुभव से निष्णात थे तथा उन्होंने ऋक्संहिता की व्याख्या भी रची थी।[1] पूर्वोक्त तीन श्लोकों की तरह ये श्लोक भी हरिस्वामी के इस विशेष को विशिष्ट रूप से प्रस्तुत करते हैं कि सर्वत्र दिखने वाला लक्ष्मी और सरस्वती का सहज वैरभाव उनके उदाहरण में अस्तित्व नहीं रखता था। धुरन्धर विद्वान् होते हुए वे समृद्ध सम्पत्तिशाली भी थे। अन्तिम श्लोक के सरल अर्थ के अनुसार हरिस्वामी ने शतपथभाष्य की रचना कलियुग के 3740 वर्ष समाप्त होने पर की।

यदि इन पांच श्लोकों में विश्वसनीयता हो तो अवश्य ही हरिस्वामी के समय का निर्णय हो जाता है तथा अंतिम श्लोक के सीधे अर्थ के अनुसार ईस्वी सन् के 53वें वर्ष में उनके शतपथभाष्य का रचा जाना मान लेना पड़ता है, क्योंकि कलि का प्रारम्भ ख्रिस्तपूर्व 3102 के फरवरी के दिनांक 18 से माना जाता है। यह समय विक्रम-संवत् के प्रारम्भ से प्रायः 695 वर्ष अनन्तर का है तथा 'विक्रमादित्य' उपपदधारी गुप्तवंशीय विख्यात सम्राटों से भी अनन्तर का है। अत समयनिर्देशक श्लोक के सीधे अर्थ के आधार पर हरिस्वामी का आश्रय-दाता किसी और विक्रमादित्य को ही मानना पड़ेगा। किन्तु इस समयनिर्देशक

---

1. ऋक्संहिता के प्रारम्भ के तीन अष्टकों का स्कन्दस्वामीकृत भाष्य त्रिवेन्द्रम् से कुछ वर्ष पूर्व उपलब्ध होकर अब मुद्रित भी हो गया है। सम्भवतः इसी भाष्य के रचयिता स्कन्दस्वामी हरिस्वामी के गुरु थे।

श्लोक के सरलार्थ की विश्वसनीयता तथा उस पर से डॉ० लक्ष्मणसरूप ने निकाले हुए निष्कर्ष सब ऐतिहासिक प्रमाणों के विरुद्ध हैं जैसा कि नीचे दिखाया जायगा।

प्रथम लेख लिखने के समय तो डॉ० लक्ष्मणसरूप इस भ्रम में थे कि कलियुग का प्रारम्भ ई० सन् पूर्व 3202 से होता है! इस भ्रान्त कल्पना के आधार पर गणित करने पर उक्त श्लोक में दिया हुआ समय ई० सन् का 538वां वर्ष निकला और डॉ० महोदय ने ई० सन् 528 के आस-पास हूणाधिपति मिहिरकुल को गहरा पराजय देने वाले मालवे के एक प्रबल राजा यशोधर्मन् से हरिस्वामी के विक्रमादित्य का एक-व्यक्तित्व मान लिया! किन्तु कुछ समय के पश्चात् अन्य संशोधकों के लिखने पर उन्हें सूझ आई कि यथार्थ में कलि का प्रारम्भ ई० सन् पूर्व 3202 से नहीं किन्तु 3102 से होता है तथा इस हिसाब से उक्त श्लोक में निर्दिष्ट समय ई० सन् के 638वें वर्ष से ऐक्य पाता है। इतिहास के अनुसार इस समय के आस-पास उज्जयिनी में किसी विक्रमादित्य का होना पूर्णतया असम्भव है, क्योंकि कन्नौज का हर्षवर्धन ई० सन् 606 से 648 तक निर्विवाद रूप से समग्र उत्तरी भारत का सम्राट् था एवं सब ऐतिहासिक प्रमाण इस पक्ष में हैं कि प्रभाकरन, राज्यवर्धन इन तीनों की विजय परम्परा से मालवे का स्वतंत्र अस्तित्व ही इस समय तक पूर्णतया नष्ट हो चुका था और पूर्व तथा पश्चिम मालव दोनों कन्नौज-साम्राज्य के घटक प्रान्त बन गये थे। ऐसी अवस्था में समय-निर्देशक श्लोक उसके सीधे अर्थ के अनुसार एक निरर्गल प्रलाप से अधिक महत्त्व नहीं रखता तथा उस पर आधारित सब निष्कर्ष अन्तरिक्ष में लीन हो जाते हैं। किंतु जान पड़ता है कि हरिस्वामी को यशोधर्मन् की ही राजसभा में बैठाने का बीड़ा डॉ० लक्ष्मणसरूप उठा चुके थे। अतः उन्होंने उनके उपरिनिर्दिष्ट दूसरे लेख में इन कठिनाइयों का सामना इस श्लोक के विद्यमान पाठ को अशुद्ध बताकर उसके लिए केवल अपनी कल्पना से निम्नलिखित नवीन पाठ सुझाते हुए किया—

यदाब्दानां कलेर्जग्मुः षट्त्रिंशच्छतकानि वै।
चत्वारिंशत्समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम्॥

जिससे भाष्यरचना का समय ठीक सौ वर्ष पीछे ई० सन् 538 में अर्थात् यशोधर्मन् के शासनकाल में आ जाय! उन्होंने इस सम्बन्ध में यशोधर्मन् का पक्षपात यह कहकर भी किया है कि हरिस्वामी के विक्रमादित्य का 'अवन्तिनाथ' यह विशेषण केवल मालवे या मध्यभारत का आधिपत्य करने वाले यशोधर्मन् को ही लागू पड़ता है न कि द्वितीय चन्द्रगुप्त को, जो समग्र उत्तरी भारत का सम्राट् था।

वस्तुतः अपने मत की सुगमता के लिए किसी प्राचीन ग्रन्थ में दिखने वाले

पाठ को केवल कल्पना के आधार पर बदलना शास्त्रीय संशोधन से सम्मत नहीं है। अच्छा होता कि डॉक्टर महोदय समय निर्देशक श्लोक को असमर्थित एवं अविश्वसनीय कहकर छोड़ देते। उनका यह कथन भी कि 'अवन्तिनाथ' यह विशेषण यशोधर्मन् के अतिरिक्त अन्य किसी विक्रमादित्य को लागू नहीं होता, कुछ महत्त्व नहीं रखता : 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। संवद्-प्रवर्त्तक समझे जाने वाले मूल विक्रमादित्य का वर्णन सब प्राचीन कथाएं, इस बात को पूर्णतया ध्यान में रखते हुए कि वह समग्र भारत का सम्राट् था, 'अवन्तिनाथ' वा तत्सदृश से ही मुख्यतया करती हैं, क्योंकि उनके अनुसार उसकी राजधानी उज्जयिनी थी। भोज को भी सर्वत्र 'धाराधीश' इसी रीति के अनुसार कहा जाता है। वैसे ही देखा जाय तो 'अवन्तिनाथ' विशेषण यशोधर्मन् के वर्णन में भी अव्याप्ति-दोष से युक्त है, क्योंकि देशपुर (मन्दसौर) इत्यादि अनेक स्थान जो कि उज्जयिनी से सौ मील से भी अधिक दूरी पर हैं, उसके आधिपत्य में थे। अथच, हरिस्वामी अपने आश्रयदाता का निर्देश केवल 'विक्रमादित्य' नाम से करते हैं, वे उसका कोई दूसरा नाम होना ध्वनित भी नहीं करते। यशोधर्मन् का इस, अथवा अन्य किसी, विक्रमादित्य से एकव्यक्तित्व मान लेने में और कई गम्भीर बाधाएं उपस्थित होती हैं। उसने उसके अब तक उपलब्ध हुए तीन शिलालेखों में, जिनमें मन्दसौर का स्तम्भगत ई० सन् 532 का लेख अत्यंत विख्यात है, अपना, अपने पराक्रम का तथा अपने साम्राज्य-विस्तार का वर्णन बड़े-बड़े आत्मश्लाघात्मक विशेषणों से किया है, किंतु अपने को 'विक्रमादित्य' उपपदधारी कहीं ध्वनित भी नहीं किया है। यदि वह वस्तुतः 'विक्रमादित्य' उपपदधारी होता तो उसने जिस प्रकार अपने नाम के साथ 'राजाधिराज', 'परमेश्वर' इत्यादि विरुदों का उपयोग किया है, उसी प्रकार 'विक्रमादित्य' उपपद का भी स्पष्ट रीति से किया होता। एवं यशोधर्मन् का हरिस्वामी के, अथवा अन्य किसी, विक्रमादित्य से विद्यमान अवस्था में ऐक्य सिद्ध नहीं हो सकता। डॉ० लक्ष्मणसरूप से पूर्व भी कुछ भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने अनेक प्रचलित आख्यायिकाओं के अनुसार कालिदास, मातृगुप्त, प्रवरसेन, इत्यादि व्यक्तियों से सम्बन्धित विक्रमादित्य का ऐक्य यशोधर्मन् से संस्थापित करने का प्रयत्न किया था। किंतु यशोधर्मन् के 'विक्रमादित्य' उपपदधारी होने के प्रमाण के अभाव में उनके यत्न में भी असफलता रही।

डॉ० लक्ष्मणसरूप द्वारा प्रस्तुत किए हुए पांच श्लोकों की, विशेषतः समय निर्देशक अंतिम श्लोक की, विश्वसनीयता अथवा अविश्वसनीयता का निर्णय करने वाला कोई स्वतन्त्र साधन इस लेखक के पास आज नहीं है। किंतु जो विवरण प्राप्त हुआ है, उससे इनकी विश्वसनीयता संदिग्ध अवश्य हो जाती है। श्री० सत्यव्रत सामश्रमी ने कलकत्ता से 'बिब्लिओथिका इण्डिका' ग्रन्थमाला द्वारा

तथा अन्य संशोधकों ने अन्य स्थानों से शतपथभाष्य के जो संस्करण निकाले हैं, उनमें केवल पूर्वोक्त तीन श्लोक ही मिलते हैं, इन पांच श्लोकों का पता नहीं है। उन संस्करणों के आधारभूत हस्तलिखित पोथियों में कवीन्द्राचार्य के संग्रह की भी एक पोथी होना प्रतीत होता है जो कम-से-कम तीन सौ वर्ष पुरानी होनी चाहिए तथा जिसकी विश्वसनीयता इस एक सौ बावन वर्ष पुरानी पोथी से अधिक होनी चाहिए। अर्थात् इन श्लोकों को प्रस्तुत अवस्था में असमर्थित ही मानना पड़ता है।

वस्तुस्थिति जो कुछ भी हो, हरिस्वामी का रुख, जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट किया जा चुका है, मुख्य अर्थात् संवत्-प्रवर्त्तक माने जाने वाले 'विक्रमादित्य' की ओर ही होना प्रतीत होता है। और इस दृष्टि से विचार किया जाय तो उक्त समय निर्देशक श्लोक का अर्थ, उपस्थित पाठ को लेशमात्र भी परिवर्तित न करते हुए किंतु केवल पदच्छेद और अन्वय निम्नलिखित रीति से करते हुए, अधिक समीचीन किया जा सकता है—

यदाब्दानां (—यदाब्दानां) कलेर्जग्मुः सप्त त्रिंशच्छतानि वै।
चत्वारिंशत्समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम् ॥

(अन्वय—यदा कलेः अब्दानां त्रिंशच्छतानि, सप्त, अन्याः चत्वारिंशत् समाः च जग्मुः वै तदा इदं भाष्यं कृतम् ॥)

'सप्त' और 'त्रिंशच्छतानि' इन पदों को पृथक् मानने पर समग्र वर्ष संख्या कलि के प्रारम्भ से 3047 होती है, 3740 नहीं। यह लेख लिखने के समय कलि वर्ष 5046 तथा विक्रम-संवत् का वर्ष 2001 चालू है। अर्थात् कलि वर्ष 3045 में विक्रम-संवत् का प्रादुर्भाव हुआ था। इसी अर्थ के अनुसार हरिस्वामी अपने शतपथभाष्य की रचना विक्रम-संवत् के तीसरे वर्ष के आस-पास, अर्थात् संवत्-प्रवर्त्तक मूल विक्रमादित्य के ही शासनकाल में पूर्ण होना सूचित करते हैं।

विचाराधीन श्लोक का भिन्न अर्थ करने की जो नवीन युक्ति ऊपर सुझाई गई है, उसमें न तो किसी विद्यमान पाठ का ही गला घोंटा गया है न संस्कृत व्याकरण के किसी नियम का ही भंग किया गया है। श्लोक के रचयिता का भी अभिप्रेत अर्थ यही प्रतीत होता है। तो भी वर्तमान अवस्था में यह कहना असम्भव है कि श्लोक में इस अर्थ के अनुसार किया हुआ विधान वस्तुस्थिति पर आधारित है अथवा ज्योतिर्विदाभरण के समय निर्देश के सदृश केवल कल्पना से गणित की सहायता से किया गया है। यद्यपि मुझे इस विधान को निरस्त करने वाला कोई अन्तर्गत प्रमाण हरिस्वामी के भाष्य में अभी तक नहीं मिला है तो भी इस बात का विस्मरण नहीं किया जा सकता कि समय निर्देशक तथा अन्य चार श्लोक अब तक केवल एक ही पोथी में उपस्थित हैं। यदि कालान्तर से

भाष्य की अन्य प्राचीन प्रतियां प्रकाश में आयें तथा यह समय निर्देशक श्लोक अन्य प्रमाणों से अप्रामाणिक सिद्ध न होकर उनके द्वारा समर्थित हो तो संवत्-प्रवर्तक मुख्य विक्रमादित्य का अस्तित्व आज से दो सहस्र वर्ष पूर्व होना सिद्ध करने में वह सबसे बलवान् समकालिक प्रमाण ही बैठेगा।

इस विषय की विद्वानों द्वारा अधिक गवेषणा की आवश्यकता है, उसके पश्चात् ही किसी निश्चित तथा अंतिम निर्णय पर पहुंचा जा सकता है।

विक्रम

□ श्री सियारामशरण गुप्त

युगसहस्र वर्षान्त-प्रसारित
काल-स्रोत के इस तट पर
विजयी विक्रम की गाथा में
ध्वनित आज कवि का जो स्वर—,
मानस-क्षिप्रा की लहरों में
उमंग उठा वह उल्लासी,
उस सुदूर में महाकाल के
पदस्पर्श का अभिलाषी,
नूतन साके के प्रभात में
फहरा जो जयकेतु वहां,
बरसी जिस पर अरुण-कलश की
अभिषेकोदक - धारा - सी।
किस अनन्त में है वह, उसकी
आती यह फहराहट भर,
युग सहस्र वर्षान्त-प्रसारित
काल-स्रोत के इस तट पर!

□□

राजशेखर व्यास
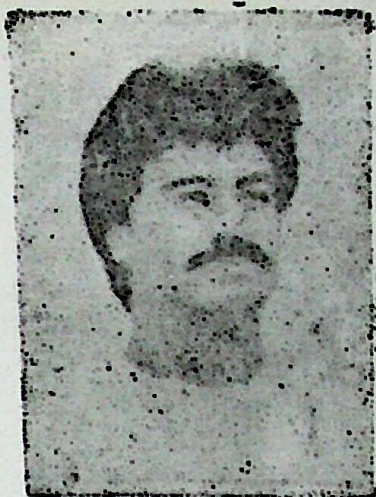
[illegible] छोटी उम्र मे एक बहुत बड़ा नाम, और नाम से भी [illegible] महत्वपूर्ण काम। अब तक लगभग बयालीस स[illegible] कृतियो का लेखन, सयोजन-सपादन, ज्यादातर प्र[illegible], चर्चित।

[illegible] विधाओ पर कार्य जिन पर इस वय मे लोग सोच भी नही पाते है। सस्कृत, ज्योतिष, दर्शन, धर्म, आध्यात्म से लेकर मार्क्स, लेनिन कोई भी विषय तो छूटा नही राजशेखर व्यास से।

उग्र, भगत सिह, प्रो० हृदय, पं० व्यास, भगवतशरण उपाध्याय और प्रभाष जोशी पर महत्वपूर्ण कार्य। शोध-अनुसधान। चर्चित कृतियो मे—मेरी कहानी, इन्कलाब, उग्र के सात रग रत्न, विहान, कुण्डली कोष, कालिदास, चिन्तन, भगत सिह ने कहा था, कालिदास और समकालीन, प्रभाष जोशी की कलम से वसीयतनामा यादें, आवारा, उग्र के अग्रलेख, उग्र के पत्र और अब 'विक्रम'।

देशभर की सभी प्रमुख पत्र-पत्रिकाओ मे अब तक सैकड़ो की संख्या मे लिखे महत्वपूर्ण लेख प्राय. सभी भाषाओ म अनुवादित होकर पहुँच रहे है। अकेले भगत सिह पर हिन्दी, अंग्रेजी, पंजाबी, मराठी, गुजराती मे लगभग 500 लेख प्रकाशित।

दूरदर्शन' के प्रमुख हिन्दी कार्यक्रम पत्रिका और 'साहित्यिकी' के वर्षों चर्चित लेखक प्रस्तोता। हिन्दी वीडियो मैग्जीन 'कालचक्र' म भी सक्रिय भूमिका।

आज तक, आजकल मुक्त लेखन, कोई नौकरी नहीं की। वय जानना चाहेगे आप? पद्मभूषण स्व० प० सूर्यनारायण व्यास के सबसे छोटे सुपुत्र राजशेखर व्यास की वय है इस वक्त 28 वर्ष!